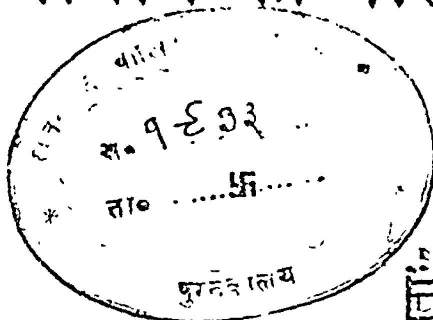
विद्यापति-काव्यालोक

नरेन्द्रनाथदास विद्यालंकार

मैथिली-काव्यमाला—प्रथम पुष्प

विद्यापति-काव्यालोक



लेखक

श्री नरेन्द्रनाथ दास

विद्यालंकार

卐

मूल्य—सजिल्द २॥), अजिल्द २)

प्रकाशक
मित्र-मंडल,
लहेरियासराय (दरभङ्गा)

प्रथम संस्करण—१०००, १९३७ ई०

मुद्रक
शिवनन्दन कंठ,
राज प्रेस, दरभङ्गा।

विषय-सूची





पूज्य पितृव्य

स्वर्गीय बाबू हरिनन्दन दासजी

की पवित्र स्मृति में

जिनके स्नेह-सिञ्चन से मेरा जीवन-तरु फूला-फला

सादर सविनय उत्सर्गांकित

नरेन्द्र

श्रीगणेशाय नमः

वक्तव्य

श्री जगदीश्वरी की असीम अनुकम्पा से 'विद्यापति-काव्यालोक' ग्रन्थ को लेकर आज मैं हिन्दी-संसार के समक्ष उपस्थित हो सका हूँ। बिहार की विभूति 'महाकवि विद्यापति' के काव्य-जगत् के लिये इस 'आलोक' की कितनी आवश्यकता थी, इसका वे ही महानुभाव अनुमान कर सकेंगे जो इस ग्रन्थ को आदि से अन्त तक एक बार पढ़ने का कष्ट उठावेंगे। विद्यापति के समान सारस्वत वैभव-सम्पन्न कवि की सर्वतोव्यापिनी कल्पना, भावुक प्रेमोच्छ्वास, उच्चादर्श तथा मधुर राग-रागिणियों में ढले हुए पदों के अलौकिक झंकार आदि गुणों से हिन्दी-संसार अभी तक यथार्थतः पूर्ण परिचय नहीं प्राप्त कर सका है; यही कारण है कि उनके विषय में अनेक निराधार कल्पनायें गढ़ी जा रही हैं।

यह बात अब छिपी न रही कि विद्यापति बंगाली नहीं, बिहारी थे। उनका जन्म दरभंगा जिले के बेनीपट्टी थाने के बिस्फी ग्राम में हुआ था। उनके जन्म-मरण की यथार्थ तिथि का कोई विवाद-शून्य प्रमाण नहीं मिल सका है। यद्यपि वह सर्वदा के लिये विस्मृति के गर्भ में प्रायः विलीन हो गई है तथापि जो कुछ भी अनुसन्धान से तद्विषयक प्रमाण उपलब्ध हो सके हैं उनके आधार पर विद्वानों ने यह निर्णय किया है कि चौदहवीं शताब्दि में विद्यापति ने जन्म ग्रहण किया था। विद्यापति की जीवनी पर विशिष्ट विद्वानों ने बहुत-कुछ प्रकाश डाला है; परन्तु उनके समयादि के निर्णय में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। उनकी जीवनी और समयादि के वाद-विवाद पर यदि यहाँ प्रकाश डाला जाता तो वह विषय ही खासा एक ग्रन्थ का रूप धारण कर लेता। अभी कुछ दिन हुए डाक्टर उमेश मिश्र, एम. ए., प्रोफेसर, इलाहाबाद-युनिवरसिटी ने विद्यापति की जीवनी के विषय में एक ग्रन्थ लिखा है जो हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ है। उस ग्रन्थ की उपादेयता तब और अधिक बढ़ जाती जब वे अन्य विद्वानों द्वारा दिये गये समयादि का उल्लेख करते हुए अपना मत प्रतिपादित करते। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया है। उनके दिये हुए समयादि की समालोचना भी पत्र-पत्रिकाओं में हो चुकी है। इस हेतु इस विवादास्पद विषय की चर्चा मैंने इस ग्रन्थ में नहीं की है। मेरी बड़ी इच्छा है कि महाकवि विद्यापति की समस्त कृतियाँ ग्रन्थावली के रूप में प्रकाशित हों। एक भाग में उनकी समस्त संस्कृत-रचनाओं को स्थान दिया जाय और दूसरे भाग में उनकी भाषा-रचनाओं का विस्तृत टीका-टिप्पणी के साथ संग्रह रहे। यदि साधन उपलब्ध होसका, यदि कोई उत्साही प्रकाशक अथवा किसी धनी-मानी विद्यापति-प्रेमी ने इस पावन कार्य्य में मुझे प्रोत्साहित करने की कृपा की, तो विद्यापति की जीवनी आदि समस्त विषयों पर पूरा प्रकाश उस ग्रन्थ में मैं देना चाहता हूँ। विद्यापति के उन पदों में जहाँ उन्होंने सुन्दर चित्र उरेह डाला है उनका तिरंगा चित्र भी देने की इच्छा है। उन मधुर भाव-चित्रों को चित्रित कर देने का वचन भी प्रसिद्ध चित्रकार मित्रवर श्रीयुत उपेन्द्र महारथीजी

में मुझे मिल गया है। देखना है कि सर्वशक्तिमान् भगवान् वह दिन कब दिखलाते हैं।

मैथिल-कवि-कोकिल की काकली बचपन से ही मेरे कर्ण-कुहरों में अमृत की वर्षा कर मुझे आनन्दनिमग्न कर रही थी। मैं अपने जीवन के किशोर-काल से ही उनकी कविता-काकली से मंत्र-मुग्ध हो गया, विद्यापति का अनन्य प्रेमी बन गया। पूज्यपाद पिता कविवर मुन्शी श्रीयुत रघुनन्दन दासजी द्वारा संगृहीत पुस्तकालय में डाक्टर जी. ए. ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित *Maithil Chrestomathy* की एक प्रति सुरक्षित थी। पहले-पहल उसी ग्रन्थ में संकलित विद्यापति के पदों को पढ़ने का सुअवसर मेरे हाथ आया। उनकी पदावली की सुमधुर झंकार ने मेरे मन को बरबस मंत्रमुग्ध कर लिया और उसकी अलौकिक प्रतिध्वनि मेरे प्राणों में गूँज उठी। उस ग्रन्थ में संकलित पदों को मैं एकान्त में पढ़ा करता था और उनके भाव-सौकुमार्य्य पर मेरे अंग-अंग पुलकित हो उठते थे। मेरे जीवन के विकास के साथ-साथ उनकी कविता का अधिकाधिक रसास्वाद लेने की मुझे चाट-सी लग गई। विद्यापति-सम्बन्धी साहित्य की ओर मेरी अभिरुचि अनुदिन बढ़ती ही गई और मैं उनको ढूँढ़-ढूँढ़ कर मनन करने लगा।

जिस समय मैं कालेज में पढ़ रहा था, स्वर्गीय बाबू उदितनारायण दास जी बी. ए., बी. एल., काव्यतीर्थ के सम्पादकत्व में 'श्री मैथिली' नाम की एक पत्रिका मैथिली भाषा में प्रकाशित हुई। उस पत्रिका के द्वितीय अंक में स्वर्गीय पण्डित चन्दा झा द्वारा संगृहीत विद्यापति-विरचित वयःसन्धि-वर्णनात्मक कुछ गीत प्रकाशित हुए। उन गीतों के पाठ और बंगला तथा हिन्दी में प्रकाशित पदावली के पाठ में यत्र-तत्र बड़ा विभेद देखने में आया। उसी पाठ-भेद की विवेचना में, एक लेख, मैंने उसी पत्रिका में प्रकाशनार्थ भेजा। साहित्यज्ञों ने उस लेख को बहुत पसन्द किया। तत्पश्चात् विद्यापति-प्रेस लहेरियासराय से 'मिथिला' नाम की एक मैथिली पत्रिका निकली। उस पत्रिका में धारावाहिक रूप से मेरी विद्यापति और चण्डीदास की तुलनात्मक आलोचना निकली। लोगों ने इस लेख-माला को भी पसन्द किया।

१९२१ ई० में बिहार के सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय अंग्रेजी पत्र 'सर्चलाइट' में जब मैं सहकारी की हैसियत से कार्य्य कर रहा था, उस समय मेरे मन में यह विचार आया कि बिहार के इस महान् कवि की जयन्ती मनाई जानी चाहिये, उनकी अमर सेवाओं के प्रति साहित्यिकों को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करनी चाहिये। विद्यापति की मृत्यु कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी को हुई थी जो 'विद्यापतिक आयु अवसान, कातिक धवल त्रयोदसि जान' से स्पष्ट है। उसी तिथि को पुण्यतिथि मान मैंने सर्वप्रथम उनकी जयन्ती मनाने की सूचना 'सर्चलाइट' में प्रकाशित की और बाँकीपुर-पटना के राममोहन राय सिमनरी में उस साल कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी को सर्वप्रथम 'विद्यापति-जयन्ती' मनाई गई। बाद में बिहार के साहित्यिकों ने उसकी जरूरत महसूस की और उस वर्ष से साल-साल 'विद्यापति-जयन्ती' उसी तिथि को जगह्-जगह मनाई जाने लगी है। इस जयन्ती की लोक-प्रियता दिनानुदिन बढ़ती ही नजर आती है। और कहाँ तक कहा जाय, १९३२ ई० में पटना-कैम्प-जेल में जब मैं भी वहाँ राजनैतिक बन्दी की हैसियत से उपस्थित था, यह जयन्ती समारोह से मनाई गई थी।

१९३३ ई० की बात है। मैं लहेरियासराय में ही था। मैथिली-साहित्य-परिषद् की ओर से 'विद्यापति-जयन्ती' समारोह-पूर्वक मनाई गई जिसके सभापति के आसन को माननीय महाराजाधिराज श्रीमान् कामेश्वर सिंह जी बहादुर के. सी. आई. ई. ने सुशोभित किया था। उस अवसर पर पढ़े जाने के लिये विद्यापति-सम्बन्धी निबन्ध के कुछ विषय पत्रों में प्रकाशित हो चुके थे, परन्तु निश्चित दिन तक कोई वैसा पठनीय लेख परिषद् के कार्य्यालय में नहीं पहुँचा था। मैथिली-साहित्य-परिषद् के मंत्री, मित्रवर श्रीयुत भोला लाल दास जी, बी. ए., एल्. एल्.बी. के बहुत आग्रह करने पर मैंने एक बहुत छोटा निबन्ध लिखा। अकस्मात् मैं ज्वर से आक्रान्त हो गया। परन्तु विद्यापति के प्रति मेरा प्रेम मुझे सभास्थल तक खींच ही लाया। मैं अपना निबन्ध पढ़ने में अनुत्साह-सा अनुभव कर रहा था, किन्तु श्रीयुत मंत्री जी के आग्रह से ही किसी तरह उस निबन्ध को पढ़ना मैंने प्रारम्भ किया। उस निबन्ध को श्रीमान् महाराजाधिराज

और उपस्थित समस्त सभासद ध्यानपूर्वक सुनते रहे। उस निबन्ध के दो-चार पृष्ठ भी मैं अभी न पढ़ पाया था कि विद्यापति-प्रेमी उदार माननीय महाराजाधिराज दरभङ्गा की यह घोषणा हुई कि विद्यापति पर सबसे उत्तम निबन्ध लिखनेवालों को एक सौ रुपये का पारितोषिक पाँच वर्षों तक राज्य से दिया जायगा। मेरा वह निबन्ध इस 'काव्यालोक' का अत्यन्त क्षीण किरण मात्र था तथापि मैथिली-साहित्य-परिषद् के गुण-ग्राही निर्णायकों ने उसी छोटे निबन्ध पर प्रथम पारितोषिक देकर मुझे अत्यन्त गौरवान्वित किया।

इतना तो मुझे कहना ही पड़ता है कि 'विद्यापति-जयन्ती' का समारोह प्रारम्भ करने से मैथिल विद्वानों का ध्यान भी कुछ-कुछ विद्यापति की ओर आकर्षित हुआ है। 'विद्यापति-जयन्ती' के अनुक्रम के आरम्भ दिन से मिथिला में भी विद्यापति विषयक अनुसन्धान का श्रीगणेश हुआ है। बिहार-रिसर्च-सोसाइटी के पुस्तकान्वेषक श्रीयुत पण्डित विष्णुलाल शास्त्री ने विद्यापति-विरचित 'मणिमञ्जरी' नाटिका का अनुसन्धान कर प्राप्त किया है। वे उसके प्रकाशन के विचार में हैं। मैंने उस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्राचीन प्रति को देखा है, परन्तु मुझे इसमें सन्देह है कि वह मैथिल-कवि-कोकिल विद्यापति की रचना है—कारण, प्रस्तावनादि में कहीं भी किसी आश्रयदाता का उल्लेख नहीं है जिसका अभाव खासकर विद्यापति-रचित ग्रन्थ में स्वभावतः सन्देह उत्पन्न करता है। जो हो, उस ग्रन्थ के प्रकाशित होने पर ही इसका यथार्थ निर्णय हो सकेगा। इसके अतिरिक्त दरभंगे के रामभद्रपुर गाँव में उन्हें विद्यापति विरचित ताम्रपत्र पर लिखित कुछ गीत भी उपलब्ध हुए थे। दूसरे, श्रीयुत शिवनन्दन ठाकुर एम. ए. (कोइलख) ने तालपत्र पर लिखित विद्यापति-विरचित कुछ गीतों को प्राप्त किया है जिनको वे मैथिली-साहित्य-परिषद् की ओर से टीका-टिप्पणी से अलंकृत कर प्रकाशित करने के प्रबन्ध में हैं। उन्होंने विद्यापति की जीवनी के प्रसंग में एक निबन्ध भी लिखा है जिसको स्थानीय 'विद्यापति प्रेस' प्रकाशित कर रहा है।

उसी जयन्ती के दिन से मेरे मित्रों ने मुझसे आग्रह करना प्रारम्भ किया कि मैं विद्यापति पर एक तुलनात्मक ग्रन्थ लिखूँ। अपने मित्रों के उत्कट

आग्रह को टाल देना सहसा आसान नहीं था। उनके आग्रहों से बाध्य होकर मैं सामग्रियों को जुटाने आदि की तैयारियाँ कर ही रहा था कि उसी साल बिहार के जगत्प्रसिद्ध प्रलयंकर भूकम्प ने मेरे परिवार को विध्वस्त कर डाला। मेरे परिवार में ही दस व्यक्ति—स्त्रियाँ और बच्चे—एक पल में ही एक साथ मलवे के तले दब कर महानिद्रा में सो गये! मलवे के तले से निकाल कर एक सिरहाने से रक्खी दस लाशों का भयंकर दृश्य अत्यन्त ही रोमाञ्चकारी था! परन्तु विधि के विधान के आगे मनुष्य की क्या बिसात? मेरे साहित्यिक जीवन में उस भूकम्प ने बड़ा भारी व्याघात उपस्थित किया, मानों यथार्थ में प्रलय ही मचा दिया।

अब मुझमें साहस न रहा कि विद्यापति पर कोई विशद ग्रन्थ लिखूँ। दूसरे, विद्यापति के विषय में जो कुछ भी अध्ययन मैंने किया था उससे मुझे सन्तोष न था और न अब भी है। तीसरी बात यह थी कि यद्यपि संस्कृत, बंगला, हिन्दी, मैथिली तथा अंग्रेजी भाषाओं के कवियों की कविताओं से तुलनात्मक पद्य मैंने चुन लिये थे तथापि मेरी बड़ी इच्छा थी कि जब कभी यह ग्रन्थ प्रकाशित हो इसमें उर्दू-कवियों के कमाल से भी विद्यापति की कृति की तुलना अवश्य रहे। इस विचार से प्रेरित होकर मैंने उर्दू-कवियों की कविताओं को पढ़ना भी प्रारम्भ किया था। परन्तु इतने में दूसरे साल की प्रतियोगिता में भाग लेने का समय निकट आ गया। इस साल की प्रतियोगिता में पूरी तैयारी से भाग लेने के लिये मेरे पूज्यपाद दिवंगत पितृव्य बाबू हरिनन्दन दासजी वकील, प्रथम-गैर-सरकारी चेयरमैन दरभङ्गा जिला बोर्ड, जिनकी पुण्य-स्मृति में यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, मुझे प्रेरित और प्रोत्साहित करने लगे। मैं टाल-मटूल करता गया। इतने में वे सख्त बीमार पड़े और चिकित्सकों की सलाह से जल-वायु-परिवर्तन के लिये विन्ध्याचल चले गये। उन दिनों मैं बिहार-सेन्ट्रल-रिलीफ कमेटी, दरभंगा की ओर से भूकम्प-पीड़ितों के सहायता-कार्य्य में संलग्न था। पश्चात् काँग्रेस की ओर से केन्द्रीय एसेम्बली के चुनाव-कार्य्य में व्यस्त हो गया। परन्तु पूज्यपाद पितृव्य को यह बराबर याद ही रहा कि मैंने प्रतियोगिता के लिये कुछ नहीं लिखा।

विन्ध्याचल से वे बराबर तकाजा करते रहे। उनका ऐसा प्रायः एक भी पत्र नहीं आया जिसमें उन्होंने उसके लिये ताकीद न की हो। मेरे पितृव्य मेरे जीवन-निर्माण के एक सबसे सुदृढ़ स्तम्भ रहे हैं। बचपन से ही उनके स्नेहामृत से इस अकिंचन का रोम-रोम सींचा गया है। उनके वारम्वार उत्कट आग्रह को मैं अब टाल न सका और रात के पिछले पहर में उठ-उठकर मैं कुछ-कुछ गोद-गाद करने लगा। परन्तु फिर भी चुनाव-जैसे सार्वजनिक कार्य्य में लगे रहने के कारण वह लेख तैयार न हो सका। प्रतियोगिता में भाग लेने का समय टल गया और मैं भी निश्चिन्त हो गया। इतने में वे विन्ध्याचल से लौट आये। उस अधूरे निबन्ध को बड़ी उत्कंठा के साथ उन्होंने देखा और उससे वे इतने प्रभावान्वित हुए कि उसे समाप्त कर देने के लिये वारम्वार कहने लगे। परमात्मा की कृपा एवं पितृव्य की प्रेरणा से वह निबन्ध तैयार हुआ। परन्तु अब वह एक पुस्तक का रूप धारण कर चुका था। उसकी साफ प्रति-लिपि करने की बातें हो ही रही थीं कि मेरे पूज्यपाद पितृव्य पुनः बीमार हुए और इस बेर की बीमारी उनके प्राणों को इस धराधाम से ले-देकर चलती बनी। मेरी सारी आशाओं पर, उठती उमंग तथा जीवन के अरमान पर पाला पड़ गया। मैं निराश हो गया। इतने परिश्रम से मैथिली भाषा में लिखे हुए इस ग्रन्थ को अब कौन प्रकाशित करायगा, इसकी चिन्ता मुझे दिन-रात खलने लगी। मैंने हताश होकर इसकी चर्चा ही छोड़ दी।

परन्तु मेरे बहुत-से मित्रों ने उस ग्रन्थाकार निबन्ध को देखा। बहुतों की राय हुई कि मूल ग्रन्थ का हिन्दी-रूपान्तर कर प्रकाशित किया जाय। अन्त में लाचार होकर मुझे भी वैसा करने को बाध्य होना पड़ा। परन्तु तीन-चार सौ पृष्ठों के ग्रन्थ का अनुवाद-कार्य्य भी सहज न था। परमात्मा की अनुकम्पा से श्रीयुत अच्युतानन्द दत्त जी, सहकारी सम्पादक, 'बालक'; श्रीयुत देवनारायण लाल, 'विशारद' तथा श्रीयुत योगीन्द्र सिंह, शिक्षक, मिडिल इङ्गलिश-स्कूल, सिंहवाड़ा, और मेरे अनुज श्रीयुत योगीन्द्रनाथ दास, बी० ए० आदि ने इस कार्य्य

में मेरा हाथ बँटाया और किसी तरह यह कार्य्य पूरा किया गया। यदि इन महानुभावों का साहाय्य मुझे न मिलता तो इतना जल्द यह ग्रन्थ हिन्दी-संसार के सामने मैं रख सकता या नहीं, इसमें मुझे सन्देह है। इस हेतु मैं इन सज्जनों का बहुत आभारी हूँ।

इस ग्रन्थ के लिखने एवं प्रकाशित करने में मेरे परम मित्र श्रीयुत भोला लाल दास जी बी. ए., एल्. एल्. बी. तथा सुहृद्वर श्रीयुत अच्युतानन्द दत्त जी ने मेरी बड़ी मदद की है। विद्यापति के काव्य-सौष्ठव एवं नीति के अंश इन्हीं दोनों मित्रों की प्रेरणा से लिखे गये। मेरे मित्र श्रीयुत सुरेन्द्र झा साहित्याचार्य्य 'सुमन', सम्पादक 'मिथिला मिहिर' ने इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि का कुछ अंश पढ़ कर उसे यत्र-तत्र सुधार भी दिया है। अत: इन मित्रों का मैं बड़ा ही कृतज्ञ हूँ। साथ-साथ उन मित्रों के नाम उल्लिखित करना मैं नहीं भूल सकता जो मुझे समय-समय पर उत्साहित करते रहे हैं यथा-मान्य श्रीयुत कृष्णनन्दन सिंहजी जमीन्दार राघवपुर स्टेट, श्रीयुत शिवपूजन सहायजी, श्रीयुत मृत्युञ्जय प्रसादजी (देशरत्न श्रीयुत राजेन्द्र प्रसादजी के सुपुत्र); श्रीयुत कुलानन्द दासजी, 'विशारद' (बेलाराही); श्रीयुत परमानन्द दत्तजी आदि।

इस ग्रन्थ के लिखने में सबसे अधिक सहायता मुझे श्रीयुत नगेन्द्र-नाथ गुप्त जी के 'विद्यापतिर पदावली' ग्रन्थ से मिली है। यदि इतने परिश्रम से उन्होंने उस ग्रन्थ का सम्पादन न किया होता तो जिस रूप में विद्यापति के पद उपलब्ध हो रहे हैं, न होते। हाँ, उनकी 'विद्यापतिर पदावली' के पाठ से इस ग्रन्थ में कहीं-कहीं परिवर्तित पाठ दीख पड़ेगा। वंगीय साहित्य-परिषद् द्वारा प्रकाशित 'पदकल्पतरु' में स्वर्गीय सतीशचन्द्र राय ने अनेकानेक पाठभेदों का उल्लेख कर उस ग्रन्थ को बड़ा मूल्यवान् बना दिया है। उसी ग्रन्थ से जहाँ जो पाठ मुझे समुचित जँचा, मैंने ग्रहण किया है। हाँ, उस ग्रन्थ के पाँचवें भाग में श्रीयुत गुप्त महोदय पर बहुत जोरों से स्वर्गीय राय महाशय बरस पड़े हैं। उन्होंने श्रीयुत गुप्त महोदय के मतों एवं लेखों का खंडन किया है, अनेक आपत्तियाँ उठाई हैं। उनका समीचीन एवं सविस्तर प्रामाणिक उत्तर अगर मेरी

विद्यापति-ग्रन्थावली प्रकाशित होगी तो उसमें देने का मैं यत्न करूंगा।

इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त जिन ग्रन्थों की सहायता से मैंने यह ग्रन्थ लिखा है, उनके लेखकों के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। उन लेखकों तथा ग्रन्थों के नाम इस ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट 'ख' में मैंने उद्धृत किये हैं। पाठक वहीं देखने का कष्ट करें। दूसरे, इस ग्रन्थ में कई जगह मैंने अंग्रेजी के अवतरण दिये हैं। उनका अनुवाद मूल ग्रन्थ में न देकर मैंने परिशिष्ट 'क' में दिया है। पाठक अंग्रेजी अवतरणों का अनुवाद वहीं देखने की कृपा करें। हाँ, अंग्रेजी कविताओं का अनुवाद मैंने जानबूझकर नहीं दिया है। कारण, तुलनात्मक आलोचना में उनके भावार्थ आ गये हैं।

मैं इतना निवेदन कर देना आवश्यक समझता हूँ कि किसी एक सज्जन ने आदि से अन्त तक इस ग्रन्थ के प्रूफों को नहीं पढ़ा है, इस हेतु स्थान-स्थान पर शैली में परिवर्तन दीख पड़ेगा, प्रूफ-संशोधन में भी यत्र तत्र दृष्टि-दोष रह गये हैं, कुछ मात्रायें-छपने के समय टूट गई हैं तथा और बहुत-सी त्रुटियाँ दीख पड़ेंगी; परन्तु साहित्य-रसिक सज्जन उदार हृदय से इन दोषों को क्षमा करेंगे, ऐसी मेरी आशा है। दूसरी बात यह है कि पुस्तक प्रकाशन में अत्यधिक विलम्ब हो गया; एक वर्ष से ज्यादा समय लग गया। दरभंगा राज प्रेस में पुस्तक छपती थी। उस प्रेस को राज्य के कार्यों से फुरसत नहीं इसलिए प्रकाशक की पूरी चेष्टा करने पर भी छपने में विलम्ब होता ही गया। प्रेस के झंझटों से मैं तंग आ गया। परन्तु मैं क्या कर सकता था। मैं सर्वथा असमर्थ था।

परमात्मा की कृपा से अब यह ग्रन्थ प्रकाशित होकर आप लोगों के कर-कमलों में है। अब जो कुछ है, आपके सामने है। अपनी

त्रुटियों से मैं पूर्ण परिचित हूँ। इस प्रकार तुलनात्मक समालोचना का ग्रन्थ लिखना कितना कठिन कार्य्य है, साहित्यज्ञ अनुमान कर सकते हैं। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मैंने अनधिकार चेष्टा की है। परन्तु जो कुछ मैंने लिखा है, शुद्ध हृदय से लिखा है; जिस प्रकार अनुभव किया है, लिखा है। मैं विद्यापति का वकील नहीं; हाँ, उनके गुणों का प्रेमी अवश्य हूँ। यदि इस ग्रन्थ में कहीं किसी साहित्यिक सज्जन को कुछ त्रुटि मालूम हो, विद्यापति के प्रति मेरा अन्ध-प्रेम प्रतीत हो; तो वे उसकी सूचना कृपा कर मुझे दें, मैं, यदि उचित समझूंगा, दूसरे संस्करण में उसे सुधारने का यत्न करूंगा।

एक बात का यहाँ उल्लेख करते हुए मैं बड़ा गौरव अनुभव करता हूं कि जिस साहित्य-कल्पतरु शृङ्गार-रस-रसिक प्रतापी महाराज शिवसिंह के आश्रित, कवि-कोकिल विद्यापति थे उसी महाराज के प्रधान आमात्य मेरे ही पूर्वज, बलाइनवंशविभूषण स्वनामधन्य अमृत कर (अमिय कर) ठक्कुर थे। शिवसिंह जब मुसलमानों द्वारा परास्त किये गये तब विद्यापति ने मुसलमानों के डर से शिवसिंह की रानी आदि कुटुम्बों को लेकर बनौली (नेपाल) के राजा पुरादित्य की शरण ली थी। मिथिला राज्य की उस संकटापन्न अवस्था में अमृतकर ठक्कुर ही ने पटना जाकर मुसलमानों से फिर मिथिला-राज्य के लिये अभय-दान प्राप्त किया था। इसका उल्लेख स्वर्गीय पण्डित चन्दा झा ने अपनी 'पुरुष-परीक्षा' की टीका के अन्त में किया है। अमृतकर ठक्कुर यदा-कदा कविता भी कर लिया करते थे यह कविवर 'लोचन' रचित 'राग-तरंगिणी' ग्रन्थ से प्रमाणित है। कवि-कंठ-हार विद्यापति और आमात्य—अमृतकर में घनिष्ट आत्मीयता थी यह तो विद्यापति-विरचित मिथिला में प्रचलित निम्नांकित पद से सुस्पष्ट है—

नीतिनिपुण गुण नाह अंक में अतिशय आगर।
कोष-काव्य-व्याकरण अधिक अधिकारक सागर॥
सब कर कर सम्मान सबहुँ सौं नेह बढ़ाविअ।
विप्र-दीन अति दुखी सबहुँ कौं विपति छोड़ाविअ॥
कायस्थ माँह सुरसिद्ध भउ चन्द्र तुला इव राशिधर।
कविकंठहार कलउच्चरइ अमिअ बरस्सइ अमिअकर॥

माननीय महाराजाधिराज दरभङ्गा को अनेकानेक धन्यवाद देना मैं भूल नहीं सकता। कारण विद्यापति पर लेख लिखने के लिये पारितोषिक देने का वचन देकर यदि विद्यापति-प्रेमी को उन्होंने प्रोत्साहित न किया होता तो मेरे दिवंगत पितृव्य उस रूप से न तो मुझे बाध्य करते और न मैं इस ग्रन्थ के प्रणयन का श्रीगणेश ही करता।

आदरणीय कुमार गंगानन्द सिंहजी, एम. ए. एम. एल. सी. का मैं बड़ा ही अनुगृहीत हूँ जिन्होंने अपने व्यस्त जीवन से समय निकाल कर इस ग्रन्थ का परिचय लिख देने की कृपा की है।

अन्त में मुझे दुःख इस बात का है कि जिस महापुरुष की प्रेरणा से इस ग्रन्थ का श्रीगणेश किया गया, वे मेरे पूज्यपाद पितृव्य इस ग्रन्थ को प्रकाशित न देख सके। वे अकस्मात् इस धराधाम से चल बसे; हम लोगों को निराश्रय बनाकर छोड़ गये। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से उनको कितना आनन्द होता, उसका अन्दाज कौन लगा सकता है। जिस दिन से इस ग्रन्थ के लिखने की तैयारियाँ मैं करने लगा उस दिन से लेकर प्रकाशन के समय तक मेरे ऊपर विपत्ति के गाज गिरते रहे। भूकम्प में मलवे के तले दब कर मरे कुटुम्बियों का घाव अभी ताजा ही था कि पूज्यपाद पितृव्य की जीवनलीला का अन्तिम यवनिका-पात सहसा

हो गया। उनके वियोग का दुख अभी भूला भी न था कि उनके सुपुत्र, मेरे चचेरे भाई सुरेन्द्र नाथ दास वकील, जिनके साथ मेरा बचपन कटा, छात्रावस्था कटी, सहसा इसी २७ जुलाई को एकाएक चल बसे। इन्होंने तो इस ग्रन्थ के करीब-करीब सब फार्म छपे देखे थे, किन्तु प्रकाशित ग्रन्थ को नहीं देख सके। खास कर इन दोनों के उठ जाने से जो गहरी चोट मेरे हृदय पर पड़ी है, उसकी व्यथा शब्दों द्वारा व्यक्त करना सर्वथा असम्भव है। इन दोनों की मृत्यु से मेरे साहित्यिक जीवन में जो भारी व्याघात उपस्थित हो गया है वह अवाङ्मनसिगोचर है। यदि आत्मा अमर है और जरूर है, तो इस ग्रन्थ के प्रकाशन से उनकी आत्माओं को आनन्द मिले, यही मेरी अभिलाषा है। श्री भगवान् कृपानिधान इस अकिञ्चन के जीवन को सफल करें, यही आन्तरिक कामना है और यही मेरी एकान्त प्रार्थना है। श्रीरस्तु, शुभमस्तु।

ग्राम—सखवार
पो० मनीगाछी
जि० दरभङ्गा
दीपावली
वि० सं० १९९४

विनीत लेखक—
नरेन्द्रनाथ दास

☞ पृष्ठ २१ में १७वें पंक्ति के आगे विद्यापति के ये पद छूट गये हैं—

मनि कादो लपटाय रे, तइँ कि तनिक गुन जाय रे।

परिचय

साहित्य-रसिक विद्यापति को "मैथिल-कोकिल" कहा करते हैं। न यह साधारण कोकिल है, और न है साधारण इस का गान। इस की कूक ने बङ्गाल को मुग्ध कर डाला; हिन्दी संसार में वसन्त बसा दिया, फिर मैथिल-समाज का क्या पूछना? उसकी तो यह घर की थाती है, गर्व की सामग्री है, उत्कर्ष की निशानी है। दस-पाँच वसन्त तक ही बहार लाने वाला वह कोकिल नहीं; यह कोकिल तो अजर है, अमर है। मानव-हृदय वाटिका में, चिर वसन्त का विकास करता हुआ, उसके शुष्क भाव-विटपों को गुञ्जायमान करता हुआ, वह शताब्दियों से विचरण करता आ रहा है। उसके प्रादुर्भाव से मिथिला धन्य हुई, मैथिल समाज धन्य हुआ और विहार का ही नहीं, उत्तरीय भारतवर्ष का साहित्य समुज्ज्वल हुआ।

वह महाकवि है; कल्पना उसकी जननी और प्रकृति उसकी सहचरी है। भाषा उसे सीमित नहीं कर सकती। देश उसे अपनी परिधि में नहीं बाँध सकता। काल पर भी उसने विजय प्राप्त कर ली है। रसिक उसके काव्य-सरोवर की तरंगों में कलाओं की रश्मियों की अठखेलियाँ देखते हैं, सुनने वाले उसके मृदु संगीतों से मुग्ध होते हैं। जिस प्रकार पक्षियों की बोली न समझते हुए भी मनुष्य कह सकता है कि किस विहंगम का कूजन कितना मधुर है, उसी प्रकार महाकवियों के सम्बन्ध में पूरे मर्मज्ञ न होते हुए भी यह प्रकट कर सकते हैं कि किस महाकवि की रचना हमें कैसी लगती है।

समालोचना को हमें सत्य का अन्वेषण और इसलिये समालोचकों के प्रयत्न को स्तुत्य समझना चाहिये । समालोचक समालोच्य विषय की नींव पर, अपने तर्क, अपनी युक्ति, और अपनी विद्या-बुद्धि के द्वारा इच्छानुसार महल तैयार करता है । पाठक उसके सौन्दर्य के निरीक्षक होते हैं ।

इस समालोचनात्मक ग्रन्थ के रचयिता महोदय के हम आभारी हैं कि इन्हों ने विद्यापति की मैथिली पदावली पर पूरा प्रकाश डालने की चेष्टा की है । ये कर्ण कायस्थ कुलावतंस मैथिल हैं । मिथिला में इनके वंश की गणना प्रतिष्ठित वंशों में होती है और इनका परिवार चिरकाल से साहित्य-सेवी रहा है । पचहत्तर वर्ष के वयोवृद्ध इनके पिता कविवर मुन्शी रघुनन्दनदास जी, आज भी 'सुभद्रा हरण' मैथिली महाकाव्य की रचना में संलग्न हैं । अनेक वर्षों से लेखक महोदय विद्यापति के पदों का अध्ययन और मनन करते आये हैं , जिस के बल पर अन्यान्य भाषा के श्रेष्ठ कवियों से विद्यापति की इन्होंने तुलना की है, और एक निर्णय पर पहुँचे है । इनके अध्ययन और अध्यवसाय के सम्बन्ध में कुछ लिखना निरर्थक है । कारण, इस ग्रन्थ की पंक्ति पंक्ति में वे प्रतिभासित हैं । इस में महाकवि विद्यापति ठाकुर की कोमल कान्त पदावली की तुलना भारतीय तथा पाश्चात्य महाकवियों की रचनाओं से कर इन्होंने पाठकों को चकाचौंध में रख दिया है । प्रायः पाठकों के लिए यह पहेली रहेगी कि कौन श्रेष्ठ हैं—मैथिली पदों के रचयिता विद्यापति या संस्कृत भाषा के उद्भट कवि कालिदास, माघ, श्रीहर्ष, भारवि, अमरुक, या वङ्गभाषा के प्रसिद्ध कवि चण्डिदास, ज्ञानदास, वलरामदास, राधामोहन और उद्धवदास, या हिन्दी भाषा के प्राचीन कवि तुलसीदास, सूरदास, देव, विहारी, मतिराम और केशव । इतना ही नहीं, इन्होंने मैथिली भाषा के अन्य सुप्रसिद्ध कवियों के काव्य पर भी प्रकाश डाल कर विद्यापति की रचनाओं की परीक्षा की है ; और यह दिखाया है कि विद्यापति की रचना से ये कितने दूर तक प्रभावान्वित थे । इन मैथिल कवियों के नाम हैं गोविन्ददास, रामदास, रमापति और हर्षनाथ ।

पर ये सव तो भारतीय कवि थे । भारतीय विचार-धारा, शैली,

और कला में साम्य होना स्वाभाविक है। किन्तु विश्व के विभिन्न भागों में रहने वाले कवियों के साथ साम्य ढूँढना कम कठिन नहीं। यथार्थ में महाकवि तो देश और काल के बन्धन में नहीं रहता। चाहे कहीं के भी हों, महाकवियों की विचार-धारा, उनकी सूझ, उनके शुभ्र अन्तःकरण की प्रभा में सामञ्जस्य पाना आश्चर्यजनक नहीं है। कारण, वे सब-के-सब विश्व के नागरिक हैं, विश्व के रहस्यों की ग्रन्थियों को सुलझानेवाले हैं–विश्ववन्द्य परमात्मा के विशेष कृपापात्र हैं। ग्रन्थकार महोदय ने इसका दिग्दर्शन उन्हें पाश्चात्य कवि शेक्सपियर, शेली, कीट्स, ब्राउनिङ्ग, वायरन और वर्न्स के काव्य से विद्यापति के काव्य की तुलना कर के दिखाया है।

इस ग्रंथ के शेष भाग में ग्रंथकार महोदय ने इस अद्भुत कलाकार के काव्य-सौष्ठव पर प्रकाश डाला है। इस प्रकाश में हम कवि के अन्तस्तल को भले ही देखने में असमर्थ हों––उसकी झलक भले ही हमारी नसीव में न हो, पर हम उस मार्ग पर आसानी से चल सकते हैं जो उस मन्दिर की ओर जाता है, जिस में उनके गूढ़तत्व सन्निहित हैं। अपने राधा-माधव को भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाकर, उनके भिन्न-भिन्न विकारों को प्रतिभासित कर, कविशेखर ने भिन्नताओं के वीच अभिन्नता, अनैक्य के वीच ऐक्य का निरूपण किस सुन्दरता से किया है––काव्य गगन में क्षण-क्षण पर किस प्रकार वादल रंग वदल-वदल कर मर्मज्ञों के हृदय में भावोद्रेक पैदा करते हैं,––उनका अनुभव हम इस 'आलोक' के सहारे कर सकते हैं और साथ ही साथ हम प्रकाश डालनेवाले ग्रंथकार की योग्यता की परीक्षा भी कर सकते हैं।

ग्रंथ की समाप्ति करने से पहले ग्रंथकार महोदय ने टीकाकारों की भी अच्छी खवर ली है। वे उनसे सन्तुष्ट नहीं हैं। पर यह ध्यान रखने की वात है कि यदि किसी ग्रंथ पर रचनाकाल के सैकड़ों वर्ष वाद या प्रायः रचनाकाल में भी रचयिता से भिन्न व्यक्ति द्वारा टीका-टिप्पणी की जाय तो मत-भेद की काफी गुंजाइश रहती है। यह कहना कि यह टीका ठीक है यह गलत–भले ही टीकाकार का मत प्रगट करे, पर यह कभी भी निश्चित रूप से नहीं घोषित किया जा सकता कि अमुक टीका या टिप्पणी

ही ठीक है–अन्य नहीं। भिन्न-भिन्न टीकाकारों के द्वारा प्राचीन कवियों की रचनाओं पर किये गये टीका-टिप्पणी इस के दृष्टान्त हैं। यह मानना पड़ेगा कि विद्यापति की पदावली का प्रगाढ अध्ययन अभी भी होना बाँकी है। अपनी प्रतिभा, अपने अध्ययन, आदि का परिचय भी टीकाकार अपनी टीका की विलक्षणता दिखाने में देता है पर उसके परीक्षक यथार्थ में पाठक ही हैं।

यों तो इस ग्रंथ में ग्रंथकार महोदय के उद्गार सर्वत्र विद्यमान हैं पर इस का शेष भाग तो उनसे ओतप्रोत है। मेरे विचार से पाठक उनसे प्रभावान्वित हुए विना नहीं रह सकते। इन्होंने पाठकों के अध्ययन करने की, मनन करने की, और कार्य करने की काफी सामिग्री इस ग्रंथ में एकत्र की है। मेरा विश्वास है कि गुणग्राही पाठक-वृन्द इस कारण इनके चिर ऋणी रहेंगे। इस ग्रंथ को मैं हिन्दी-साहित्य-सरस्वती के चरणों में ग्रंथकार महोदय की प्रथम पुष्पाञ्जलि के रूप में देखता हूँ और इसी रूप में मैं इसका परिचय आप लोगों से कराता हूँ। एक अनुरक्त–एक भक्त–ने बड़े यत्न से, बड़ी चाव से, बड़ी श्रद्धा से, बड़ी आकांक्षाओं से, कष्टों को झेल कर, विद्यापति के पदोद्यान से सुरभित सुमनों को संचित किया है; उसने उस प्रदीप को जलाया है जिससे हम विद्यापति की आत्मा की झांकी देख सकते हैं, उस के पूजा की थाल में ऐसी घंटी है जो मृदु स्वर से विद्यापति का जयघोष करती है; ऐसे पत्र और दूर्वादल हैं जिन से पुष्पों की मनोहरता द्विगुणित हो जाती है; श्रद्धा का वह जल है, जिस की बूंदों से कोमलता और सरसता टपकती है; ऐसा चन्दन है जिस की सुखद् शीतलता और सुगंध से अर्घ्य की मनोरमता हृदयग्राही बन गई है। फिर भी उसे आशंका होती है कि हमारी राष्ट्रभाषा के उपयुक्त यह पुष्पाञ्जलि हुई या नहीं। पर अनुरक्ति की प्रबलता आशंका को दूर करती है। वह अनुभव करता है कि उसकी भक्ति सब त्रुटियों को पूरा करने के लिये पर्याप्त है और पुष्पाञ्जलि देकर वह अपने को धन्य मानता है।

दरभङ्गा
२५।१०।३७ }

श्री गङ्गानन्द सिंह

आशीर्वाद

"UTTARAYAN"
Santiniketan, Bengal
November 23, 1937.

It gives me great pleasure to welcome this literary tribute to a poet whom I have loved since my childhood's days. Though strictly a Maithili poet, Vidyapati has long been loved in Bengal as one of our own. His poems and songs were one of the earliest delights that stirred my youthful imagination and I even had the privilege of setting one of them to music.

Not being a Hindi scholar I have no right to comment on the literary merit of this publication in Hindi, nor is it necessary for me to endorse the author's estimate and analysis of Vidyapati's poetry. It is enough for me to hope that through this publication this lovable and superb poet of Mithila will be known to a large reading public.

RABINDRA NATH TAGORE

सम्मानित सम्मतियाँ

म. म. डाक्टर श्रीयुत गङ्गानाथ झाजी, भूतपूर्व वाइस-चान्सेलर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने लिखा है --

कवि पण्डित विद्यापति की ओर अब मैथिलों का ध्यान उचित रूप से आकृष्ट हुआ है। विद्यापति के विषय में अनेक प्रकार की परीक्षा-समीक्षा प्रारम्भ हुई है; विशेषतः नवयुवक वर्ग में पाश्चात्य-समीक्षा-प्रकार प्रसरित हो रहा है। अब मिथिला में भी विद्यापति का ज्ञान केवल उनके नाम पर निर्भर नहीं।

इसी प्रकार की आधुनिक समीक्षा-प्रक्रिया का फल-स्वरूप यह ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में नाना दृष्टि-कोण से विद्यापति की रचना पर विचार किया गया है। लेखक ने इस ग्रन्थ में पूर्ण परिश्रम किया है।

पारिभाषिक शब्दों का प्राचुर्य्य इस ग्रन्थ में पाया जायगा परन्तु इस प्रकार के साहित्य का यह प्रथम सूत्रपात है। इसलिये यह प्राचुर्य्य अनिवार्य्य है। मैं आशा करता हूँ कि इस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ कर काव्य-मर्मज्ञ प्रसन्न होंगे और जो मर्मज्ञ नहीं हैं वे मर्मज्ञ होना सीखेंगे।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्रिन्सपल पं. श्रीयुत बाल कृष्ण मिश्रजी की सम्मति—

कायस्थ-कुल-कैरव-कलाकर कवि-प्रवर श्री रघुनन्दन दासात्मज श्री नरेन्द्रनाथ दासः शैशवमारभ्य स्वान्वयोचितं धर्ममाचरन्नेव पाश्चात्य विद्यावैभवमासाद्य सांसिद्धिक प्रेम्णा क्रमेण हिन्दीभाषायामपि वेदन वैभवं प्रत्यपद्यत।

अनेन विद्यापति पदावली चिरादभूतचरं समालोचिता। यत्र महाकवि विद्यापतेः रसिक भक्तत्वं पद्येषुच संस्कृत, वाङ्ग, हिन्दी मैथिलाङ्गल भाषापद्यापेक्षित वैलक्षण्यं, सौष्ठवं, नीति, सन्देशादि प्रतिपादकत्वं च दर्शितं विद्यते। यदवलोकनेन सहृदयानां हृदयेषु परमः प्रसादः समुन्मिषति। एतदुपयोगिनः परिश्रमस्य श्लाघ्यतायां

स्तोकतोऽपि नास्ति विप्रतिपत्तेरवसरः। तस्मादिदमीयं दीर्घायुंष्ट्वं समालोचनात्मकप्रबन्धाद्दतकीर्तिलताप्रतानं च कामयमानो विरमति।

सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० श्रीयुत गिरीन्द्रमोहन मिश्रजी एम. ए., बी. एल., काव्यतीर्थ की सम्मति—

विद्यापति और गोविन्ददासक विषय में श्रीयुत नरेन्द्रनाथ दास 'विद्यालंकार' विषेष अध्ययन कयलन्हि अछि। हुनक 'विद्यापति काव्यालोक' ग्रन्थक किछु अंशक अवलोकन करबाक सुअवसर हमरा प्राप्त भेल, जाहि सँ हम ई कहि सकैतछी जे एहि तरंहक तुलनात्मक समालोचनाक ग्रन्थ भाषाक गौरव बढ़ा सकैत अछि। खेदक विषय थीक जे मूल ग्रन्थ मैथिली भाषा में लिखित भेल किन्तु कारण वश हिन्दी भाषामें अनुवाद कय प्रकाशनक आयोजना करै पड़लैन्ह। *[मैथिली साहित्य परिषद् के विशेषाधिवेशन के अध्यक्ष पद से दिये गये व्याख्यान से।]*

अंग्रेजी के प्रसिद्ध विद्वान् बिहार सरकार के भूतपूर्व पबलीसिटी औफिसर सेमुयल सोलमन (Samuel Solomon) **साहब ने लिखा है—**

Babu Narendra Nath Das has performed a great service in writing a comprehensive book on Vidyapati, a labour of love to which he has devoted himself for many years. I feel sure, the book, with its comparative study of Vidyapati, against a background of Sanskrit, Bengali, Hindi, Maithili and English poets will be widly welcomed, and I wish it every success. Vidyapati, with his unique position in the hearts of the people of Mithila (Bihar), where no social or religious function even to day, several centuries after his death, is complete without the singing of his verse, is almost unknown in the West. I feel that if Babu Narendra Nath Das' book could be adequately translated into English a great step will have been taken to give Vidyapati his rightful place among the poets of the world.

विद्यापति-काव्यालोक

Love refines
The thoughts, and heart enlarges; hath his seat
In reason, and is judicious; is the scale
By which to heavenly love thou mayest ascend.

—Milton.

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभो र्मधुरं मधुरं वदनं मधुरम् ।
मधुगन्धि मृदुस्मितमेतदहो मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम् ॥

—विल्वमंगल ।

Learn, by mortal yearning to ascend
Towards a higher object—love was given
Encouraged, sanctioned chiefly for that end,
For this the passion to excess was driven.

—Wordsworth.

श्रीः

विद्यापति-काव्यालोक

विषय-प्रवेश

कविकुल-कुमुद-कलाधर महाकवि विद्यापति का प्रादुर्भाव भारत के पावन अञ्चल मिथिला के क्षितिज पर उस समय हुआ, जिस समय भक्ति-सुधासिन्धु में अभिनव मधुर भाव की लहर उठ रही थी। इस कवीन्दु की कला ने समूचे उत्तर भारत को चकोर बना डाला। जो मानव-समाज जीवन-द्वन्द्व के बीच व्याकुल हो रहा था, वह मिथिला के क्षितिज से छिटकती आशा-चन्द्रकला के मधुर स्पर्श से उज्जीवित हो उठा। सहसा वंग-धरणी कुमदिनी की तरह खिल उठी और व्रज-निकुञ्ज राधाकृष्ण के प्रेममय अमर गीतों से पुनः पुलकित हो उठा।

कवि युग का निर्माता कहा गया है; बहुत अंशों में यह ठीक भी है; परन्तु कुछ अंशों में यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि कवि के निर्माण में उस युग की स्थितियाँ भी उपादान रहती हैं।

किसी युग-विशेष के प्रभाव से कोई अपने को बचा नहीं सकता। इस तरह विद्यापति को भी हम उस युग के धर्म से प्रभावित पाते हैं। यद्यपि संसार, मधुरभावापन्न भक्तियुग के उस महाकवि के काव्य की भूरि-भूरि प्रशंसा तथा आदर करता आया है, तथापि भक्ति-मार्ग की मर्मानभिज्ञता से उनकी कविता के वास्तविक गुणों के प्रति आज अनेक निराधार कल्पनाएँ तथा मिथ्या धारणाएँ प्रचलित हो रहा हैं। इसी लिए हमें पहले मधुर भक्ति-मार्ग के रहस्य को समझना आवश्यक है।

संसार के सभी मनीषि-प्रवर मानव-स्वभाव का अन्वेषण-विश्लेषण करते हुए इस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं कि मनुष्य अथवा जीव-मात्र की सम्पूर्ण चेतनता केवल तीन ही धाराओं में प्रत्यक्ष होती है—तर्क-शक्ति, अनुभव-शक्ति तथा इच्छा-शक्ति। मानव-जीवन के जितने क्रिया-कलाप हैं, वे इन्हीं तीन शक्तियों के सम्मिलित अथवा पृथक् विकास हैं। इन्हीं तीन शक्तियों के समुच्चय को मनुष्य की संज्ञा दें तो कोई अत्युक्ति नहीं। आधुनिक मनोविज्ञान इन्हींको *Thinking, Feeling and Willing* कहता है। हमलोगोंके जितने प्राचीन अथवा अर्वाचीन शास्त्र हैं उन में मानव-जीवन की इन्हीं तीन शक्तियों को ध्यान में रखकर धर्म्म की व्याख्या क्रमशः ज्ञानकाण्ड, भक्ति-काण्ड तथा कर्मकाण्ड (मार्ग) द्वारा की गई है। इस तरह मनुष्य-जीवन में भी इनके अतिरिक्त और कोई शक्ति नहीं। सनातन धर्म अथवा संसार के किसी भी धर्म में इससे भिन्न और कोई मार्ग अथवा निष्ठा नहीं मिलेगी।

दूसरे देश की बात कुछ हो, किन्तु भारतवर्ष की यह विशेषता देखी जाती है कि जिस समय जिस काण्ड की ओर देश का ध्यान गया है, उस समय वह चरमावस्था पर पहुँच गया है। यही कारण है कि ज्ञान, उपासना या कर्म, जिस काण्ड की ओर दृष्टिक्षेप कीजिये, किसी-न-किसी समय में इन सब मार्गों की उन्नति अपने देश में पराकाष्ठा तक पहुँची दीख पड़ेगी। वैदिक काल से ही मानवशक्ति को ध्यान में रख कर इन्हीं तीन रीतियों से धर्म का प्रतिपादन किया गया है, इसी लिए वेद 'त्रिकाण्ड' कहा जाता है। उसमें जिन (ज्ञान, उपासना तथा कर्म) काण्डों का बीज रूप से कथन है, उन्हींका उत्तरोत्तर विकास सूत्र, स्मृति, पुराणादि में विशद रूप से हुआ है। किसी समय भारतवर्ष का इतिहास ज्ञानवृद्धि के लिए प्रसिद्ध है तो किसी समय भक्ति अथवा कर्म की जिज्ञासा में वह निमग्न दिखाई पड़ता है। किन्तु सर्वदा से तीनों निष्ठाएँ अक्षुण्ण रहती आई हैं। यथार्थतः इन तीनों में कोई मार्ग किसी से छोटा या बड़ा नहीं है। फिर भी इतना निश्चय है कि ज्ञान के द्वारा वह सर्वसाधारण के लिए जहाँ कठिन एवं दुष्प्राप्य है, वहाँ भक्ति के द्वारा सरल तथा सम्भव है। यही कारण है कि ज्ञान-मार्ग का प्रचार जहाँ विद्वद्वर्ग में आवद्ध रहा है वहाँ भक्ति की सुधा-धारा जनसाधारण को भी आप्यायित करती रही है। इससे भक्तिमार्ग की चिरन्तन प्रशस्यता स्वतःसिद्ध है।

भक्ति-मार्ग क्या है एवं इसका क्या स्वरूप है यह तो अनुभवी भक्त ही कह सकते हैं। कारण यह है कि भक्तिसूत्र-

कार प्रमुख भक्ताचार्य्यों में इस विषय में मतैक्य नहीं है। सबने विभिन्न रूपों में इस विषय का प्रतिपादन किया है। इस मत-भेद की विवेचना नारद की 'भक्ति-मीमांसा' में भी की गई है। जैसे—

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्य्यः
कथादिष्वति गर्गः
आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः
तदर्पिताखिलाचारतद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति नारदः

इस प्रकार के मत-पार्थक्य का कारण स्पष्ट है। ज्ञान-काण्ड अथवा कर्मकाण्ड की तरह भक्तिकाण्ड का कोई निश्चित एक मार्ग अथवा एक स्वरूप नहीं है—नहीं हो सकता। कारण यह है कि हृदय की भावुकता ही भक्ति-मार्ग का आधार है। समस्त मानव-समाज में भाव की समानता दुर्लभ है। यदि वह सम्भव होता तो किसी विषय में मत-भेद होने की सम्भावना ही नहीं रहती। जिन भावनाओं ने, जिस स्वरूप में, जिस प्रतीक के अवलम्बन से, जिनके हृदय को, जिस प्रकार भावोद्रेक कर तन्मय किया है, वही भावना, वही स्वरूप, एवं वही प्रतीक, उनको कल्याणकारक प्रतीत हुए एवं गीता के 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' के अनुसार वे माता, पिता, सखा, सखी, बन्धु, स्वामी आदि रूप में रुचि-वैचित्र्य के अनुसार परमात्मा को परिणत करते हुए उसी भाव की मधुरिमा से विभोर होकर आनन्द-निमग्न हो उठे।

भाव का पार्थक्य जो कुछ हो, परन्तु सिद्धान्त का पार्थक्य कुछ नहीं दीख पड़ता। जिस प्रकार उपर्युक्त तीनों प्रमुख मार्गों में किसी एक ही मार्ग का पूर्ण अवलम्बन करने से साधनाशील व्यक्ति परमात्म-तत्त्व को प्राप्त कर सकता है, उसी प्रकार भक्ति-मार्ग के अभ्यन्तर भी सख्य, दास्य, वा दाम्पत्य किसी भी भाव के पूर्ण अवलम्बन से वह अनन्त राज्य प्राप्त किया जा सकता है। केवल भाव की पूर्ण अनन्यता चाहिए। वह अनन्यता आचार्य्यों के मत से जितनी दाम्पत्य भाव में सहज सुलभ दीख पड़ती है उतनी अन्यत्र नहीं। किसी ने इसे 'मधुर भाव' और किसी ने 'महाभाव' की उपाधि से अलंकृत किया है। भक्तिमार्ग में 'मधुर भाव' का कौन सा स्थान है इसका संक्षिप्त विवेचन यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा।

जब सृष्टि के अणु-अणु में माया-ब्रह्म वा स्त्री-पुरुष का ही संयोग चरितार्थ है, जब आधुनिक विज्ञान जड-जगत् में भी, स्त्री-पुंभाव का विकास देखता है, जब मानव-जीवन में पति-पत्नी का सम्बन्ध मनुष्यता का चरम उत्कर्ष माना जाता है, तब ब्रह्मप्राप्ति में 'मधुर भाव' का निवेश-प्रवेश अनायास ही सिद्ध है। उसमें भी ब्रह्म के प्रति माया की अनन्यता, पति के प्रति पत्नी के प्रेम, तथा युवक के प्रति युवती के आकर्षण में जितना त्याग, तल्लीनता तथा उत्कर्ष है उसे विचारवान् सहृदय व्यक्ति ही समझ सकते हैं। उस सत्य प्रेम के मार्ग में कोई पर्वत या समुद्र बाधा नहीं डाल सकता। उस भावुकता के आगे समस्त स्वार्थ, कामुकता, एवं अहंकार

तिरोहित हो जाते हैं। इतना ही नहीं, उस आकर्षक प्रेम में विभोर प्रेमी मर्मान्तक कष्ट में ही अनिर्वचनीय आनन्द, मरण में ही अपूर्व जीवन तथा बन्धन में ही जीवन-मुक्ति का अनुभव करते हैं। ऐसी ही भावुकता भगवान को प्रिय है तथा वही भावुकता उनको कृतकृत्य कर देती है। यह 'भावमिच्छन्ति देवताः' से स्पष्ट है। इसी लिए भावुकता के चिरन्तन सत्य के आधार पर ही भक्तसर्वस्व की उक्ति है—

युवतीनां यथा यूनि यूनांच युवतौ यथा।
मनोऽभिरमते तद्वत् मनोऽभिरमतां त्वयि ॥ *—पद्मपुराण

भक्त-सर्वस्व के उपर्युक्त कथन से तल्लीनता का उत्कर्ष दाम्पत्य भाव में ही अत्यधिक स्पष्ट है। यह भाव जीवात्मा को गोपी, राधा अथवा प्रकृति तथा परमात्मा को पुरुष वा पति समझता है। यथा "गोविन्द एक पुरुषो ब्रह्माद्यास्त्रिय एव च" (पद्मपुराण) अथवा "वासुदेवः पुमानेको नार्यश्च सकलं जगत्"। इस भाव में जीवात्मा प्रेमिका एवं परमात्मा प्रेमी के रूप में कल्पित होते हैं। महामना मनीषी डाक्टर जी. ए. ग्रियर्सन का कथन है—"*To understand the allegory it may be taken as a general rule that Radha represents the soul, the messenger or duti the evangelist or else the mediator and Krishna of course the Diety*".

---

* तुलसीदास ने भी भगवान् रामचन्द्र जी से यही वरदान माँगा है—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि जिमि प्रिय दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम।

दाम्पत्य भावना जिस कारण विशेष उत्कर्ष रखती है उसी कारण पुराणों में—मुख्यतया श्रीमद्भागवत में—इस भाव का विशद वर्णन किया गया है। भक्तावतार नारद ने अपने 'भक्तिसूत्र' में भी आदर्श प्रेम के लक्षण का विवेचन करते हुए उसके उदाहरण में ' यथा व्रजगोपिकानाम् ' सूत्र ही बनाकर रख दिया है। गोपी-गण की प्रेम-महिमा में कुछ रहस्य है, इसी से तो भगवान् कृष्ण को यह कहना पड़ा—

न पारयेऽहं निरवद्य संयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
यामाभजन्दुर्जरगेहश्रृङ्खलाः संवृश्च्यतद्वः प्रतियातु साधुना ॥

—श्रीमद्भागवत

व्रजबालाओं की प्रशंसा करते हुए स्वयं चतुरानन कहते हैं—

षष्टिवर्षसहस्राणि तपस्तप्तं मया पुरा।
नन्दगोपव्रजस्त्रीणां पादरेणूपलब्धये ॥
अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥

सत्यतः जो पहुँचा हुआ भक्त है वही ' मधुर भाव ' की भक्ति का रहस्य एवं उत्कर्ष समझ सकता है। भारत के मध्ययुग में महाप्रभु चैतन्यदेव उसकी साधना अपने जीवन में कर उसके महत्त्व का प्रत्यक्ष प्रदर्शन कर गये हैं। आपके मत से ' मधुर रस ' की साधना सर्वश्रेष्ठ साधना है क्योंकि शान्त, दास्य सख्य, वात्सल्य सभी भावों का समावेश उसमें है। रामानन्द राय से महाप्रभु चैतन्यदेव के साथ साध्य-साधन तत्त्व की जो आलोचना हुई थी उससे कुछ अंश उद्धृत हैं—

* * * *

कृष्ण प्राप्तिर उपाय बहुविधि हय। कृष्ण प्राप्त्येर तारतम्य बहुत आछय ॥
किन्तु यार येइ भाव सेई सर्वोत्तम। तटस्थ हञा बिचारिले आछे तारतम ॥
पूर्व पूर्व रसेर गुण परे परे हय। दुइ तीन गणने पञ्च पर्य्यन्त बाढ़य ॥
गुणाधिक्ये स्वादाधिक्य बाढ़े प्रीति रसे।
शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्येर गुण मधुरेते वैसे ॥
पुनश्च—मधुर रसे कृष्ण निष्ठा सेवा अतिशय।
सख्येर असङ्कोच लालन ममताधिक्य हय ॥
कान्ताभावे निजाङ्ग दिया करेन सेवन।
अतएव मधुर रसे हय पञ्च गुण ॥
आकाशादिर गुण यैछे पर पर भूते।
एक दुइ तिन क्रमे पञ्च पृथिवीते ॥
एइ मत मधुरे सब भाव समाहार।
अतएव स्वादाधिक्ये करे चमत्कार ॥
—चैतन्य-चरितामृत

'मधुर भाव' की इस उच्चता का कारण क्या है? दर्शन में सबसे उच्च आदर्श 'सोऽहम्' भाव की अनुभूति माना जाता है। जितने प्रकार के भक्ति-भाव हैं, यथा दास्य, वात्सल्य आदि में 'सोऽहम्' भाव की अनुभूति का अभाव है। वहाँ ध्याता और ध्येय का पार्थक्य स्पष्ट है। किन्तु दाम्पत्य का आदर्श अर्द्धनारीश्वर शंकर में उत्तम रूप से अभिव्यक्त है। स्त्रीवर्ग प्रेम का आदर्श एवं पूज्य गौरी-शंकर ही को मानते हैं इस भाव में पारस्परिक आकर्षण एवं उद्वेग रहता है; एक को दूसरे में एकाकार होने की व्याकुलता रहती है।

यह अनुभव-सिद्ध बात है कि स्त्री में प्रेम के अनुभव करने की शक्ति एवं तीव्रता पुरुष की अपेक्षा अधिक होती है। इसीलिये न्यूमैन (*Newman*) साहब कहते हैं कि "*If this soul is to go on into higher spiritual blessedness, it must become woman, yes, however manly you may be among men*". (यदि जीव परमानन्द को पहुँचना चाहता है तो उसे स्त्री बनना पड़ेगा, चाहे वह पुरुषों में कितना ही पुरुषत्वशील क्यों न हो।)

इस दृष्टि-कोण से जीवात्मा में पत्नीत्व का आरोप होने से प्रेम-प्रचुर भक्ति-भाव में क्या वैशिष्ट्य घटित होता यह विवेचना का विषय नहीं; वरन् अनुभव का विषय है। दाम्पत्य प्रेम के अत्यन्त उत्कर्ष के कारण ही भगवान् कृष्णचन्द्र जी ने ऐसा भाव प्रकट किया है—

> मन्माहात्म्यं मत्सपर्य्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
> जानन्ति गोपिकाः पार्थ ! नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥—आदिपुराण

पुनश्च—

> सकृदावां प्रपन्नो यस्त्यक्तोपाय उपास्यते।
> गोपीभावेन देवेश ! स मामेति न चेतरः॥—पद्म पुराण

यह मार्ग सहसा समझ में नहीं आ सकता। बिना साधना किये इसका रहस्य समझना बिना तैरे ही समुद्र पार करना है। जो भगवद्-भक्त हैं वही इसका रहस्य समझ सकते हैं। दार्शनिक-प्रवर जीवगोस्वामी ने अपने 'षट् सन्दर्भ' नामक ग्रन्थ में गोपाङ्गना के आदर्श-स्वरूप, निर्बाध,

पूर्ण एवं स्वाधीन प्रेम को मुक्ति से भी दुर्लभ मानकर उसकी साधना को ही परम पुरुषार्थ कहकर प्रतिपादित किया है।

कई समालोचक यह कहते नहीं हिचकते कि वैष्णव-पदावली का अत्यधिक शृङ्गारिक वर्णन स्तुत्य नहीं। परन्तु दाम्पत्य प्रेम का बीज शृङ्गार-रस-सिंचन के बिना अंकुरित नहीं हो सकता। भगवान् वेद ने भी तो इसी प्रसंग को ध्यान में रखकर 'रसो वै सः' कहकर परमात्मा का वर्णन किया है। बिना रस में डूबे 'रसो वै सः' की प्राप्ति असम्भव है। इस प्रसंग में श्रीयुत गुलाबराय ने 'नवरस' ग्रन्थ में जो भाव व्यक्त किया है उसका कुछ अंश यों है—

"शृङ्गार रस को सभी रसों से ऊँचा स्थान दिया गया है। इसे रसराज भी कहते हैं। यह समस्त सुखों का मूल, सकल रसों का राजा, प्रेम-प्रमोद का अधिष्ठाता और प्रीति का प्राण है। ········इसमें प्रीति तो पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। ········'दो का एक' 'भेद में अभेद' का यह एक अच्छा उदाहरण है।····प्रीति-बाहुल्य के कारण इसको ईश्वर-भक्ति का स्वरूप मानते हैं। मनुष्य के सम्बन्धों में सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध दाम्पत्य प्रेम का है। ईश्वर और मनुष्य का सम्बन्ध इससे भी ऊँचा और बढ़ा-चढ़ा होना चाहिए। यही शृङ्गारी उपासकों की उपासना का मूल आधार है। ········यूरोप ने भी ईसाई सम्प्रदाय को मसीह की स्त्री माना और दाम्पत्य प्रेम को प्रेम का आधार माना है। [मुसलमानी मत (सूफी) में भी ईश्वर माशूका (प्रेमिका) और भक्त उनके आशिक (प्रेमी) माने गये हैं।] ········आध्यात्मिक अनुभव की तीव्रता और निश्चयता स्त्री-पुरुष सम्बन्धी प्रेम से अधिक ही है, कम नहीं होती। हमारे अनुभव में

दाम्पत्य प्रेम ही आध्यात्मिक अनुभव के कुछ-कुछ निकट पहुँचता है। हम अपने अनुभव से बाहर नहीं जा सकते। हमारी भाषा हमारे अनुभव से ही बनी है। इस लिए हमको आध्यात्मिक भावों के प्रकट करने में शृङ्गार की भाषा का व्यवहार करना पड़ता है। जब शृङ्गार की भाषा हमारे गहरे अनुभावों का व्यञ्जन कर सकती है तब इसका व्यवहार में लाना मनुष्य जाति के लिए स्वाभाविक है।" [पृ० २३,२४,२५,२६]

शृङ्गारपूर्ण भक्ति के विषय में अब यहाँ पर कुछ अधिक लिखना पिष्ट-पेषण होगा। मनुष्य भावुक जीव है। प्रेम अथवा भक्ति भावुकता का विषय है। भाव की भिन्नता मनुष्य-स्वभाव में है। जो भाव एक व्यक्ति को अच्छा लगता है, वह दूसरे को नहीं। विद्यापति की शृङ्गारी रचना में ऐसे अनेक पद हैं जो अश्लील कहे जाते हैं; परन्तु वे ही पद वैष्णव-समाज में अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। इस प्रसंग में श्रीयुत सुशीलकुमार चक्रवर्ती ने अपने ग्रन्थ "वैष्णव-साहित्य" में जो भाव स्थान-स्थान पर व्यक्त किया है, वह ध्यान देने योग्य है। यथा—

"श्री चैतन्य स्वयं कान्त भावे भजन करितेन बलियाइ, जयदेव, चण्डीदास ओ विद्यापतिर पदावलीते अमन मुग्ध हइया पड़ितेन। एइ सकल पदे, याहा इह सर्वस्व अन्तर्दृष्टिशून्य खोसा भक्षणकारीर निकट रूप-वर्णना ओ नायक-नायिकार शारीरिक सम्बन्धेर चित्राङ्कण ताहा श्री चैतन्य ओ ताँहार साधन-पथावलम्बीदिगेर निकट मधुर रसेर प्रेम-साधनार भजन-गीति ओ परम प्रियतमेर निकट आत्मनिवेदनेर मधुर झंकार"

पुनः—

"ए विषयेर आर आलोचना करिते गेले अनधिकार चर्चा हइया पड़िवे। कारण अनेक भक्त वैष्णव एइ अश्लीलता दोष दुष्ट पदगुलि गाहिते गाहिते पुलकाश्रुपूर्ण लोचने भावे विह्वल हइया यान, अनेक वृद्ध वैष्णव निशीथे नितान्त अन्तरंग संगे एइ सकल पदेर आलोचना करिया अविरल अश्रुमोचन करिया थाकेन। साधारण पाठकेर निकट याहा निन्दनीय, भोगविलासेर, सम्भोगेर विस्तृत निपूण वर्णना सेइ पदइ भक्त वैष्णवेर निकट ये मधुर तत्त्वेर द्वार उद्घाटन करिया देय ताहा बुझिबार साध्य आमादेर नाइ।"

(पृ० १३६, २८४)

मधुर भक्ति के रहस्य से अनभिज्ञ व्यक्ति श्रीमद्भागवत, गीतगोविन्द तथा विद्यापति एवं चण्डीदास आदि की पदावली की शृङ्गारिक कविताओं को दुराचार एवं भ्रष्ट भावनाओं के प्रचार की सामग्री समझते हैं एवं उनसे नाक-भौं सिकोड़ते हैं। किन्तु यह प्राकृतिक अखंडनीय नियम है कि जब तक पुष्पों के मधु मकरन्द की मनोमोहक मादकता रहेगी तब तक झुण्ड-के-झुण्ड मधुप स्वतः पुष्पों पर मँड़रायँगे। जब तक दीपक का प्रकाश होता रहेगा तब तक प्रेमाकृष्ट हो पतङ्ग स्वतः प्राणार्पण करते रहेंगे। जिस समय तक संगीत की स्वर-लहरी में मनोहर मधुर मन्त्र-ध्वनि रहेग उस समय तक मृग चरना छोड़ तन्मय रहेगा ही। उसी प्रकार जब तक मनुष्य का भावुक हृदय अस्थि-पिञ्जर में टँका रहेगा, चुम्बक की भाँति प्रेम-मयी शृङ्गारिक कविता उसे आकृष्ट करेगी ही। हमारी क्षुद्र बुद्धि से सृष्टि

की प्रक्रिया प्रेम ही पर निर्भर है। इसी लिए प्रेम-मयी कविता स्वतः हृदय को वशीभूत कर लेती है। एक बार को कौन कहे, यदि हजार बार कोई शृङ्गारिक कविताओं को जला दे, तोभी पाश्चात्य साहित्य के फिनिक्स पत्ती [Phenix] की तरह अथवा प्राच्य साहित्य के कामदेव की तरह उस भस्म से ही उसका बारम्बार प्रादुर्भाव होता ही रहेगा। यही बात साधारणतया सभी शृङ्गारी कविताओं के विषय में सामूहिक रूप से कही जा सकती है, परन्तु शृङ्गारी कविताओं में भी श्रीमद्वेदव्यास, जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास, आदि की स्वर्गीय शृङ्गारिक कविताओं की अपनी ही अमर सत्ता है। यदि वे सब कविताएँ भ्रष्टाचार प्रचार करतीं तो कब न वे सभ्य मानव-समाज द्वारा विस्मृति के गर्भ में विलीन कर दी जातीं। परन्तु वे कविताएँ सदियों से भक्ति-भावना की लहरें भावुक भक्तों के हृदयों में उठाती आई हैं। इस बीसवीं शताब्दी में भी, जिसे वैज्ञानिक युग कहिये, या धर्म को जहर समझनेवाला साम्यवादी क्रान्ति-युग कहिये, अभी तक, पुण्यमय कार्तिक, माघ एवं वैशाख के महीनों में भारत के अनेकानेक ग्रामों में कथावाचक श्रीमद्भागवत की उन कथाओं को बाँचते नहीं अघाते जिनमें कालिन्दी-कूल पर कृष्ण-द्वारा गोपिकाओं के चीर-हरण × तथा उन्मुक्त

× ततो जलाशयात् सर्वा दारिकाः शीतवेपिताः।
पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोतेरुः शीतकर्षिताः॥

रासलीला * का मनोहर वर्णन है। कथा-वाचक (व्यास) प्रेमानन्द में भावाश्रु बहाते तथा भावुक भक्त-वृन्द के हृदय-सरोवर में भक्ति-भाव का ज्वार उठाते स्वर्गीय दृश्य दिखलाते रहते हैं। श्री जगन्नाथजी के मन्दिर में, तथा मथुरा-वृन्दावन की गलियों में, गीतगोविन्द के

धीर समीरे यमुना तीरे वसति वने वनमाली।
गोपी-पीन-पयोधर-मर्दन-चञ्चल-कर-युगशाली॥

आदि अश्लील कहे जानेवाले पदों की भगवद्भक्ति-उद्रेकिनी, सुमधुर-संगीत-सुधा की सरस धारा प्रवाहित होती रहती है। विद्यापति की शृङ्गारी कविताएँ आज भी बंगाल के वैष्णव-समाज में श्रीमद्भागवत एवं गीतगोविन्द ही की तरह आदरणीय हैं। कितने वंगीय वैष्णव नित्य पूजा पर विद्यापति के सुललित शृङ्गारिक पद गाते हुए भावविभोर दीख पड़ेंगे। शुद्ध मैथिली एवं बङ्गला पाठ-भेद की विवेचना करते हुए विद्यापति के विषय में श्रीयुत सुशीलकुमार चक्रवर्ती लिखते हैं—

"बाङ्गालार मेकि विद्यापतिर सहित बाङ्गालिर अनेक सुख-दुखेर स्मृति जड़ित, अनेक आशा, कामना, सांत्वना ओ वेदनार मर्म गाँथाय पूर्ण, अनेक दिनेर बहु परिचित। अनेक बाङ्गालीर पत्ते विशेषतः वैष्णवेर पत्ते एइ पदइ सुधार भाण्डार, इहार छन्दे छन्दे हृदय-तन्त्री बाजिया उठे, इहारइ प्रति शब्दे मर्म-स्थल स्पर्श करे...।" [पृ० १६१]

---

* बाहु प्रसार परिरम्भ करालकोरु नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः।
क्ष्वेल्याऽवलोक्य हसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयां चकार॥
—श्रीमद्भागवत।

विद्यापति-जयन्ती के अवसर पर श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हुए रायसाहब श्रीयुत दिनेशचन्द्र सेन ने जो भाव-व्यक्त किया था, उससे स्पष्ट है कि श्रीयुत सुशीलकुमार चक्रवर्ती के कथन में जरा भी अतिरंजन नहीं है, यथा—

"When I was a lad seven years old, late Mr. Jagat Bandhu Bhadra brought out the first anthology of Vaishnab songs containing those of Vidyapati and Chandidas. Even at that time these two poets were as intimately familiar to me as my own kith and kin. They have always claimed tears of joy and affection from me by their inspiring songs, the intensity of which can be conceived but not expressed in words. No other person in the world, not even my brother, sister or wife has given me such joy as these two lyric poets have done."

इन सब बातों से स्पष्ट है कि विद्यापति की असाधारण भक्ति-भावोद्भाविनी कविताओं में अवश्य कोई विशेष मार्मिक महत्त्व है। मैथिल-कोकिल की जो शृङ्गारिक काकली प्रेमावतार महाप्रभु चैतन्यदेव को भाव-प्रवणता के आवेश से मूर्च्छित कर देती थी; उनकी जो "की कहब हे सखि आनन्द ओर, चिर दिन मन्दिर माधव मोर" वाली स्वर्गीय रचना अहंभाव का तिरोभाव करती हुई अद्वैताचार्य्य को नचा देती थी और जो शृङ्गारिक गीत पाँच-छः सौ वर्षों से वैष्णव-वर्ग में भगवद्भक्ति की मन्दाकिनी प्रवाहित करते आये हैं, तथा जिन गीतों के विषय में श्रीयुत जा. ए. ग्रियर्सन

का यह मत है—"*The glowing stanzas of Vidyapati are read by devout Hindu with as little of the baser part of human sensuosness as the songs of Solomon* [†] *by the Christian priests.*" उन विद्यापति की कविताओं को कुरुचि, कदाचार वा भ्रष्टाचार का उत्पादक कहें तो यही कहना पड़ेगा कि 'गुन ना हिरानो गुनगाहक हिरानो है।'

यह तो हुई स्वकीया के अनन्य दाम्पत्य भाव की बात। अब परकीया के प्रेम का 'मधुर भाव' में क्या स्थान है, उसका भी थोड़ा विचार कीजिये।

परमात्मा में किस प्रकार लगन लगाना चाहिये, इसका उदाहरण श्रुति ने यह दिया है कि 'तं च जारमिव' अर्थात् जार से मिलने के आवेश में स्त्री का मन सर्वदा उसमें लगा रहता है, पर उसका यह भाव-दूसरे को लक्षित नहीं होता। इसी प्रकार जीव को भी परमात्मा की ओर मन लगाये रहना चाहिए। इसी लिए आचार्यों ने उत्कृष्ट 'मधुर भाव' को अधिक प्रश्रय देने के लिए गोपियों में परकीयत्व का आरोप किया है।

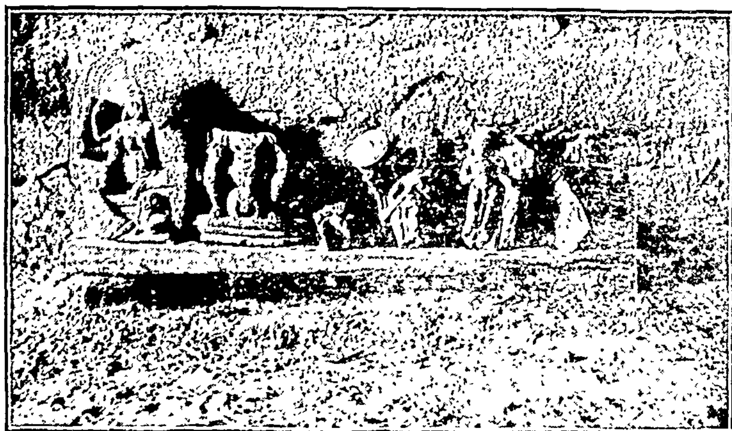
साधारणतया वैष्णव पदावली के एवं विशेषतया विद्यापति के पदों के कतिपय समालोचक ऐसे हैं जो उनकी शृङ्गारी कविताओं में स्वकीया नायिका के क्रिया-कलाप सह सकते हैं, परन्तु जिस स्थान पर परकीया का प्रसङ्ग आया

---

† Let him kiss me with the kisses of his mouth.
... he shall lie all night betwixt my breasts.
His left hand is under my head, and his right hand doth embrace me.
—Bible.



विद्यापति की अंकुरमयी कुलदेवी - बिस्फी ।



विद्यापति के जन्मस्थान बिस्फी के मन्दिर में भग्न मूर्तियाँ ।

है; वहाँ सहसा कह उठते हैं कि ये सब कविताएँ भारतीय आदर्श के विरुद्ध घोर अनाचार के प्रचार एवं प्रसार का आश्रय देती हैं। हम इस प्रसंग में अपना कुछ मन्तव्य प्रकाशित नहीं कर प्रोफेसर श्रीयुत कृपानाथ मिश्र का वह कथन उद्धृत करते हैं, जिसे उन्होंने 'कविता कौमुदी' के सातवें भाग (बंगला) में व्यक्त किया है—

"वैष्णवों के ग्रन्थों को समझने के लिए परकीय रस को समझ लेना बहुत आवश्यक है। यह है पर-स्त्री पूजन। ऐसा भाव हिन्दुओं को पापमय और जघन्य जान पड़ेगा, पर बङ्गाल में इसमें अध्यात्मिकता कुछ इस प्रकार मिश्रित हो गई है कि लोग इन प्रणय-विषयक गीतों को धार्मिक स्तवों से किसी प्रकार कम नहीं मानते।" पृ० ५१

स्वामी रामतीर्थ एवं स्वामी विवेकानन्द दो ऐसे प्रसिद्ध दार्शनिक हो गये हैं जिनपर लोगों की अटूट श्रद्धा है। उनके विचारों का बड़ा मोल है। स्वामी रामतीर्थ स्वयं कविताएँ भी किया करते थे। उनकी कविताएँ भी आशिक-माशूकों की भावनाओं से ओतप्रोत हैं। इस सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द का क्या विचार है, कुछ उसका भी अवलोकन करें—

"प्रायः भक्त गण भगवत्-प्रेम का वर्णन करने के लिए मानवीय प्रेम-भाषा का व्यवहार करते हैं। मूर्ख लोग इस वर्णन को नहीं समझते। समझ भी कैसे सकते हैं? वे इसे जड़ दृष्टि से देखते हैं।....प्रकृत-भगवत् प्रेमी इससे भी सन्तुष्ट नहीं होता। उसकी दृष्टि में पुरुष-पत्नी का प्रेम भी यथेष्ट उन्मादकर नहीं होता। इसलिए वह अवैध (परकीय)

प्रेमभाव ग्रहण करता है; क्योंकि वह अत्यन्त प्रबल होता है। अवैध प्रेम की अवैधता उसका लक्ष्य नहीं होती। इस प्रेम की प्रकृति यह है कि वह जितना ही रोका जाता है, उतना ही उग्र होता जाता है। पुरुष-पत्नी का प्रेम अबाध है, उसमें बाधाएँ और विघ्न नहीं हैं। इसलिए भक्त कल्पना करते हैं कि मानो एक बालिका अपने प्रियतम पर-पुरुष पर आसक्त है; परन्तु उसके पिता, माता और स्वामी इस प्रेम के विरोधी हैं। इस प्रेम में जितनी ही बाधाएँ डाली जाती हैं, उतना ही वह प्रेम और प्रबल भाव धारण करता जाता है।" —विवेकानन्द का 'भक्तियोग'

कुछ समालोचकों का यह भी कथन है कि विद्यापति 'मधुर भाव' की भक्ति के उपासक नहीं थे। उनकी रचना को 'मधुर भाव' की कविता कहना मिथ्या गौरव प्रदान करना है। इस विचार-धारा के समालोचकों का यह मत है कि विद्यापति नितान्त शृङ्गारी थे। राज-दरबार में रहते थे। राजा-रानी की काम-वासना की परितृप्ति के लिए फरमायशी शृङ्गारिक गान की रचना करते थे। राधाकृष्ण के प्रेम की आड़ में वे अश्लील कविताओं की सृष्टि कर गये हैं।

हम यह मानते हैं कि जिस प्रकार चण्डीदास बाँसुली देवी के उपासक कट्टर शाक्त थे, उसी प्रकार विद्यापति प्रकृति-पुरुष के अनन्य भक्त थे। मैथिल-समाज की परिपाटी के अनुसार विद्यापति पञ्चदेवोपासक थे, परन्तु उनकी समस्त रचनाओं के अनुशीलन से स्पष्ट होगा कि वे 'अन्तः शाक्ता बहिः शैवाः सभा मध्ये तु वैष्णवाः' के ही अनुयायी थे। वे शक्ति-मन्त्र में दीक्षित हुए थे जो सर्वथा गोपनीय था, वे प्रत्यक्ष रूप

से शिव की पूजा करते थे और जब सभा या दरबार में जाते थे तो माधव-रंग में ही रँग जाते थे।

विद्यापति एवं चण्डीदास के काव्यमार्ग-प्रदर्शक जयदेव भी 'मधुर भाव' की भक्ति के उपासक थे अथवा नहीं; इसका भी कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। पर इससे कोई हानि भी नहीं है। मानव-जीवन के भाव-समुद्र में डुबकियाँ लगाकर चिरन्तन सत्य को उद्भासित करना कवि का एक महान् कर्त्तव्य है। यदि कुछ समय के लिये मान भी लिया जाय कि विद्यापति कामुक शृङ्गारी थे और वासनापूर्ण अश्लील शृङ्गारिक कविताओं के ही वे एक मात्र रचयिता थे, तथापि यदि वे मानव-जीवन की अनुभूति से कुछ अभिनव और साथ ही चिरन्तन भाव व्यक्त कर सके हैं तो इतने ही से वे अमर रहेंगे। उनकी कविताओं से यदि भक्ति-भाव को सर्वथा वहिष्कृत कर दें तथापि मानव-जीवन की प्रेम-लीला का जो 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' चित्र उन्होंने खींचा है उस बल पर ही उनका महत्व पर्वत की तरह अपना सिर ऊँचा कर सकता है। हाँ, यदि किसी को शृङ्गार रस के नाम से चिढ़ हो तो कोई बात ही नहीं। फिर तो कालिदास, शेक्सपियर, उमरखैयाम आदि विश्व-विख्यात कवियों की कविताएँ भी उस दुर्गन्ध से दूषित करार दी जा सकती हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव से जयदेव एवं चण्डीदास भी 'मधुर भाव' की भक्ति के उपासक नहीं थे। यदि उन दोनों की भी नितान्त शृङ्गारिक कविताओं में धार्मिक स्तोत्र की

पवित्रता अक्षुण्ण मानी जाय, तब विद्यापति ही कौन से बड़े अपराधी हैं कि उनकी कविताओं को उस स्थान से च्युत कर दें ? शृङ्गारमयी रचना यदि सदोष मानी जाय तो वे सब भी दोषी हैं। यदि उक्त कवियों ने धार्मिक भाव से अनुप्राणित होकर शृङ्गारिक रचनाएँ नहीं भी कीं, तथापि यदि भावुक भक्तों के लिये उनमें कृष्ण-भक्ति की मधुरिमा छलकती हो एवं उससे उनकी व्याकुल आत्मा को शान्ति मिले तो उस भाव को नष्ट करना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता।

थोड़ी देर के लिये यदि मान लें कि विद्यापति ने एक रसिक के रूप में प्रथम दर्शन, मिलन, अभिसार, विरह आदि विषयों का वासनात्मक वर्णन किया है, तो क्या उनके विषय गर्हित कहे जायँगे ? क्या सामाजिक जीवन में उन सब क्रिया-कलापों का अस्तित्व है अथवा लुप्त हो गया है ? क्या कवि का कर्त्तव्य केवल दार्शनिक भाव ही प्रदर्शित करना मात्र है ? क्या जीवन के क्रिया-कलाप के चित्रण से कवि को कोई सम्बन्ध नहीं ? यदि यही कवि की कसौटी हो एवं विद्यापति नितान्त शृङ्गारिक ही कवि माने जायँ तो उस दृष्टि से उनके साथ-साथ कालिदास, शेक्सपियर, हाफिज, आदि कवि-कुल-मुकुट भी निम्न श्रेणी के समझे जायँगे। कारण स्पष्ट है कि उनलोगों ने भी पार्थिव प्रेम का वर्णन प्रचुर परिमाण में किया है।

किन्तु यदि विचारा जाय तो इस प्रकार का शृङ्गारिक वर्णन कथमपि गर्हित नहीं माना जा सकता। नैतिकता के

पक्के समर्थक स्वर्गीय कार्लाइल (*Carlyle*) ने कविवर बर्न्स (*Burns*) की शृङ्गारिक रचनाओं का विवेचन करते हुए लिखा है --"*And are wooings and weddings obsolete that there can be comedy no longer? Or are men suddenly grown wise that laughter must no longer shake his sides but be cheated of his Farce? Man's life and nature is as it was and as it will ever be.*" —*Carlyle's Burns.*

साहित्य समाज का दर्पण है। सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब साहित्य-मुकुर पर पड़ता ही है। जिस युग में विद्यापति का आविर्भाव हुआ था वह शृङ्गारिक भाव का युग था। जिस शृङ्गार-सरस्वती को वेदव्यास ने श्रीमद्-भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त्त आदि पुराणों में प्रवाहित किया है उसीका एक अभिनव स्रोत जयदेव ने अपनी गीतगोविन्द नामक पुस्तक में बहाया है। वह अत्यन्त लोकप्रिय हो चला। जयदेव की काव्य-धारा में प्रवाहित होने की एक लोकरुचि-सी हो गई। आगे चलकर विद्यापति 'अभिनव जयदेव' की उपाधि धारण कर भाषा में उस परिपाटी के प्रथम प्रवर्तक हुए। उस युग में वही काव्य की प्रशस्त शैली हो गई। इसका प्रमाण तो विद्यापति का प्रचुर अनुकरण ही है। उस युग की शृङ्गारी धारा में प्रवाहित होने में विद्यापति का दोष नहीं; यदि कुछ अंशों में दोष भी दिया जाय तो लोकरुचि को ही देंगे।

अन्त में इतना निर्देश कर देना आवश्यक है कि सर्वमान्य जनश्रुति के अनुसार विद्यापति एक पहुँचे हुए भक्त थे। अब

प्रश्न यह उठता है कि वे किस देवता के उपासक थे, क्योंकि कहीं तो उन्होंने भगवती, कहीं महादेव एवं कहीं राधाकृष्ण की वन्दना की है। उन्हें कोई शाक्त, कोई शैव, एवं कोई वैष्णव मानता है। हमारी यह धारणा है कि विद्यापति युगल मूर्ति के एक उत्कृष्ट और स्मार्त्त उपासक थे, किसी सम्प्रदाय विशेष के नहीं थे। वे द्वैत सिद्धान्त के अनुयायी थे। वे किसी भी देव-देवी में भेद-भाव नहीं रखते थे जो उनके पदों ही से स्पष्ट है *। 'अभिनव जयदेव' की उपाधि स्पष्टतः प्रमाणित करती है कि हो न हो, जयदेव की कुछ विशेषता अवश्य विद्यापति में थी। इसलिए वे राधाकृष्ण के भक्त रहे हों तो कुछ आश्चर्य नहीं। उनको राधाकृष्ण के भक्त होने में सन्देह नहीं। कारण यह है कि आज तक जितने ताल-पत्र पर लिखित विद्यापति के पद मिले हैं, उनमें एक भी शिव

---

* भल हर भल हरि भल तुअ कला। खने पित वसन खनहि बघछला॥

× × ×

एक शरीर लेल दुइ बास। खने वैकुण्ठ खनहि कैलास॥
भिनहि विद्यापति बिपरीत वानि। ओ नारायण ओ सूलपानि॥

❀ ❀ ❀

भन जयदेव हरि हरक दास। नीलकण्ठ हरि पुरथु आस॥

❀ ❀ ❀

कज्जल रूप तुअ काली कहिअओ उज्जल रूप तुअ बानी।
रवि-मण्डल परचंडा कहिए गंगा कहिए पानी॥
ब्रह्मा-घर ब्रह्मानी कहिए हर घर कहिए गौरी।
नारायण-घर कमला कहिए के जान उतपति तोरी॥

अथवा शक्ति विषयक गीत नहीं प्राप्त हुए हैं। अतएव यह अनुमान करना युक्ति-संगत प्रतीत होता है कि जयदेव की तरह विद्यापति भी युगलजोड़ी के अमर प्रेम के उपासक थे। दूसरे उनके अपने हाथ के श्रीमद्भागवत ग्रन्थ के लेख से, तथा निम्नोक्त दो-चार अवतरणों से यह कहे विना कोई नहीं रह सकता कि वे राधाकृष्ण के भक्त न थे।

विद्यापति एहो भाने, गुजरि भजु भगवाने।

पुनः—भनहि विद्यापति सुनु वर जोवति हरिक चरण कर सेवा।

पुनः—धन्य धन्य तोर भाग गोआलिनि हरि भजु हृदय हुलसिया॥

इतनाही नहीं;विद्यापति को दृढ़ विश्वास था कि यदि कपट छोड़कर कृष्ण का भजन किया जाय तो अन्त में मुक्ति अवश्यम्भावी है—

भनहि विद्यापति सुनहे सुचेतनि हरि सञो कइसन मान हे।
कपट तेजि कहु भजह जे हरि सभे अन्तकाल होए ठाम हे॥

इन प्रमाणों के अतिरिक्त एक और स्पष्ट प्रमाण है जो सिद्ध करता है कि विद्यापति कृष्ण के भक्त अवश्य थे। उन्होंने अपने सान्ध्य-जीवन की पश्चात्ताप की वेदना-भरी विनय में कृष्ण का ही सम्बोधन किया है तथा तुलसी और तिल लेकर उन्हींके चरणों पर—जो इस भवसागर की एक मात्र तरणी हैं अपने को उत्सर्ग कर दिया। उन गीतों के आन्तरिक भावों से विद्यापति के कृष्ण-भक्त होने में जरा भी सन्देह नहीं रह जाता। गीतों का प्रगाढ़ तल्लीनता पर ध्यान दीजिये। इन प्रसिद्ध गीतों की कुछ उद्धृत पंक्तियाँ ये हैं—

माधव बहुत मीनति कर तोय
दय तुलसी तिल देह सोंपल दया जनु छाड़बि मोय।
× × × ×
ए हरि बन्दो तुअ पद नाय
तुअ पद परिहरि पाप-पयोनिधि पारक कओन उपाय ॥

एक सम्पूर्ण गीत ही उपस्थित है—

तातल सैकत बारि बिंदु सम सुत मित रमणि समाजे।
तोहे बिसरि मन ताहि समर्पल अब मझु हब कोन काजे ॥
माधव हम परिणाम निराशा।
तुहुँ जगतारण दीन दयामय अतय तोहर बिशोयाशा ॥
आध जनम हम निंदे गमाओल जरा शिशु कत दिन गेला।
निधुबने रमणी रस रंगे मातल तोहे भजब कोने बेला ॥
कत चतुरानन मरि मरि जायत न तुअ आदि अवसाना।
तोहे जनमि पुनि तोहे समायत सागर-लहरि समाना * ॥
भनये विद्यापति शेष शमन भय तुअ बिन गति नहि आरा।
आदि अनादिक नाथ कहाओसि अब तारण भार तोहारा ॥

अब पाठक-वर्ग ही विचार करें कि विद्यापति की कविता का आधार केवल मात्र शृङ्गार है या 'मधुर भाव' का सर्वोत्कृष्ट भक्ति-मार्ग? प्रो० श्रीयुत जनार्दन मिश्रजी ने अपने 'विद्यापति'

---

* O Light O glory of the human race!
What stream is this which here unfolds itself
From out One Source, and from itself withdraws.
—**Dante-Purgatorio (Tr.)**

Trailing clouds of Glory do we come
From God Who is our Home. —**Wordsworth**
When that which drew from out the boundless deep
Turns again Home. —**Tennyson**

ग्रन्थ में मैथिल कवि की शृंगारिक रचना को रहस्यवादी रचना समझ उन्हें हिन्दी के संत-कवियों की श्रेणी में परिगणित करने का प्रयत्न किया है। विद्यापति की 'अभिनव जयदेव' की उपाधि स्पष्टतया प्रमाणित करती है कि वे जयदेव के स्कूल के थे, न कि कबीर, नानक या दादूदयाल के।

अब प्रश्न यह है कि 'मधुर भक्ति' का मार्ग सर्वगम्य हो सकता है या नहीं? साधना का पथ सहज नहीं। कुछ मार्ग ऐसे अवश्य हैं जिनपर चलने से शीघ्र अभीष्ट सिद्ध हो जाता है। परन्तु ऐसे मार्ग में—जिनके द्वारा सिद्धि बहुत शीघ्र मिलती है—खतरे भी उतने ही अधिक हैं। साथ-साथ भयानक भी हैं। जैसे योग-मार्ग या वाम-मार्ग। भावों की तल्लीनता एवं त्याग के उत्कर्ष के कारण 'मधुर भाव' की भक्ति भी शीघ्र अभीष्ट देने वाली है; तथापि योगमार्ग एवं वाममार्ग की तरह इसमें बड़ी कठिनाइयाँ हैं तथा बहुत बड़ी तपस्या की जरूरत है। कबीरदास ने ठीक ही कहा है—

> प्रेम पियाला जो पिये, सीस दच्छिना देय।
> लोभी सीस न दे सके, नाम प्रेम का लेय॥

शास्त्रों का यह कथन सर्वथा सत्य है कि सब शास्त्रों के अधिकारी सब कोई नहीं हो सकते। उसी तरह 'मधुर भाव' का रहस्य सभी को भावगम्य नहीं हो सकता। भक्त मीराबाई का कथन अक्षरशः सत्य है—"घायल की गति घायल जाने"। जो स्वयं भक्त नहीं है, वह भक्ति का मूल मन्त्र किस रूप से समझ सकता है? भक्ति-तत्त्व का अनुभव एवं अभ्यास

साधारण प्रयास से साध्य नहीं है। प्रेममय भक्ति-तत्त्व अवगत करने की कठिनता को कवि बोधा ने इस सवैया में अच्छी तरह व्यक्त किया है—

अति छीन मृनाल के तारहुँ ते तेहि ऊपर पाँव दे आवनो है।
सुई बेह वे द्वार सकीन तहाँ परतीति को टाँड़ो लदावनो है।
कवि 'बोधा' अनी घनी नेजहुँ ते चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पन्थ कराल महा तरवारि की धार पै धावनो है।

विद्यापति की कविता का आधार

महाकवि विद्यापति की जीवनी से यह बात ज्ञात होती है कि वे उद्भट संस्कृत-विद्वत्कुल के भूषण थे। एक से एक धुरंधर पण्डितों ने 'बिसइवार विसफी' मूल के मैथिल ब्राह्मण-वंश को अपने जन्म से गौरवान्वित किया था। इस कुल के कर्म्मादित्य, शिवादित्य, धीरेश्वर, चण्डेश्वर, ज्योतिरीश्वर आदि विद्वानों की विद्वत्ता प्रसिद्ध है। मिथिला में इस वंश की बड़ी प्रतिष्ठा थी। मिथिला-राज-वंश के सान्धि-विग्रहिक का पद इसी कुल से अलंकृत था। इस विद्वत् परम्परा के कारण ही विद्यापति संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित हुए, साथ ही वे प्राकृत एवं मातृभाषा मैथिली के भी उद्भट विद्वान् थे। उनके समय के पण्डित केवल संस्कृत ग्रन्थ-रचना में ही अपने पाण्डित्य एवं पटुता का प्रदर्शन करते थे; परन्तु विद्यापति ने इस पुरानी परिपाटी का परित्याग कर और भाषा-रचना की ओर प्रवृत्त होकर, पण्डित-मण्डली में क्रान्ति उपस्थित कर दी थी।

विद्यापति संस्कृत-साहित्य-सागर का मन्थन कर चुके थे और इसलिए उनकी रचनाओं पर संस्कृत काव्य की छाप स्पष्ट है। परन्तु अपने अगाध अध्ययन एवं शास्त्रज्ञान के परिचय-प्रेरणा से ही विद्यापति कविता की ओर प्रवृत्त नहीं हुए थे। यथार्थ में विद्यापति की कविता का आधार उनका अपना समाज ही था। वे अपने समाज के गम्भीर तथा सहृदय निरीक्षक थे, इसलिए तत्कालीन सामाजिक स्थिति से वे पूर्णतः प्रभावित थे। 'पुरुष-परीक्षा' 'कीर्ति-लता' एवं 'कीर्तिपताका' आदि ग्रन्थों में उन्होंने अपने समय की सामाजिक स्थिति का पूरा चित्रण किया है। उनके समय में मैथिल समाज कर्मकाण्ड में संलग्न था। इसीलिए 'दुर्गाभक्तितरङ्गिणी,' 'शैव सर्वस्वसार,' 'गङ्गावाक्यावली,' 'गयापत्तलक,' 'दान वाक्यावली,' 'वर्षकृत्य 'आदि कर्मकाण्ड के अनेक ग्रन्थों की रचना कर उन्होंने समाज की आवश्यकता पूरी की। विद्यापति अपने युग का प्रतिनिधि कवि थे। उन्होंने ऐसे एक भी ग्रन्थ की रचना नहीं की जिसमें समाजिक विषय की चर्चा न हो एवं जिसमें समाज के योग-क्षेम की चिन्ता न की गई हो।

कुछ लोगों का कथन है कि ललनाओं द्वारा गाये जाने वाले विविध गीत—जो उपनयन, विवाह, द्विरागमन आदि माङ्गलिक अवसरों पर मिथिला में प्रचलित हैं—मैथिल कोकिल की रचना नहीं है। पर हमारी यह धारणा है कि जिस कारण वे मिथिला के जातीय कवि थे, इसलिए उन्होंने

सामाजिक व्यवहारों पर भी गीत रचे। हाँ, इतना अवश्य है कि आगे चलकर उनके गीत विकृत हो गये। मम्मट के शब्दों में 'व्यवहारविदे' का उद्देश्य रखते हुए उन्होंने केवल पर्व-त्योहारों पर हो रचना न की वरन्,अपने देशी राग-रागिणियों (वटगमनी, मलार, सोहर, तिरहुत) के साँचे में अपने पदों को सजकर 'जयन्त' नामक कत्थक के द्वारा उनका प्रचार करवाया। विद्यापति ने अपनी कविता द्वारा अपने को समाज के साथ इस प्रकार समन्वित कर दिया कि सदियों से मिथिला के नर-नारियों की जिह्वा पर उनके गीत नाचते रहे हैं और भविष्य में भो नाचेंगे।

मैथिल कोकिल की काकली से जातीय जीवन के अनेक पहलुओं की जानकारी मिलती है। राधा-कृष्ण के प्रथम सम्मिलन का जो भावपूर्ण सजीव चित्र उन्होंने अपनी कविता खींचा है उसकी सजीवता प्रत्येक मैथिल को सुहागरात का स्मरण सहसा करा देती है और वे मिथिला के चिरागत व्यवहार के इस प्रकार जीते-जागते वर्णन से मुग्ध हो उठते हैं। एक दो उदाहरण यहाँ पर्याप्त हैं—

> ए सखि ए सखि लए जनु जाहे, हम अति वाली से आरत नाहे॥
> पास जाइते जीउ मोर काँपे, काँच कमले भ्रमर करु झांपे॥

पुनः—

> सुन्दरि चललिह पहु-वर ना, चहुँ दिशि सखि सभ कर धर ना॥
> जइतहिं लागु परम डर ना, जइसे शशि काप राहु डर ना॥

पुनश्च—

कत अनुनय अनुगत अनुबोधि , पति गृह सखिन्ह सोआउलि बोधि ॥
विमुखि सुतलि धनि सुमुखि न होए , भागल दल बहुलावए कोए ॥

हम पूर्व ही कह आये हैं कि विद्यापति की रचना से मिथिला की तात्कालिक सामाजिक अवस्था का परिचय प्राप्त होता है। निम्न श्रेणी के लोगों में अनमेल विवाह का प्रचार विद्यापति के लिये असह्य था, इसपर उन्होंने कितना सुन्दर व्यङ्ग्य किया है उसका अवलोकन करें—

पिया मोर बालक हम तरुणी , कोन तप चुकलहुँ भेलहुँ जननी ।

* * * *

पिया लेलि गोद कए चललि बजार , हटियाक लोक पुछे के लागु तोहार ॥

* * * *

बाट रे बटोहिया तोंही मोर भाइ , हमरो समाद नैहर लेने जाइ ।
कहिहुन बबा किनय धेनु गाइ , दुधवा पिलाय कें पोसता जमाइ ॥

अन्य अनेक सामाजिक प्रसङ्ग भी उनके काव्य में यत्र-त्र उपलब्ध होते हैं। उनकी महेशबानी, नचारी, उचती, योग आदि गीतों में मिथिला के सामाजिक जीवन का बहुत सुन्दर सत्य एवं मार्मिक वर्णन है। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि उन सब गीतों का संग्रह अभी तक हुआ ही नहीं। यदि वे सब गीत संग्रहीत हों तो मिथिला के सामाजिक जीवन पर बहुत-कुछ प्रकाश पड़ सकता है। समाज में अत्यन्त दरिद्र व्यक्ति की अवस्था का चित्र विद्यापति ने इस महादेव की 'नचारी' गान में किस सुन्दरता से चित्रित किया है, देखिये—

टुटले फुटले मड़ैया अधिक सोहाओन हे।
ताहि तर बैसलि गौरी मनहि मन झाँखति हे।

माँगि चाँगि लएला महादेव तमा दुइ धान हे।
बघछाल देलन्हि सुखाय बसहा फुजि खाएल हे।
अदहन देलनि उतारि मनहि मन झाँखथि हे।
घुमि फिरि अओता महादेव किए लय बुझाएब हे।
अदहन देलनि चढ़ाय पैंच जोहए गेलीह हे।
एहन नगर के लोक पैंचो नहि दिअय हे।
भनहि विद्यापति गाओल गाबि सुनाओल हे।
यैह भंगीआ थिक दानी जगत भरमाओल हे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मिथिला के सामाजिक जीवन में अपने पदों द्वारा घुल-मिलकर विद्यापति हमारे सर्वोपरि जातीय कवि बन चुके हैं।

विद्यापति पर अन्य कवियों का प्रभाव

हम पूर्व ही लिख चुके हैं कि विद्यापति संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित थे। अतः उस साहित्य से वे अत्यन्त प्रभावान्वित हुए। उन्होंने, श्रीमद्‌भागवत पुराणादि से लेकर काव्य, नाटक, चम्पू तक, जहाँ से सुन्दर भाव-मकरन्द उपलब्ध हुए, चंचरीक की तरह उनका संग्रह किया। उन सबों का पूरा-पूरा दिग्दर्शन यहाँ असम्भव है। फिर भी पाठकों के मनोविनोदार्थ कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं—

गतिस्मित प्रेक्षण भाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढ मूर्तयः।
असावहंत्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः॥

—श्रीमद्‌भागवत

अनुखन माधव माधव सुमरइत सुन्दरि भेलि मधाई ।
ओ निज भाव स्वभावहि बिसरल अप्पन गुण लुबधाई ॥

—विद्यापति

दूराद्धावति पद्मार्थं मधुलोभान्मधुव्रतः ।
भेकस्तन्नहि जानाति तन्मूर्ध्नि पादमुत्सृजेत् ॥

—ब्रह्मवैवर्त्त पुराण

मालति मधु मधुकर कर पान , सुपुरुष जओ हो गुणक निधान ॥
अबुझ न बुझए भलहुं बोल मन्द , भेक न पिवय कुसुम मकरन्द ॥

—विद्यापति

वदरामलकाम्रदाडिमानामपहृत श्रियमुन्नतौ क्रमेण ।
अधुना हरणे कुचौ यतेते दयिते ते ! करिशावकुम्भलक्ष्म्याः ॥

—जगन्नाथ-भामिनी विलास

पहिल वदरि कुच पुन नव रंग , दिने दिने बाढ़य पिड़य अनंग ॥
से पुनि भइ गेल बीजकपोर , अब कुच बाढ़ल सिरिफल जोर ॥

—विद्यापति

जगौ विवाहावसरे वनस्थली वसन्तयोः कामहुताशसाक्षिणि ।
पिक द्विजः प्रीतमना मनोरमं मुहुर्मुहुर्मंगलमन्त्रमादरात् ॥

—कस्यचित्

देखह माइ हे मनचित लाय , वसन्त विवाह कानन-थली आय ।
मधुकर रमनी मंगल गाव , द्विजवर कोकिल मन्त्र पढ़ाव ॥

—विद्यापति

बाला तन्वी मृदुतनुरियं त्यज्यतामत्र शंका ।
दृष्टा कापि भ्रमरभरतो मंजरी भज्यमाना ।
तस्मादेषा रहसि भवता निर्दयं पीड़नीया ।
मन्दाक्रान्ता विसृजति रसं नेक्षुयष्टिः समग्रम् ।

—विकट नितम्बा

कोमल तनु पराभवे पाओब तेजि न हलब तेहु ।
भमर भरे कि माँजरि भाँगए देखल कतहु केहु ।
नहिं नहिं कय न पतिआयब अपद लागत भोर ।
अधर निरसि धुसर करब भाव उपजत भला ।
विद्यापति भन रभस अधिक दिने दिने शशिकला ।

—विद्यापति

दीर्घा चन्दनमालिका विरचिता दृष्ट्यैव नेन्दीवरैः ।
पुष्पाणां प्रकरः स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः ॥
दत्तः स्वेदमुचा पयोधरयुगेनार्घ्यो न कुम्भाम्भसा ।
स्वैरेवावयवैः प्रियस्य विशतस्तन्व्या कृतं मङ्गलम् ॥

—अमरुशतक

पिया जब आओव ई मझु गेहे , मङ्गल जतहुँ करब निज देहे ॥
कनया कुम्भ करि कुच युग राखि , दरपण धरब काजर देइ आखि ।
वेदि बनाओब अपन अङ्ग मे , झाडु करब ताहि चिकुर बिछाने ॥
कदली रोपब हम गरुय नितम्ब , आम्र पल्लव तहिं किङ्किनी सुझम्प ।

—विद्यापति

लिखति न गणयति रेखा निर्भर वाष्पाम्बु धौत गण्डतला ।
अवधि दिवसावसानम्, मा बभूव इति शंकिता वाला ॥

—आर्यासप्तशती

गमन अवधि तुअ न भेल बिशेख , भीत भरि गेल दिने दिने रेख ॥
ताहि मेटि केअओ न सुनावे , वदन सिचय केओ जल लए धावे ॥

—विद्यापति

संस्कृत के अन्यान्य कवियों के काव्य से प्रभावित होते हुए भी विद्यापति ने मैथिली कविता क्षेत्र में जयदेव को ही अपनाया है । जिस तरह जयदेव ने सर्व प्रथम राग-रागणियों

में अपने गीति-काव्य की रचना की, उसी तरह विद्यापति ने भी उसी ताल में ही अपने गीतों को ढाल दिया। उधर जयदेव ने शृंगार-प्रचुर लीला वर्णन करने में कुछ संकोच न किया तो इधर मैथिल कवि ने भी शृंगारिक भाव प्रकट करने में कलम तोड़ दी। यदि जयदेव को अपनी सुमधुर भाषा पर बड़ी नाज थी, जिसको उन्होंने 'गीतगोविन्द' के निम्न श्लोक में व्यक्त किया है, यथा—

साध्वी माध्वीक चिंता न भवति भवतः शर्करे कर्कशासि ।
द्राक्षे द्रक्ष्यंति के त्वाममृतमृतमसि क्षीर नीरं रसस्ते ॥
माकंद क्रंद कांताधर धरणितलं गच्छ यच्छंति भावं ।
यावच्छृंगारसारस्वतमिह जयदेवस्य विष्वग्वचांसि ॥

तो विद्यापति को भी अपनी भाषा की सुन्दरता का गर्व था, जिसको उन्होंने 'कीर्तिलता' ग्रन्थ में यों व्यक्त किया है—

बाल चन्द विज्जावइ भाषा, दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा ॥
ओ परमेसर हर सिर सोहइ, ई निच्चय नायर मन मोहइ ॥

यहाँ पर दोनों कवियों के कुछ मिलते-जुलते पद उद्धृत हैं—

हृदि बिसलताहारो नायं भुजङ्गमनायकः ।
कुवलयदलश्रेणी कण्ठे न सा गरल द्युतिः ॥
मलयजरजो नेदं भस्म प्रियारहिते मयि ।
प्रहर न हर-भ्रान्त्यानङ्ग! क्रुधा किमु धावसि ॥

—जयदेव

कतहु मदन तन दहसि हमार, हम नहि शङ्कर हउँ वर नारि ।
नहि जटा इह वेनि विभङ्ग, मालति माल सिर नहि यह गंग ।
कण्ठ गरल नहि मृग मद सार, नहि फनिराज उर एह मनिहार ।

—विद्यापति

हरि हरि याहि माधव याहि केशव मा वद कैतव वादम् ।
रजनि-जनित-गुरुजागर-राग कषायितमलस निमेषम् ।

—जयदेव

लोचन अरुण बुझल बड़ भेद, रअनि उजागर गरुअ निवेद ।
ततहि जाइ हरि न करह लाथ, रअनि गमोलह जनिके साथ ।

—विद्यापति

मदनमहीपतिकनकदण्डरुचिकेसरकुसुमविकासे ।
मिलित शिलीमुख पाटलि-पटल कृतस्मर तूण विलासे ।

—जयदेव

नृप आसन नव पीठल पात, कंचन कुसुम छत्र धरु माथ ।
कुन्द वल्लि तरु धरल निसान, पाटल तूण अशोक दल बाण ।

—विद्यापति

दरविगलितमल्लीवल्लिचञ्चत्परागप्रकटितपटवासैः........ ।

—जयदेव

चन्द्रातप उड़े कुसुस पराग, मलय पवन सह भेल अनुराग ।

—विद्यापति

इस प्रकार विद्यापति ने जयदेव के कितने ही भावों का ग्रहण अवश्य किया है; परन्तु उन्होंने उनका केवल अनुवाद नहीं किया । विद्यापति स्वयंभू कवि थे । प्रसादी कविता-कार थे। इसलिए वह स्वयं ही जाज्वल्यमान है । जिस कारण शिक्षा-दीक्षा का प्रभाव मनुष्य-जीवन पर पड़ता ही है इसलिए विद्यापति के भी काव्य में संस्कृत-साहित्य की साधा-रणतया तथा जयदेव की छाप विशेष कर अवश्य पड़ी है।

विद्यापति केवल संस्कृत ही से अनुप्राणित नहीं थे,

प्राकृत एवं अवहट्ट भाषा के काव्यों से भी प्रभावान्वित हुए थे जिसका प्रकृष्ट प्रमाण 'कीर्तिलता' तथा 'कीर्तिपताका' ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

विद्यापति के समय से बहुत पूर्व से ही मैथिली भाषा की रचना का प्रारम्भ हो गया था। बौद्ध सिद्धाचार्य्यों के गान तथा महामहोपाध्याय कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर विरचित 'वर्णन-रत्नाकर' से इसका प्रमाण उपलब्ध होता है। 'वर्णन-रत्नाकर' एक रीति-ग्रन्थ है। यह भाषा कवियों के लिए कविता का गहन मार्ग प्रदर्शित करने के विचार से लिखा गया होगा। महामहोपाध्याय कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर विद्यापति के पितामह-भ्राता थे एवं 'वर्णन-रत्नाकर' ग्रन्थ उनकी पैतृक सम्पत्ति था, इसलिए इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं कि यह ग्रन्थ विद्यापति को कविता-मार्ग प्रदर्शन में बहुत कुछ सहायक हुआ था। विद्यापति ने उस ग्रन्थ से बहुत से भाव लिये हैं। 'कीर्तिलता' में जौनपुर की वेश्या का जो चित्र है उसका मूल रूप 'वर्णन-रत्नाकर' में विद्यमान है। यथा—

"चउवटाकार पुर कनक प्राकार मण्डित चतुरस्र अनेक जे आवास सँ मण्डित……सौगन्ध सौरभ कुसुमक ई ग्रन्थनावस्तुक धूप, शरीरक ई परिष्कार, केशक ई सम्मार्ज्जन, अलङ्कारक उपनय, दूतिक गतागत, भुजङ्गक आलाप, ……नायिकाक अलङ्कार, अर्थक ग्रहण एवं व्यावृत्य ओ अनेक लम्पाक देखु। अह पुन कइसन, कृत्रिम लज्जा, कपट तारुण्य, धनार्थे प्रेम, लोभार्थे विनय, कारने सौभाग्य, निर्म्मुक्त स्वामि सिन्दूर……मुख मण्डने

वेन्हि विनय कथनी परिहास पेलसली. सुन्दरी साथ जबे नागर जन देखथि तवें चारि-पुरुषार्थ—जाति, लज्जा, धन, प्रतिष्ठा, उपेखथि।"

—वर्णन-रत्नाकर

"राज पथक सन्निधान सञ्चरन्ते अनेक देखिअ वेश्यान्हि करो निवास।
जन्हिके निम्मांणे विश्वकम्महु भेल बड़ प्रयास॥
अवरु वेथिक्षी कहनो का।
जन्हि केस धूप धूम करि रेखा ध्रुवहुँ उप्पर जा॥
लज्ज कित्तिम कपट तारुन्न।
धन निमित्ते धर पेम, लोभे विनअ, सौभागे कामन॥
बिनु स्वामी सिन्दूर परा परिचय।
अपा मन जँ गुण मन्ताअ लहना गौरवे लहइ भुअङ्ग।
वेसा मन्दिरे धूअ वसइ धुत्त हरुअ अनङ्ग।

तन्हि वेश्याहि करो सुखसार मण्डन्ते, अलक तिलक पत्रावली खण्डन्ते, दिव्याम्बर पिन्धन्ते, उभारि उभारि केश पाश बन्धते, सखीजन प्रेरन्ते, हँसि हेरन्ते.......वेन्ही विअख्खनी परिहास पेशणी सुन्दरी सार्थ जबे देखिअ तबे मन कर तेसरा लागि तीनू उपेखिअ॥" पृ० १३

—कीर्तिलता—हरप्रसाद शास्त्री संस्करण

विद्यापति से कुछ समय पूर्व मैथिली भाषा के प्रथम नाटककार महामहोपाध्याय उमापति उपाध्याय हो गये हैं। यह मत भाषा-विज्ञान-वेत्ता डाक्टर ग्रियर्सन का है। अतः उमापति की कविताओं से विद्यापति का प्रभावान्वित होना सर्वथा सम्भव है। विद्यापति ने उमापति उपाध्याय के 'पारिजात-हरण नाटक' से भाव ग्रहण किये हैं। विस्तार-भय से यहाँ

उससे केवल दो उदाहरण उपस्थित करते हैं—

सहस पूर्ण शशि रहओ गगन वसि दहओ दशओ दिस दन्दा।
भरि वरिसओ विस वहओ दहओ दिस मलय समीरन मन्दा।

—उमापति

सोइ कोकिल अब लाख डाकओ लाख उदय करु चन्दा।
पाँचबाण अब लाख बाण होउ मलय पवन बहु मन्दा।

—विद्यापति

हरि सों प्रेम आस कए लाओल पाओल परिभव ठामे।
जलधर छाहरि तर हम सुतलहुँ आतप भेल परिनामे।

—उमापति

आनन भरम सेवलि हम सजनी पुरत सकल मन काम।
कन्तक दरस परस भेल सजनी सीमर भेल परिनाम।

—विद्यापति

अन्य कवियों पर विद्यापति का प्रभाव

पूर्व प्रकाश में हमने विद्यापति को अपने पूर्ववर्ती कवियों से प्रभावित होने का प्रमाण दिया है। अब हमें यह देखना है कि विद्यापति ने परवर्ती कवियों पर क्या प्रभाव डाला है। विद्यापति मैथिली एवं वङ्गला भाषाओं के कवि-कुल के लिये केवल गुरु ही न थे, यथार्थ में उन दोनों साहित्यों के सुमधुर स्रोत का उद्गम स्थान उनकी कविता-गंगोत्तरी ही था। यद्यपि इनसे पूर्व बंगाल एवं मिथिला में लोक-भाषा के

दो-चार कवि अवश्य हो गये थे, तथापि भाषा-विज्ञान के दृष्टि-कोण से उन कविताओं का जो मूल्य हो, परन्तु कवित्व के हिसाब से उनका अधिक मूल्य नहीं। जिस हेतु विद्यापति के समय में वंग-साहित्य का उत्कर्ष अत्यल्प था, इसलिए यह अनुमान असंगत नहीं कि वे बंगीय कविओं से प्रभावान्वित नहीं हुए थे। प्रत्युत हम देखते हैं कि मैथिल कवि के प्रभाव से प्रायः सभी परवर्ती बंगीय कवि अनुप्राणित हैं। उन दिनों बंगाल का विद्यापीठ मिथिला ही था। झुंड-के-झुंड बंगीय मेधावी छात्र यहाँ शिक्षा के लिये आते थे और शास्त्रीय शिक्षा के साथ ही विद्यापति आदि मैथिल कवियों के गीत अपने साथ ले जाते थे। श्रीयुत सुनीतिकुमार चटर्जी कहते हैं— *Bengali scholars would come back home after finishing their studies in Mithila not only with Sanskrit learning in their heads but also with Maithili songs on their lips—songs by Vidyapati and also probably by his predecessors and successors.* पृ० १७

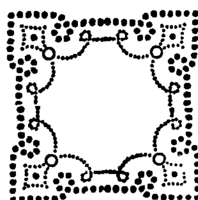
—*Varna-Ratnakara*

'वंग भाषा ओ साहित्य' ग्रंथ में राय साहब श्रीयुत दिनेश चंद्र सेन ने तो साफ लिखा है कि बंगाल के अनेक प्रथम श्रेणी के कवि विद्यापति के शिष्य थे; यथा—"आमादेर अनेक गुली प्रथम श्रेणीर कवि विद्यापतिर शिष्य। विद्यापतिर शिष्यत्व आमादेर नूतन कथा नहे"

वास्तव में महामहोपाध्याय विद्यापति ठाकुर एक ऐसे अलौकिक सारस्वत वैभव-सम्पन्न कवि थे कि जिनकी

कविताओं के चारु चमत्कार से अनेक प्रांत विमुग्ध हुए।

अंग्रेजी साहित्य में चार्ल्स लैम्ब (*Charles Lamb*) एक विज्ञ समालोचक हो गये हैं। अंग्रेजी साहित्य के महाकवि स्पेन्सर (*Spencer*) की इन्होंने *'Poet's Poet'* अर्थात् कवियों का भी कवि कह कर प्रशंसा की है। यदि हम भी विद्यापति को उस उपाधि से विभूषित करें तो कोई अतिरंजन वा पक्षपात नहीं कहा जा सकता। स्पेन्सर की कविताओं की तरह उनके काव्य ने भी अनेकानेक कवियों के हृदय-क्षेत्र में कविता का बीज वपन कर प्रस्फुटित तथा परिवर्द्धित किया है। यदि चण्डीदास, ज्ञानदास, नरोत्तमदास, रवीन्द्रनाथ आदि बंगाली कवि; गोविन्द दास, रमापति, कर्ण जयानंद, चन्दा झा प्रभृति मैथिल कवि; भूपतीन्द्र मल्ल, जगज्योतिर्मल्ल, रणजीत मल्ल आदि नेपाली कवि; तथा सूरदास, हितहरिवंश तथा नन्ददास आदि हिन्दी अष्टछाप के कवियों की कविताओं का अनुशीलन करें तो यह आसानी से ज्ञात होगा कि विद्यापति की अमिट छाप उन सबों की कविताओं पर किस प्रकार पड़ी है।





तुलनात्मक आलोचना

Criticism was the eldest daughter of Labour and Truth.

—**JOHNSON.**

The whole art of criticism consists in learning to know the human being who is partially revealed to us in his spoken or his written words.

Leslie Stephen.

पहले जो अवतरण उद्धृत किये गये हैं उनसे पाठकों को अनुमान हो गया होगा कि विद्यापति किस प्रकार संस्कृत कवियों से अनुप्राणित हुए थे। भारत के प्रत्येक प्रान्तीय भाषा के कवियों ने संस्कृत के विशाल साहित्य से ही सर्व-प्रथम अपनी रचना का प्रश्रय प्राप्त किया था। फिर भी विचारणीय विषय यह है कि परवर्ती कवियों ने अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों का निकृष्ट अनुवाद ही कर लिया है अथवा वे उनके मूल भाव में अपनी कल्पना से कुछ चमत्कार एवं रमणीयता लाने में कृतकार्य हो सके हैं। भारती किसी कवि की क्रीत दासी नहीं। जिस कवि की साधना जैसी कठोर रहती है, उनकी रचना भी उसी अनुपात से उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट होती है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि अमुक कवि

अमुक कवि से प्राचीन थे इस लिए हो न हो, पूर्ववर्ती कवियों की कविताएँ ही अवश्य उत्तमोत्तम हैं। ऐसा कहना सचमुच सत्समालोचना का मूलोच्छेद करना है। यह मत अंग्रेजी के सफल समालोचक एवं कवि मैथ्यू आर्नल्ड (*Matthew Arnold*) का है तथा आचार्य्य आनन्दवर्द्धन ने भी 'ध्वन्यालोक' में इसी मत का प्रतिपादन किया है।

आगे चलकर हमने संस्कृत, बङ्गला, हिन्दी, मैथिली तथा अंग्रेजी भाषाओं के प्रमुख-प्रमुख कवियों की रचनाओं से महाकवि विद्यापति की कविता का यत्किंचित् तुलनात्मक विवेचन समुपस्थित करने का यत्न किया है। उससे हमारा तात्पर्य्य यह कदापि नहीं कि विद्यापति उन भाषाओं के महारथियों से बढ़े-चढ़े हैं। एक महाकवि किसी दूसरे महाकवि से सर्वांश में कदापि बढ़ नहीं सकता। दोनों को अपना अपना विशिष्ट क्षेत्र रहता है जिसमें एक दूसरे से सर्वथा निराले रहते हैं। हम यह मानते हैं कि विद्यापति की सारी-की-सारी रचनाएँ उत्कृष्ट नहीं, उनकी कविता की खान से सभी कोहनूर ही नहीं निकले। किसी कवि की सारी रचनाएँ उत्कृष्ट हो नहीं सकतीं, क्योंकि मनुष्य गुण-दोष का समन्वय है। जब सर्व दोष शून्य ब्रह्मा ही की रचना दोष-रहित नहीं, तब मनुष्य की क्या बिसात? तुलनात्मक समालोचना का मुख्य तात्पर्य्य यह है कि साहित्य-रसिक देखें कि एक ही भाव भिन्न-भिन्न कवियों की कल्पना-तूली से किस तरह चित्रित हुआ है।

विद्यापति और संस्कृत कवि

कालिदास और विद्यापति

संस्कृत साहित्य के सिरमौर कालिदास के कवित्व का उत्कर्ष विश्ववंदनीय है। महाकवि कालिदास और महाकवि विद्यापति में बहुत बातों की समता है। कालिदास उज्जयिनी के विक्रमादित्य की राज-सभा के भूषण थे तो विद्यापति मिथिला के महाराज शिवसिंह के दरबार के अलंकार थे। यदि कालिदास ने अपनी अनुपमेय उपमा, सुमधुर शब्द-योजना एवं जीवन-भावना का अभिनव कल्पना से विश्व-भारती की पूजा की थी तो हमारे विद्यापति ने आवेगमयी राग-रागिणियों में अपने जीवन के सुमधुर भावोच्छ्वास को घोलकर स्वर्गीय संगीत से वीणापाणि की अर्चना की है। कालिदास के समान ही वे लोकप्रिय हैं। कालिदास ने यदि शृङ्गार की सुमधुर सृष्टि की तो विद्यापति ने भी आदिरस की अजस्र धारा बहाई। उन्होंने यदि उपमा अलंकार लिखने में कलम तोड़ दी तो इन्होंने भी उन्हीं का पदानुसरण कर उपमा के कोष को मानो रिक्त कर दिया।

अब यहाँ पर कालिदास और विद्यापति की एक-दो कविताओं को देखिये—

> कलमन्यभृतासुभाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्।
> पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूत-लतासु विभ्रमाः।

त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया ।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं नत्ववलम्बितुं क्षमाः । *

इन वैतालीय छन्दों में कवि ने अज के द्वारा दिवङ्गता इन्दुमती के सौन्दर्य और प्रेम को सुन्दर शैली में एक नये ढंग से व्यक्त किया है। इन्दुमती स्वर्ग जा रही है। उसे मालूम है कि उसके प्रियतम को जो पल भर भी उससे अलग नहीं हुए- इस लम्बे वियोग के लिये—धैर्य-बन्धन की आवश्यकता है। इसलिए अपने गुणों को वह यों छोड़ती गई जिससे उन्हें आश्वासन मिले। कोयल के पास मृदुस्वर, राजहंसी में मद-भरी चाल, मृगियों में चंचल चितवन और वायु-वीजित लताओं में विलास रख छोड़े। पर विरही अज को आज ये सब उलटे धूप-सताये को सेंकना-जैसा मालूम हो रहा है। कालिदास की यह चमत्कारिणी उक्ति किस कवि को न प्रभावित कर सकी ? विद्यापति भी उस प्रभाव से न बचे। उन्होंने एक सर्वथा अनोखे ढंग से इस भाव को अपनाया है—

माधव आब न जीउति राही ।
जतवा जनिकर लेनें छलि सुन्दरि से सभ सोंपलक ताही ॥
सरदक ससधर मुखरुचि सोपलन्हि हरिनके लोचन लीला ।
केस पास चामरु कें सोपलन्हि पाए मनोभव पीड़ा ॥

---

* श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं ।
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रू-विलासान् ।
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चंडि! सादृश्यमस्ति । —मेघदूत

दसन बीज दाड़िम कें सोपलन्हि पिक कें सोपलन्हि बानी।
देह दसा दामिनि कें सोपलन्हि ई सभ ऐलहु जानी॥
हरि हरि कए पुनि उठति धरणि धरि रैन गमावए जागी।
तोहर सिनेह जीव दए जापथि रहलिह धनि एत लागी॥
भनहि विद्यापति सुनु मथुरापति गमन न पुरिए विलम्वे।
जाइ पिआविए अधर सुधारंस तों पए जीव त जीवे॥

कालिदास की प्रतीपोपमा में चमत्कार कूट-कूट कर भरा है, परन्तु विद्यापति ने काम- पीड़ा की दशा में जीवन से ऊबी हुई नायिका-द्वारा उपमान की सारी सामग्रियाँ उन्हें पुनः समर्पित करने की भावना जगाकर भावी आशंका की एक झलक दिखाई है जो नायक के प्रति दूती के अनुरोध का पोषक है। मृत्यु को समीप जानकर नायिका दिल खोल कर दान दे रही है; परन्तु प्रियतम के स्नेह का ममत्व इतना अधिक है कि उससे छोड़ ही नहीं सकती। इसलिए प्रियतम के प्रेम को तिल-तिल घुलकर भी रक्षा कर रही है। इस प्रकार प्राणों की बाजी लगाकर प्रेम की रक्षा का जो आदर्श विद्यापति ने दर्शाया है वह सर्वथा उन्हीं के योग्य है। "अधर सुधारस" की चर्चा कवि की महान रसिकता का परिचायक है। सौन्दर्य्य, प्रेम और विरह तीनों की सुन्दर त्रिवेणी विद्यापति ने यहाँ बहाई है।

कालिदास के जगत्प्रसिद्ध अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में एक श्लोक है --

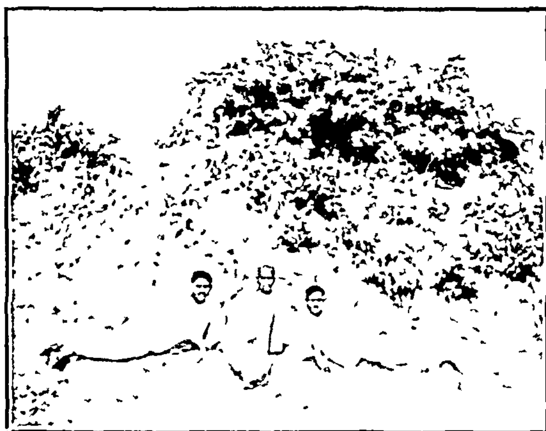
दर्भाङ्कुरेण चरणक्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्।

इस भाव की अनुच्छाया पर विद्यापति का एक गीत यह है—

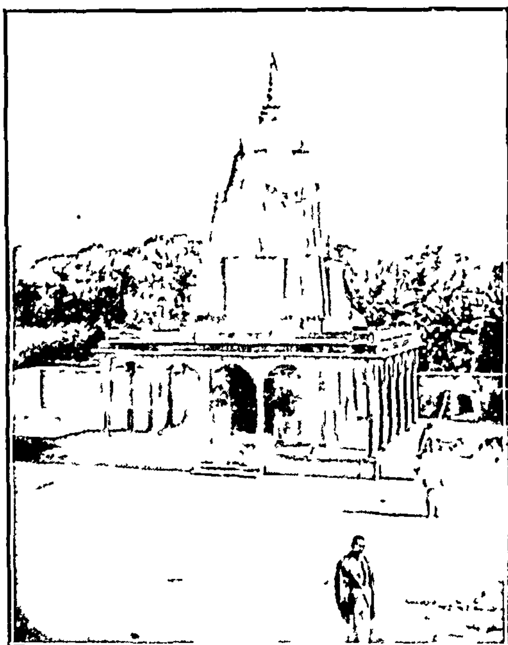
नहाइ उठलि तीरे राहि कमल मुखि समुखे हेरल वर कान ।
गुरुजन संगे लाजे धनि नत मुखि कैसने हेरब बेयान ।
सखि हे अपरुब चातुर गोरि ।
सब जन तेजि अगुसरि सञ्चरि आड़ बदन तहि फेरि ।
तँहि पुन मोति हार टूटि फेंकल कहइत हार टुटि गेल ।
सब जन एक एक चुनि सञ्चरु श्याम दरश धनि लेल ।

दोनों कवियों की नायिकाएँ प्रियतम के दर्शनों के लिए एक व्याज रचती हैं। शकुन्तला तपोवन की कुमारी ठहरी। दुष्यन्त के साथ जहाँ भेंट होती है वहाँ की वन-भूमि का कुश काँटों से भरा रहना स्वाभाविक है। इसलिए कालिदास की शकुन्तला, काँटों से पैर बिंध जाने, एवं वल्कल का तरुओं की शाखाओं में उलझ जाने का बहाना कर प्रियतम के मुखचन्द्र की चकोरी बनती है। परन्तु विद्यापति की वृषभानु-किशोरी राजनन्दिनी ठहरी, इसलिए वह मोतियों की माला को चुपके बिखेर कर सभी गुरु जनों को चुनने में लगाकर श्याम-घन की मयूरी बनती है।

(२) शकुन्तला और राधा दोनों के मन में प्रियतम के दर्शन की उत्कण्ठा लहरें मार रही हैं। साथ चलनेवाली सुन्दरियाँ समझ न जाँय इस लिए कोई बहाना चाहिये। शकुन्तला को पैर में काँटे गड़ाने का बहाना स्वाभाविक होते हुए भी कष्ट की भावना उत्पन्न करता है और उसको पैर की पीड़ा-चाहे वह बहाना ही हो—देखने से रोक सकती है। काँटे



विद्यापति की 'डीह' (बिस्फी): अपने दो साथियों के बीच बैठा लेखक।



विद्यापति की समाधि पर शिव-मन्दिर-बाजितपुर (मउ)।

गड़ने की हालत में दृष्टि पैर की ओर आकृष्ट होनी चाहिये; परन्तु वह दुष्यन्त की ओर निक्षिप्त की जाती है, इस हेतु इस व्याज में भी लज्जित होने की पूरी संभावना है; परन्तु यह बात विद्यापति में नहीं। विद्यापति की राधा का हार टूटने से सब सहचरियाँ मोती जैसा बहुमूल्य पदार्थ चुनने में संलग्न रहती हैं। इस अवस्था में राधा को पूरा अवसर मिलता है, श्याम की रूप-सुधा को चिर-पिपासित नयनों से पीने के लिये। यहाँ की भावना में न किसी प्रकार की वेदना का लेश है और न लज्जित होने की ही संभावना। जहाँ तक रसिकता का प्रश्न है, विद्यापति यहां बढ़े हुए हैं।

माघ और विद्यापति

'माघे सन्ति त्रयो गुणाः' वाली उक्ति को कौन नहीं जानता ? माघ के ऐसा दुर्द्धर्ष विद्वान् कवि संस्कृत साहित्य में दूसरा कोई हुआ या नहीं; कहना कठिन है। माघ की कविता में मस्तिष्क की जादूगरी के एक से एक उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। यहाँ उनके एक श्लोक की अद्भुत छटा का अवलोकन करें--

वासांसि न्यवसत यानि योपितस्ताः शुभ्राभ्रद्युतिभिरहासि तैर्मुदेव।
अत्याक्षुः स्नपनगलज्जलानि यानि स्थूलाश्रु स्नुतिभिररोदितैः शुचेव॥

माघ का उपरि उद्धृत श्लोक संस्कृत कविता के चमत्कार का एक नमूना है। सद्यः-स्नाता नायिका का वर्णन इतने अच्छे ढंग से बहुत कम कवियों ने किया है। देखिये, सरोवर से

नायिका निकलकर भींगे कपड़े उतारने के लिए नई धुली साड़ी पहन रही है। नये वस्त्र उस देवस्पृहणीय अंग के स्पर्श का सुख लूटेंगे और बेचारे भींगे कपड़े का स्पर्श-सौभाग्य शीघ्र ही बीतनेवाला है। इसलिए धुले कपड़े का अपनी स्वच्छता में हँसना और भींगे कपड़े का टपकते जल-बिन्दु में रोना बड़ा ही स्वाभाविक और विदग्धता-पूर्ण है। कविवर माघ की कल्पना जितनी दूर तक सराही जाय, कम ही है।

अब जरा विद्यापति की सद्यःस्नाता को देखिये—

जाइत पेखल नहाइत गोरी, कति सञे रूप धनि आनलि चोरी॥
केश निंगारइत बह जलधारा, चामरे गलय जनि मोतिम हारा॥
अलकहिं तीतल तहिं अति शोभा, अलि कुल कमले बेढ़ल मधु लोभा॥
नीर निरञ्जन लोचन राता, सिन्दुरे मण्डित जनि पङ्कज पाता॥
सजल चीर रह पयोधर सीमा, कनक बेलि जनि पड़ि गेल हीमा॥
ओ नुकि करतहि चाहे किय देहा, अबहिं छोड़ब मोहि तेजब नेहा॥
ऐसन रस नहि पाओब आरा, इथे लागि रोइ गलय जलधारा॥
विद्यापति कह सुनह मुरारि, वसन लागल भाव रूप निहारि॥

माघ का सद्यःस्नाता वस्त्र परिवर्तन कर रही है और विद्यापति की सद्यःस्नाता अभी-अभी सरोवर से निकल ही रही है। भींगे परिधान को त्यागे जाने की सम्भावित आशङ्का है। इसलिए वह अंगों में लिपटकर, आँसुओं से गिड़-गिड़ाकर, वहीं रह जाना चाहता है। विद्यापति के रसिया वसन का—नायिका के अङ्गों में लिपटकर छिपने का—भाव

अनूठा है। माघ की सूक्ति से अनुप्राणित होकर भी विद्यापति की छिपने की कल्पना अधिक हृदयाह्लादक है। जहा तक माघ के रोने के भाव प्रदर्शन का प्रश्न है, विद्यापति के हाथों वह विगड़ न सका। छिपकर अंगों में लिपटकर रोने में जो अनुराग का आतिशय्य अभिव्यञ्जित होता है वह अकथ-नीय है। इसके अतिरिक्त विद्यापति ने जो अनुपम उपमाओं से अपने गीत को सजाया है वह उसे कितना चमत्कृत वना रहा है, काव्य-मर्मज्ञ ही कहें। उन्होंने भाव और अलंकार के सुन्दर प्रदर्शन के साथ-साथ अपने पदों में सद्यः स्नाता का सुन्दर चित्र चित्रित कर दिया है, जो सर्वथा चित्ताकर्षक हो उठा है। माघ कवि का एक श्लोक निम्न छटा का है—

वचनैरसतामहीयसो न खलु व्येति गुरुत्वमुद्धतैः।
किमपैति रजोभिरौर्वरैरवकीर्णस्य मणेर्महार्घता।

विद्यापति ने उस भाव को निम्न पद में दर्शाया है—

वड़ जन जनो कर पिरीति रे, कोपहु न तेजय रीति रे।
काक कोइल एक जाति रे, भेमँ भमर एक भाँति रे।
हेम हरदि कत वीच रे, गुनहि वुझिअ ऊच नीच रे।
विद्यापति अवधान रे, सुपुरुष न कर निदान रे।

माघ का उपरितन श्लोक दुर्जनों के उद्धत वचनों से तिरस्कृत सज्जनों को आश्वासन देता है। वह वतलाता है कि धूलियों से रौंदी मणियों की कीमत नहीं घटती। विद्यापति ने उसी भाव को 'मणि कादो' के द्वारा व्यक्त किया है। इस पद में दुर्जन और सुजन के भेद का अनेक उपमाओं द्वारा विद्यापति ने आकर्षक ढंग से वाचकों के समक्ष उपस्थित किया है।

श्रीहर्ष और विद्यापति

नैषधीय चरित महाकाव्य के रचयिता श्रीहर्ष का ललित रचना किसके मन को नहीं हर लेती ? भाव-सौन्दर्य्य के साथ भाषा की मधुरता में वे महाकाव्यकारों को बहुत पाछे छोड़ आगे निकल जाते हैं। उनकी एक रचना पर दृष्टिपात करें—

इषुत्रयेणैव जगत्त्रयस्य विनिर्जयात्पुष्पमयाशुगेन।
शेषाद्विवाणी सफलीकृतेयं प्रिया दृगम्भोज-पदेभिषिच्य ।

इसी भावका आश्रय लेकर विद्यापति की रचना का अवलोकन करें—

सुधामुखि के बिहि निरमिल बाला ।
अपरुब रूप मनोभव मंगल त्रिभुवन विजयी माला

× × ×

तीन वान तिन भुवन मदन जिति अवधि रहल दुइ बाने ।
विधि बड़ दारुण बधिते रसिक जन सौंपल तोहर नयाने ।

श्रीहर्ष ने दमयन्ती के नेत्र-वर्णन में जो भाव व्यक्त किया है विद्यापति ने भी राधा के लिए उसीका अनुकरण किया है। कामदेव 'पञ्चबाण' कहलाते हैं। त्रिभुवन-विजय के लिए तीन बाण तो काम आये, बचे हुए दो बाण युवती के नेत्र-युगल बने। [न मालूम, एक नायक को जीतने के लिए कामदेव ने दो बाणों का प्रयोग किस अभिप्राय से किया?] इतना तो ठीक, पर नैषधीय चरितकार ने दृष्टि में अम्भोज का आरोप कर पुष्प-बाण का रूपक बाँधने में बड़ा सफलता प्राप्त की है तो विद्यापति

ने भी वकौल विहारी लाल 'चल चित वेधै चुकति नहिं, वंक विलोकनि वान' वाली आँखों से 'वधिते रसिक जन' कहकर विधि की दारुणता को वहुत सुन्दर ढंग से प्रकट किया है। नयन-वाण की सार्थकता साफ-साफ दिखला दी गई है। वाण के प्रहार से किसी का वध सहज अनुभव-सिद्ध है, परन्तु केवल वाण से-किसी के ऊपर विना प्रहार किये-जय प्राप्त करना कवि की कल्पना में ही सम्भव हो सकता है।

दमयन्ती के विरह-वर्णन से दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं।

विरहतापिनि चन्दनपांशुभिर्वपुषि सार्पितपाण्डिममण्डना।
विषधराभविसाभरणा दधे रतिपतिं प्रति शंभुविभीषिकाम्।
रतिपतिप्रहितानिल हेतितां प्रतियती सुदती मलयानिले।
तदुरुताप भयात्त मृणालिकामयमियं भुजगास्त्रमिवादितः।

नैषधीयचरित के ऊपर के प्रथम पद में दमयन्ती जब काम के द्वारा वहुत सताई गई तब वह चन्दन-चर्चित पाले पड़े शरीर पर सर्पाकार कमल-नाल को धारण कर भस्म-भूषित भुजङ्ग-धारी भोला वावा बन गई। कामदेव को डराकर भगाने का अच्छा उपाय नायिका ने सोच निकाला। दूसरे छन्द में काम के वायव्यास्त्र का भुजगास्त्र द्वारा निष्फल करना भी श्रीहर्ष की प्रतिभा के अनुकूल ही है। कुछ इन्हीं भाव-सूत्रों की व्याख्या कवि-कोकिल ने अपने निम्नाङ्कित गीत में की है—

माधव कठिन हृदय परवासी।
तुअ पेयसि मोज देखलि वराकिनी अबहु पलटि घर जासी।
हिमकर हेरि अवनत कर आनन कर करुणा पथ हेरी।
नयन काजर लए लिखए विधुन्तुद भए रह ताहेरि सेरी।

दखिन पवन बह से कइसे जुवति सह कर कवलित तसु अंगे ।
गेल पराण आश दय राखए दश नखे लिखए भुअंगे।
मीनकेतन भय शिव शिव धनि कए धरनि लोटावए गेहा ।
करे रे कमल लए कुच सिरिफल दए शिव पूजय निज देहा ।
परभृत के डरे पाअस लए करे बाएस निकट पुकारे ।
राजा शिवसिंह रूपनरायण करथु विरह उपचारे ।

काव्य-मर्मज्ञ ही देखें कि इस व्याख्या का सांगोपांग बनाने में विद्यापति ने कैसी चातुरी दिखाई है !

श्रीहर्ष का दूसरा पद इस प्रकार है—

अधित कापि मुखे सलिलं सखी प्यधित कापि सरोजदलैः स्तनौ ।
व्यधित कापि हृदि व्यजनानिलं न्यधित कापि हिमं सुतनोस्तनौ ।

विद्यापति ने इस भाव को किस सुन्दरता से अपनाया है—

माधव कत परबोधब राधा ।
हा हरि हा हरि कहतहि बेरि बेरि अब जीउ करव समाधा ॥

× × × ×

आनि नलिनि केओ रमनि सुताओलि केओ देइ मुख पर नीरे ।
निसबद पेखि केओ सास निहारए केओ देइ मन्द समीरे ॥
कि कहब खेद भेद जनि अन्तर घन घन उतपत श्वासा ।
भनइ विद्यापति सेहो कलावति जीवन बन्धन आशा ॥

श्रीहर्ष का वर्णन उस समय का है जब दमयन्ती विरह-मूर्च्छिता हो गई है । उपचार बड़े समयोपयोगी हैं । कोई सखी मुख पर पानी छींटती है तो कोई कुचों पर कमल-पत्र रख रही है, कोई हवा चलाने में ही व्यग्र है तो कोई शरीर

पर वर्फ़ रखने में ही व्यस्त है। यहाँ उपसर्ग-वश अनेकार्थक बने 'धा' धातु की क्रिया का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है।

विद्यापति ने वियोगिनी राधा का विरहोपचारों का भी कैसा सुन्दर वर्णन किया है! यद्यपि उपचार एक ही है, पर यहाँ सखियों की आशंका बढ़ ही रही है। नायिका को सर्वथा निश्चेष्ट पाकर, रह-रहकर, साँस की ओर उँगलियाँ उठाकर वे सब देख रही हैं। इस प्रकार की अवस्था में भी आशा ही एक रज्जु है; जिसमें प्राण-पशु अँटकाये जा सके हैं। विद्यापति का विरह यहाँ तीखा है। "निसबद पेखि केओ सास निहारय" में विद्यापति ने बड़ा उत्कर्ष ला दिया है। उन्होंने श्रीहर्ष के भाव का निर्वाह ही नहीं किया है, इसे चमत्कार के द्वारा आगे बढ़ाया भी है।

भारवि और विद्यापति

किरातार्जुनीय महाकाव्य के रचयिता महाकवि भारवि की प्रज्ञा-शक्ति बहुत ही प्रखर थी। "भारवेरर्थगौरवम्" को सभी ने स्वीकार किया है। उनकी ओजस्विनी कविता की भी छाया विद्यापति की पदावली में कतिपय स्थानों पर स्पष्ट है। हम यहाँ एक-दो ही उदाहरणों को उद्धृत करना अलम् समझेंगे। भारवि कहते हैं—

> हृदये दयितेन हृते वपुषि सवेपथुनि पथि निरालोके।
> अयि कथय कथमनंग प्रिय गृहमभिसारिकां नयति॥

विद्यापति लिखते हैं—

> बारि विलासिनि आनय काहाँ, तोंहे कान्ह बरु जासि ताहाँ॥

प्रथम नेह अति भिति राही , कते ऊतने कते मेराउबि ताही ॥
जा पति सुरति मने असार , से कैसे आऊ त जमुना पार ॥
पथहु कंटक जाह बिसूर , चरण कोमल पथ बिदूर ॥
अति भयाऊनि निविल राति , कइसे अंगीरति जीवन साति ॥
एत गुनि मने ताहि तरास , मधु न आवे मधुकर पास ॥
पाइय ठाम बसइले न नीधि , जे कर साहस ता हो सोधि ॥
भन विद्यापति सुनह मुरारि , बेरस पललि अछ से नारि ॥

अब यहाँ तुलना कीजिये। भारवि की एक सखी अभिसारिका का असमय गमन देखकर मन-ही-मन कामदेव से कहती है—'हे कामदेव, प्रिय ने हृदय हर लिया, शरीर काँप रहा है, रास्ते में अन्धकार है, ऐसे समय में इस नायिका को कैसे नायक के पास ले जा रहे हो?'

इधर विद्यापति की दूती नायक से कहती है—'उस विलासिनी बाला को यहाँ कैसे ले आऊँ? वरन् आप ही वहाँ चलें। क्योंकि जो अपने प्रियतम से भी सुरत करना निस्सार समझती है वह यमुना पार कैसे आप के लिये आ सकती है। जिसे रास्ते में काँटों का ध्यान है, पैर कोमल हैं, रास्ता बहुत दूर है, वह इस भयावनी अँधेरी रात में कैसे जीवन के शान्ति-स्वरूप अभिसार को चलना स्वीकार कर सकती है? इन्हीं बातों से वह भय खा रही है। भला, मधु कहीं मधुकर के पास आता है। हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहने से सम्पत्ति नहीं मिलती। जो साहस करता है, सफलता भी उसी को मिलती है।'

भारवि की दूती मन-ही-मन एक ही दो कारणों से असंभव की उद्भावना कर कामदेव से कह रही है और विद्यापति की दूती अनेक कारणों को सामने रखकर नायिका का यहाँ तक ले आना एकदम असंभव बतलाकर नायक ही को ले जाना चाहती है। मधु और मधुकर का उदाहरण सहृदय-हृदय-संवेद्य है। 'जे कर साहस ता हो सीधि' इस लोकोक्ति का प्रयोग कितना सुष्ठु और मार्मिक हुआ है; साहित्य-रसिक अनुमान करें। देखिये, दोनों के भाव और विद्यापति की विशिष्टता। एक दूसरा उदाहरण लीजिये—

तिरोहितान्तानि नितान्तमाकुलैरपां विगाहादलकैः प्रसारिभिः।
ययुर्वधूनां वदनानि तुल्यतां द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः।

हमारे विद्यापति एक ही पद से कैसे आगे निकल जाते हैं—

जाइत पेखल नहाइल गोरी। कति सञे रूप धनि आनलि चोरी।
अलकहिं तीतल तेहि अति सोभा। अलिकुल कमले घेड़ल मधु लोभा।

भारवि की नायिका जल में स्नान कर रही है, उसके केश-पाश बिखरकर मुख पर फैल जाते हैं जिससे मुख ढँक जाता है, मानो भ्रमर-समूह से छिपा हुआ कमल हो।

इधर विद्यापति में भी वही भाव आया है जो भारवि का है। किन्तु विद्यापति का गूढ़ आशय यहाँ तक पहुँचता है कि भींगे वदन से पानी भी अवश्य निकलता होगा। मानों वही कमल का मधु है जिसके लोभ में पड़कर भ्रमरों ने उसे घेर लिया है। कमल पर भ्रमरों का घूमना व्यर्थ नहीं है। भारवि में इस रस का पता नहीं है।

अमरुक और विद्यापति

अमरुक कवि की गणना संस्कृत के उन कवियों में होती है जिनका एक श्लोक निबन्ध-शतक का निचोड़ कहा जाता है; यथा 'अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबन्ध शतायते।' विद्यापति के साथ अमरुक की तुलना कुछ अंशों में नीचे है।

तद्वक्त्राभिमुखं मुखं विनमितं दृष्टिः कृता पादयोः।
तस्यालापकुतूहलाकुलतरे श्रोत्रे निरुद्धे मया॥
पाणिभ्याञ्च तिरस्कृतः सपुलकः स्वेदोद्गमोद्गण्डयोः।
सख्यः किं करवाणि यान्ति शतधा यत् कञ्चुके सन्धयः॥

नायक के सामने नायिका की विचित्र चेष्टा यहाँ चित्रित है। मुँह फेर लिया, नजर नीची कर ली, वचन सुनने के लोभी कान भी मूंद लिए। इतना ही नहीं; नायक के सामीप्य से जो स्वेद और रोमाञ्च हो आये, उन्हे भी पोंछ डाला! इतना तो हुआ, पर नायिका की चुस्त चोली का बन्द फट कर ही रहा।

ठीक इसी भाव के विद्यापति के एक गीत की छटा देखिये—

अवनत आनन कए हमे रहलिहुँ वारल लोचन चोर।
पिया मुखरुचि पिवय धाओल जानि से चान्द चकोर॥
ततहु सञो हठे हटि मोञे आनल धाएल चरन राखि।
मधुक मातल उड़ए न पारए तइओ पसारए पाँखि॥
माधव बोलल मधुर वानी से सुनि मुँदु मोञे कान।
ताहि अवसर ठाम वाम भेल धारि धनुप पञ्चबान॥
तनु पसेवे पसाहनि भासलि तइसन पुलक जागु।
चुनि चुनि भए कांचुअ फाटलि वाहु वलया भांगु॥

जो बात अमरुक की नवीना के लिये घटित हुई, वही विद्यापति की नायिका के लिये भी घटी। पर यहाँ लोचन को चोर बनाकर वर्जन करने पर भी छिप-छिपकर देखने की भावना और चाँद-चकोर की उपमा द्वारा आकर्षण का आतिशय्य प्रदर्शन करने में विद्यापति अमरुक को बहुत पीछे छोड़ गये हैं। "मधुक मातल" वाली पंक्ति इतनी अनमोल और बेजोड़ उतरी कि इस प्रसंग में अमरुक का रंग ही फीका पड़ गया है। रसिक पाठक स्वयं निर्णय करें।

पुनः अमरुक का एक पद है—

आलोलामलकावलीं विलुलितां विभ्रच्चलत् कुण्डलं।
किञ्चिन्मृष्ट विशेषकं तनुतरैः स्वेदाम्भसः शीकरैः॥
तन्व्या यत् सुरतान्ततान्त नयनं वक्त्रं रतिव्यत्यय।
तत्वां पातु चिराय किं हरिहरब्रह्मादिभिर्दैवतैः॥

अमरुशतक का यह मंगल श्लोक है। इस पद में विपरीत-रति का वर्णन है। अङ्ग-वर्णन स्वाभाविक है। देवताओं की उपेक्षा द्वारा विपरीत सुरत-शालिनी का महत्व दिखलाया गया है। यही भाव विद्यापति ने अपने इस गीत में व्यक्त किया है—

विगलित चिकुर मिलित मुख मण्डल चान्दे बेढ़ल घनमाला।
मणिमय कुण्डल श्रवने दुलित भेल घामे तिलक बहि गेला॥
सुन्दरि तुअ मुख मंगल दाता।
रति विपरीत समर यदि राखबि कि करब हरि हर धाता॥
किंकिनि किनि किनि कंकन कन कन घन घन नूपुर बाजे।
रतिरणे मदन पराभव मानल जय जय डिंडिम बाजे।

अमरुक के भाव का इसमें अक्षरशः अनुवाद है। 'किं हरिहरब्रह्मादिभिर्दैवतैः' और 'की करब हरि हर धाता' एक ही है। 'घामें तिलक बहि गेला' और 'स्वेदाम्भसः शीकरैः मृष्टं विशेषकं' में भी कोई भेद नहीं। पर भेद तो बहुत अधिक वहाँ है, जहाँ विद्यापति ने विलुलित केश को घनमाला बनाकर मुखचन्द को घेर दिया है। रति-रण में मदन के पराजय का जो डिंडिम घोषित किया है, वह भी बहुत बढ़-चढ़कर है। 'किंकिन किनि किनि, कंकन कन कन' और 'घन घन नुपुर' में जो भावमय संगीत है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यहाँ अमरुक विद्यापति की तुलना में कुछ दब जरूर गये हैं। इस संगीत के समक्ष ऊपर का श्लोक बेसुरा नहीं तो फीका जरूर जँचता है। सत्समालोचक इतना अवश्य कहेंगे कि यद्यपि विद्यापति ने ऊपर के दोनों पदों में अमरुक के भावों को अपनाया है, परन्तु उनमें अत्यधिक चमत्कार का मात्रा लाने में वे अवश्य कृतकार्य्य हुए हैं, इसमें सन्देह नहीं।

The supreme question after all is, not where does the tap-root of genius draw its nourishment, but what is the culminating expression of that nourishment? what blossom is forthcoming? Genius has an alchemy of its own that can transmute the baser metals, it may steal on occasion, into pure gold. Such was the way of that other splendid borrower, Shakespeare; and Chaucer is less unblushing in his literary thefts than he.

—A. C. Rickett.

विद्यापति और बंगाली कवि।

विद्यापति का बंगाल पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। बंग-भाषा के कवियों के काव्य-गुरु विद्यापति ही को मानना चाहिये। गीति-काव्य में बंगाल अपना विशेष स्थान रखता है और उस गीति-काव्य का उद्गम-स्रोत विद्यापति ही की कविता को समझना चाहिये। चण्डीदास से लेकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता तक विद्यापति-काव्य की छाप स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। जिस प्रकार अंग्रेजी के महाकवि कीट्स (*Keats*) को चैपमैन द्वारा अनूदित होमर (*Champman's Homer*) की कविता पढ़ने से कविता करने की स्फूर्ति जाग्रत हुई थी, बहुत कुछ उसी प्रकार कवीन्द्र रवीन्द्र को भी विद्यापति की कविता ने काव्यालोक प्रदान किया है। विद्यापति की कविता का वे बचपन में बड़े प्रेमी थे। अपने "जीवन-स्मृति" ग्रन्थ में उन्होंने लिखा है — "विद्यापतिर दुर्बोध विकृत मैथिली पद गुलि अस्पष्ट बलियाइ वेशी करिया आमार मनोयोग टानित।......ताँहार मैथिली मिश्रित भाषा आमार पक्षे दुर्बोध छिल, किन्तु सेइ जन्यइ एत अध्यवसायेर सङ्गे आमि ताँहार मध्ये प्रवेश चेष्टा करिया छिलाम"।

बंगाल के कवियों पर विद्यापति का जो व्यापक प्रभाव पड़ा है उसके सम्यक् रूपेण विवेचन से विवेच्य विषय की सीमा का अतिक्रमण हो जायगा। अतएव यहाँ विद्यापति

के साथ बंगाल के कुछ प्रमुख वैष्णव कवियों की कविता की तुलना की जाती है जिसके अध्ययन से बंगाल पर विद्यापति की कविता का क्या व्यापक प्रभाव है, इसका यत्किंचित् आभास मिल जायगा और साथ ही हमारे कविवर की काव्य-चातुरी की छटा भी दीख पड़ेगा।

विद्यापति और चण्डीदास

वंगीय साहित्य के गगनाङ्गन में चण्डीदास शरत्-राकेश के समान माने जाते हैं। उनकी आह्लादकारिणी काव्य-प्रतिभा ने समस्त वंगीय-साहित्य को जगमगा दिया है। उनकी कविता से अनेकानेक कविगण काव्य-कला की शैली सीखने में समर्थ हुए हैं। चण्डीदास की पदावली बंगाल का जातीय गान मानी जाती है। वंग-समाज में बहुत दिनों तक यही धारणा थी कि चण्डीदास नाम के एक ही कवि हो गये हैं, परन्तु जब से चण्डीदास का "कृष्ण-कीर्त्तन" ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है, तब से एक विचित्र ही आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है। चण्डीदास नाम के—एक नहीं—अनेक कवि माने जाने लगे हैं। चण्डीदास की पदावली का सबसे नया संस्करण वंग-साहित्य—महारथी श्रीयुत हरेकृष्ण मुखोपाध्याय और श्रीयुत सुनाति कुमार चटर्जी द्वारा सम्पादित होकर अभी हाल ही में वंगीय साहित्य-परिषद् से निकला है। उक्त सम्पादक द्वय ने निवेदन में लिखा है—

"आमरा ए पर्य्यन्त दुइ जन चण्डीदासेर परिचय पाइयाछि।

एकजन श्री चैतन्य देवेर पूर्ववर्त्ती बडु चण्डीदास, अन्य जन चैतन्येर परवर्त्ती दीन चण्डीदास। एकटु अभिनिवेश सहकारे आलोचना करिलेइ एइ दुइ जन कविर पद पृथक् करा याय। किन्तु बडु ओ दीन चण्डीदास भिन्न, 'चण्डीदास' एइ नामेर अन्तराले ये अन्य कविदेर पद चलितेछे, कोनओ कोनओ क्षेत्रे से गुलि के चिनिया लओया एक रूप दुस्साध्य व्यापार।"

[चण्डीदास-पदावली—निवेदन।]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वंगीय साहित्य में चण्डीदास नाम के अनेक कवि होगये हैं। ऐसी अवस्था में इसका निर्णय करना हमारे लिये एकदम असंभव ही है कि कौन कविता किस चण्डीदास की विशुद्ध रचना है। इसकी विवेचना वंगीय साहित्य-महारथियों के लिये भी जब 'दुस्साध्य व्यापार' हो गया है, तब फिर 'कुत्र गण्यो गणेशः' की भाँति हमारी क्या गिनती? अतएव हम इस गड़बड़झाले में न पड़कर 'चण्डीदास' नामाङ्कित सम्पूर्ण पदों को एक ही महाकवि चण्डीदास के निर्मित मानते हुए आलोचना में प्रवृत्त होते हैं।

प्रचीन कवियों का काल-निर्णय एक महती प्रहेलिका है। चण्डीदास के विषय में भी यही बात लागू है। वंग-साहित्यिकों ने विद्यापति और चण्डीदास को परस्पर सम-सामयिक माना है। साथ ही उनका यह भी कहना है कि उक्त दोनों कवियों का एक स्थान पर सम्मिलन भी हुआ था। बंगाली विद्वान् "पदकल्पतरु" ग्रन्थ की दो कविताएं उद्धृत कर उक्त मत को पुष्ट करते हैं और इसी आधार-शिला पर विद्यापति-चण्डीदास-सम्मेलन की कल्पना की दीवार खड़ी करते हैं।

हमारी राय में तो उन दोनों पदों को किसी चतुर बंगाली महाशय ने भावावेश में बनाकर प्रक्षिप्त रूप से 'पदकल्प-तरु' में घुसेड़ दिया है। इसका कारण है। यदि उन दोनों पदों के अर्थ पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट जान पड़ेगा कि वास्तविकता क्या है? इन दोनों पदों से तो वास्तव में दोनों कवियों का साक्षात्कार प्रमाणित भी नहीं होता। किसी चरण का कोई युक्ति-संगत अर्थ भी नहीं दीखता। किन्तु दुःख की बात है कि इसी तृण-प्राय दुर्बल प्रमाण के आधार पर अनेक बंगाली समालोचक महाशय इसको वास्तविक घटना समझते हैं। परन्तु इस मत की युक्ति-पूर्ण खण्डन स्वर्गीय नीलरतन मुखोपाध्याय ने 'चण्डीदासेर पदावली' की भूमिका में यों किया है—

पदकल्पतरुर कवितागुलि हइते बुझा याय ये, विद्यापति ओ चण्डीदासेर साक्षात हइयाछिल। मानिलाम हइयाछिल। किन्तु मिलनटा हइल कोथाय? ना, गंगातीरे आच्छा, चण्डीदास नान्नूरे छिलने, नान्नूर गंगातीर हइते आठ क्रोश पश्चिमे। विद्यापति मिथिला हइते चण्डीदासेर सहित साक्षात् करिते आसितेछिलेन। ताहा हइले तिनि नान्नूरेर पश्चिम दिक् हइते आसिवेन। गंगातीरे यदि उभयेर मिलन हय, तवे चण्डीदास नान्नूर हइते निश्चयई पूर्वाभिमुखे याइतेछिलेन। पश्चिम दिक् हइते विद्यापति आसितेछेन, आर चण्डीदास ताँहार संगे देखा करिते पूर्वाभिमुखे रास्ता धरिलेन-एटा केमन कथा हइल? विद्यापति यदि गंगार पूर्वाञ्चल हइते ना आसेन तवे चण्डीदासेर पूर्वाभिमुखे याओया त सम्भव हय ना। चण्डीदास पागल छिलेन बलिया ये ताँहार 'उत्तर-पूर्व ज्ञान' छिल ना इहा त मने हय ना।—पृ० ८

स्वर्गीय नीलरतन मुखोपाध्या ने इस भौगोलिक स्थिति के आधार पर जो बातें लिखी है वे दोनो कवियों के कवितागत प्रमाण के विचार से और भी दृढ़ होती हैं। यद्यपि उनके इस विचार की समालोचना बंगाल में कितने ही विद्वानों ने की है, तथापि किसी ने उक्त दोनों कवियां के समयादि का प्रमाण देकर यह निश्चित नहीं किया है कि चण्डीदास विद्यापति से पहलेही काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए थे। प्रत्युत जिन लोगों ने दोनों के मिलने को वास्तविक घटना माना है वे भी इतना अवश्य स्वीकार कर गये हैं कि विद्यापति चण्डीदास से अवस्था में बड़े थे और काव्य-रचना भी पहले ही करने लगे थे। आगे हम दोनों कवियों के जो तुलनात्मक पद उद्धृत कर रहे हैं उन्हें देखने से इतना तो अवश्य ही विदित हो जायगा कि दोनों कवियों में इतनी समता का होना स्वतंत्र रूप से असंभव ही है। कोई-न-कोई कवि एक दूसरे के प्रभाव से अवश्य प्रभावित हुआ है। जिस समय की यह बात है उस समय बंगाल मिथिला की कविता तथा न्याय-मीमांसादिक विद्या का ग्रहण बड़ी तेजी से कर रहा था। ऐसी दशा में निष्पक्ष रूप से विचार करने पर यह कहना पड़ेगा कि चण्डीदास पूर्ण रूपेण विद्यापति से प्रभावित हुए हैं और यदि दोनों के मिलने की बात सत्य हो तो उसे हमारे सिद्धान्त का पोषक ही समझना चाहिये। बंगाल तथा मिथिला के इतिहास से विशेष परिचित स्वनाम धन्य स्वर्गीय रमेशचन्द्र दत्त जी स्पष्ट रूप से इसे स्वीकार कर गये हैं– *Chandidas' poetry was inspired*

by Vidyapati and other poets of Mithila—(Dutt's Bengali Literature.)

अब दोनों कवियों के पद्यों पर ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट देख पड़ेगा कि दोनों में भाव तथा भाषा-साम्य कितना विद्यमान है—

विद्यापति—दय तुलसी तिल देह सोंपल दया जनि छाड़ब मोर।

चण्डीदास—श्याम अनुरागे ए तनु बेचिनु तिल तुलसी दिया।

विद्या—सोइ कोकिल अब लाख डाकओ लाख उदय करु चंदा।
पाँच बाण अब लाख बाण होउ मलय पवन बहु मंदा॥

चण्डी—एखन कोकिल आसिया करुक गान, भ्रमरा धरुक ताहार तान।
मलय पवन बहुक मंद, गगने उदये हउक चंद॥

विद्या—अविरल नयन बारि झर निर्झर जनि साओन घनमाला।

चण्डी—ओ दुटी नयाने बहिच्छे सघन श्रावण मेघेर माला।

विद्या—लीला कमल भ्रमर धरु वारि, चमकि चललि गोरि चकित निहारि।

चण्डी—नविन किशोरी मेघेर बिजुरी चमकि चलिया गेल।

यह साम्य कुछ चण्डीदास की सामान्य पदावली में ही नहीं है, वल्कि उनके 'कृष्ण-कीर्त्तन' में भी-जो उनकी खास रचना समझा जाता है—देख पड़ता है। जैसे—

विद्यापति—हठ नहिं करवे आइति पाय, भूखल नहि दुहु कओरे खाय।

चण्डीदास—भूखिल हयिलें कन्हाञि दुई हाथे ना खाइए॥

विद्या—शङ्खकर चूर बसन कर दूर तोड़ह गजमोति हार रे।
पिया यदि तेजल कि काज सिंगारे यमुना सलिले सब डार रे॥
सींथक सिन्दुर पोंछि कर दूर पिया बिनु सबहि निरास रे।

चण्डी—ए धन यौवन वड़ायि सबई आसार।
छिण्ड़िआँ पेलाइबों गज मुकुतार हार॥
मुछिआँ पेलायिबों सिसेर सिन्दूर।
वाहुर वलया मो करिबों शंख चूर॥

विद्या—साहर मजर भमर गुजर कोकिल पंचम गाव।
दखिन पवन विरह वेदन निठुर कन्त न आव॥

चण्डी—मुकुलिल आम्ब साहारे, मधु लोभें भमर गुजरे।
डाले वसी कोयिली काढ़े राए, येन्ह लागे कुलिशेर घाए॥

विद्या—पीन पयोधर अपरुप सुन्दर ऊपर मोतिम हार।
जनि कनकाचल ऊपर विमल दुइ वहु सुरसरि धार॥

चण्डी—गिए गजमुतीहार मणि माझे शोभे तार ऊच कुच युगल ऊपरे।
हआँ समान आकारे सुरेशरी दुई धारे पड़े जेन सुमेरु शिखरे॥

विद्या—पाखी यदि होइतहुँ पिया पास जइतहुँ दुख कहितहुँ तसु पास।
आनि देइ मोर पिउ राख हमर जिउ के से करुना वान॥

चण्डी—पाखी जाती नहों वडायि ऊड़ी जाऊं तथां।
मोर प्राणनाथ कान्हाञि वसे यथां॥

क्या अब भी कुछ शंका उठाई जा सकती है कि चण्डीदास विद्यापति से प्रभावित नहीं हुए हैं? चण्डीदास को विद्यापति का समसामयिक उत्कृष्ट कवि प्रमाणित करने में वंगीय साहित्य-समालोचकों का आत्माभिमान भी अवश्य छिपा है। इसे स्वयं श्रीयुत सुशीलकुमार ने भी मान लिया है—विद्यापति ओ चण्डीदासेर पौर्व्वापर्य लइया ये एत विचार वितर्क हय, ताहार मध्ये वाङ्गालीर स्वदेशीय आत्माभिमानओ प्रच्छन्न रहिआछे—पृ० १५२

इतने प्राक्कथन के उपरान्त हम दोनों कविचक्र-चूड़ामणियों की कुछ तुलनात्मक समालोचना में प्रवृत्त होते हैं। चण्डीदास का एक पद इस प्रकार है—

ए धनि मानिनि मान निवार।
आबीरे अरुण श्याम-अङ्ग मुकुर पर निज प्रतिबिम्ब निहार॥
तुहु एक रमणी शिरोमणि रसवती कोन ऐछे जगमाह।
तोहारि समुखे श्याम सह बिलसब कैछन रस निरवाह॥
ऐछन सहचरि-बचन हृदय धरि सरमे भरमे मुख फेरि।
इषत् हासि सने मान तेयागल उलसित दुँहे दोंहा हेरि॥
पुनु सब जन मेलि करये विनोद केलि पिचकारि करि हाथे।
द्विज चण्डीदास आबीर योगायत सकल सखीगण साथे॥

विद्यापति के मान-वर्णन का एक पद नीचे उद्धृत है—

मानिनि आब उचित नहिं मान।
एखनुक रंग एहन सन लगइछ जागल पए पंचबान॥
जूड़ि रयनि चकमक कर चाँदनि एहन समय नहिं आन।
एहि अवसर पिय मिलन जेहन सुख जकरहि हो से जान॥
रभसि रभसि अलि बिलसि बिलसि करि जे कर अधर मधुपान।
अपन अपन पहु सबहुँ जेमाओल भूखल तुअ यजमान॥
त्रिबलि तरंग सितासित संगम उरज शम्भु निरमान।
आरति पति मंगइछि परतिग्रह करु धनि सरवस दान॥
दीप दीपक देखि थिर न रहए मन दृढ़ करु अपन गेआन।
सञ्चित मदन वेदन अति दारुन कवि विद्यापति भान॥

दोनो कवियों की कविताएँ मानिनी नायिका के मान-

मोचन के वर्णन में लिखी गई हैं। दोनो ही पदों में सखी की उक्ति है। चण्डीदास का नायिका जहाँ दो-चार सदुक्तियों पर ही मान-भंग कर देती है (भला होली का अवसर ठहरा !) 'इषत् हास सने मान तेयागल'; वहाँ विद्यापति की नायिका अनेक प्रकार से समझाने-बुझाने पर भी मान का बाजार खोले हो बैठी है। चण्डीदास का" आवीरे अरुण श्यामरंग मुकुर पर निज प्रतिबिम्ब निहार" चमत्कारिक है। 'तोहारि समुखे श्याम सह बिलसब कैछन रस निरबाह' से विद्यापति का 'पहन समय पिय मिलन जेहन सुख जकरहि हो से जान' उत्तम है। 'जागल पै पंचबान' में 'पै' शब्द विद्यापति की मार्मिकता का द्योतक है। इस शब्द की व्याख्या सहृदय का हृदय ही कर सकता है। पद में 'जूड़ि रयनि चकमक कर चाँदिनी' में 'पिय मिलन जेहन सुख' का सुखद संस्मरण और 'जकरहि हो से जान' का सरस व्यङ्ग्य-पूर्ण मान-भङ्ग का प्रोत्साहन अवर्णनीय है। कहाँ तो 'रहसि रहसि' भ्रमर का 'विलसि विलसि कर' अधरमधु-पान का सुख लूटना और कहाँ 'भूखल यजमान' की आर्ति! हाय! भाग्य का क्या दुःखमय पार्थक्य है! "करु धनि सरबस दान" में 'सरबस' शब्द का क्या विदग्धता-पूर्ण सुष्ठु प्रयोग है! कलित कल्पना-प्रसूत गङ्गा-यमुना (गौर शरीर श्याम रोमावली) के संगम स्थित शम्भु (कुच) के निकट आर्त्ति याचक के प्रतिग्रह दान माँगने के रूपक का निर्वाह बड़ी सफाई से हुआ है जो मार्मिकता से खाली नहीं! 'दीप दीपक देखि थिर न रहए

मन' में विकलता की व्यग्रता, क्षीण आशा-लता के छिन्न होने की आशंका का दुःख मर्मभेदी है। समस्त पद में विद्यापति की अनुपम कवित्वशक्ति, सरस हृदय तथा विशाल पांडित्य की अमिट छाप विद्यमान है। विद्यापति के इस पद के सामने चण्डीदास के पद के महत्त्व का विवेचन नीर-क्षीर-विवेकी सत्समालोचकों पर ही छोड़कर हम आगे बढ़ रहे हैं।

बहु दिन परे बंधुया एले, देखा ना हइत पराण गेले॥
एतेक सहिल अबला बले, फाटिया याइत पाषाण हले॥
दुखिनीर दिन दुखेते गेल, मथुरा नगरे छिले त भाल॥
ए सब दुख किछु ना गणि, तोमार कुशले कुशल मानि॥
ए सब दुख गेल हे दूरे, हाराण रतन पाइलाम कोड़े॥
एखन कोकिल आसिया करुक गान, भ्रमरा धरुक ताहार तान॥
मलय पवन बहुक मन्द, गगन उदय हउक चंद॥
वाशुली आदेशे कहे चण्डीदासे, दुख दूरे गेल सुख विलासे॥

—चण्डीदास

आज रजनी हम भागे गमाओल पेखल पिया मुख चन्दा।
जीवन यौवन सफल करि मानल दस दिश भेल निरदन्दा।
आजु मझु गेह गेह करि मानल आजु मझु देह भेल देहा।
आजु विहि मोहे अनुकूल होयल टूटल सबहुँ सन्देहा।
सोइ कोकिल अब लाख डाकउ लाख उदय करु चन्दा।
पाँचबाण अब लाख बाण होउ मलय पवन बहु मन्दा।
आजु मझु जब पिया संग होयत तबहि मानब निज देहा।
विद्यापति कह अलप भागि नहिं धनि धनि तुअ नव नेहा।

—विद्यापति

दोनों कविताएँ उत्कट विरह-वेदना के अनन्तर पुनर्मिलन के विषय पर रची गई हैं। दोनों ही पद अच्छे उतरे हैं, भावपूर्ण हुए हैं और हृदयोल्लास के प्रतिबिम्बित दर्पण बन गये हैं। चण्डीदास के पद में 'एतेक सहिला अबला वले फाटिया जाइत पाषाण हले,। 'दुखिनीर दिन दुखेते गेल-हाराण रतन पाइलाम कोड़े' आदि सुन्दर करुणा-व्यंजक भावचित्र के चारु चित्रण हैं। परन्तु चण्डीदास ने अपने इस पद का निर्माण विद्यापति रचित पद की अनुच्छाया ही पर किया है, क्योंकि चण्डीदास का 'एखन कोकिल आसिया करु गान' विद्यापति के इस पद 'सोइ कोकिल अब लाख डाकओ लाख उदय करु चन्दा' को निकृष्ट अनुवाद-मात्र है। विकट विरहोपरान्त प्रिय-दर्शन के आनन्दोल्लास में लाखों कोयलों के कुहुकने, लाखों चन्द्रमाओं के उगने तथा पंचवाण कामदेव के लाखों वाणों से प्रहार करने की स्वतंत्रता अतिशय मार्मिक, विदग्धता-पूर्ण एवं अत्यन्त आनन्द का व्यञ्जक है। विद्यापति के गीत में आनन्द का अविरल प्रवाह वह रहा है, परन्तु चण्डीदास के पद में करुणा का क्रन्दन सुन पड़ता है। उपर्युक्त दोनों पदों की विशेष-आलोचना नहीं कर, इस प्रसंग में श्रीयुत सुशीलकुमार चक्रवर्ती का मत उद्धृत कर ही इसकी चर्चा को अलम् करते हैं। जैसे "—एइ पदेर तुलना जगतेर गीत-साहित्ये जगते कोथायओ मिलेना। × × चण्डीदासेर एइ पद विद्यापतिर × × पदेर तुलनाय अनेक निम्नस्तरेर।" पृ० २४०, २४२

इस समालोचना से किन्हीं सज्जन को यह नहीं समझना

चाहिये कि चण्डीदास की कविता उत्कृष्ट है या नहीं। उन की कुछ रचनाएँ तो निःसन्देह उच्चकोटि की और सुन्दर भाव-संवलित हैं परन्तु जहाँ तक काव्य-कलाप के चारु चातुर्य का प्रश्न है, उसमें विद्यापति उनसे बहुत आगे हैं।

यद्यपि विद्यापति एवं चण्डीदास की तुलनात्मक समालोचना में बहुत-से वंगीय साहित्य-समालोचक-गण प्रवृत्त हुए हैं, परन्तु हमारी क्षुद्र बुद्धि से तो दोनों कवियों की यथोचित न्याय्य समालोचना अभी तक प्रायः नहीं हुई है। पाश्चात्य साहित्य-समालोचकों ने कविता को साधारणतः दो भागों में विभक्त किया है— पहली Subjective (भावात्मक) और दूसरी Objective (बाह्यविषयात्मक)।

विद्यापति और चण्डीदास दोनों ही Subjective कवि हैं। दोनों की कविताओं पर दोनों के जीवन की छाप स्पष्ट है। अब तक समालोचकों ने इस दृष्टिकोण से दोनों की कविताओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन एवं समालोचना प्रायः नहीं की है। इसे सभी मानते हैं कि चण्डीदास वाँशुली देवी के दीन पुजारी थे और थे 'रामी' धोबिन की प्रेम-पूर्ण सामाजिक यंत्रणा से प्रताड़ित भग्न-हृदय प्रेमी-जीव। परन्त विद्यापति समृद्धिशाली राजाओं और सौभाग्य-गर्विता रानियों के कृपापात्र थे। उन का प्रेममय जीवन सामाजिक कलंक-कलुष से एकदम अछूता था, पावन था। जल-वायु तथा परिस्थिति के प्रभाव का मानव-जीवन पर पड़ना अनिवार्य है। अतएव इनके प्रचुर प्रभाव से दोनों कवि नहीं बच सके हैं, वह प्रभाव भी स्वतंत्र रूप से

दोनों की कविताओं पर पड़ा है। विद्यापति और चण्डीदास के जीवन का प्रतिविम्ब दोनों की कविताओं में प्रतिफलित हुआ है। दोनों महाकवियों ने अपने-अपने आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति की साधनस्वरूपा, अपनी कविताओं में, 'राधा' को ही माना है। अतएव राधा ही के चरित्र में दोनों के जीवन का रहस्य बहुत अंशों में निहित है।

जिस प्रकार चण्डीदास रामममि धोबिन के प्रेम के कारण प्रमत्त थे, उसी प्रकार उनकी कविता के रंगमंच पर प्रेम से पगली बनी राधा दृष्टिगोचर होती हैं। जिस प्रकार आप उस धोबिन को भूल जाने का यत्न करने पर भी नहीं भूल सकते थे उसी प्रकार उनकी राधा भी 'श्याम नाम' को भूलने का प्रयास करती हुई भी उसे नहीं भूल सकतीं। चण्डीदास के निम्नाङ्कित गीत में उनका अपना ही प्रेम परिलक्षित होताहै। जैसे—

सइ, केबा सुनाइले श्याम नाम।
काणेर भितर दिया मरमे पसिल गो आकुल करिल मोर प्राण॥
ना जानि कतेक मधु श्याम नामे आछे गो वदन छाँड़िते नाहि पारे।
जपिते जपिते नाम अवश करिल गो केमने पाइब सइ तारे॥
नाम परतापे यार एछन करिल गो अङ्गेर परशे किबा हय।
येखाने बसति तार नयने देखिया गो युवती धरम कैछे रय॥
पासरिते चाहि मने पासरा ना याय गो कि करिब कि हवे उपाय।
कहे द्विज चण्डीदास कुलवती कुल नाशे आपनार यौवन याचाय॥

इस पद की भावप्रवणता की चर्चा करना, पद-गांभीर्य को नष्ट करना होगा। तथापि 'मरमे पसिल गो आकुल करिल

मोर प्राण' में विद्ध व्यथित हृदय का चित्र चित्रित हो गया है। 'न जाने कतेक मधु श्याम नामे आछे गो' में श्याम नाम की कैसी आकर्षण-शक्ति है, कैसा मोहन मंत्र है, पाठक ध्यान दें! 'जपिते जपिते नाम अवश करिल गो' में प्रेमाधिक्य की मार्मिक सदुक्ति है। 'नाम परतापे यार ऐछन करिल गो अंगेर परशे किवा हय' में भाव व्यञ्जना (*Suggestiveness*) की मात्रा वर्णनातीत है। ऐसे ऐसे ही काव्यस्थलों का निर्देश करते करते हुए *A. C. Downer* का यह कहना है कि "*....it is the part of the best poetry to kindle, rather than to satisfy, imagination.*" (*Keats' Odes*) उपर्युक्त पद कैसे स्वर्गीय भावों से पूर्ण है! प्रेम का परिमल कैसा अनुपम है! भाषा कैसी प्रांजल है! कवि के जीवन-भाव का कैसा व्यक्तीकरण है! हम श्रीयुत सुशील कुमार के इन कथनों से सोलहो आने सहमत हैं—

"एइ रूप पद विश्व-साहित्य भाण्डारेर अमूल्य सञ्चय"...."विद्यापतिर पूर्वरागेर पदेर मध्ये 'सइ केबा सुनाइल श्यामनाम' एइ जातीय पद एकटिओ नाइ। चण्डीदास यदि शुधु एइ एकटी-पद रचना करिया निवृत्त हइतेन, एइ एकटी पदेइ ताँहाके श्रेष्ठ गीतकवितार कविदिगेर सहित समान आसन प्रदान करित।' पृ० २१२, २२६

इसके विपरीत विद्यापति राजप्रासाद की जलवायु में पले थे, अतएव उनकी राधा की प्रारंभिक अवस्था में भोगैश्वर्य का विभ्रम-विलास पूर्ण रूप से प्रतिफलित है। विद्यापति की राधा शुद्ध-सरल भाव लेकर कवि के कविता-रंग-मंच पर

आती हैं। चण्डीदास की राधा की भाँति पूर्ण यौवन एवं उन्माद लेकर एकाएक नहीं आतीं। विद्यापति की राधा तो–

खने खने नयन कोन अनुसरई, खने खने वसन धूलि तनु भरई।

धूल-मिट्टी में खेलने में मग्न है। विद्यापति ने प्रथम दर्शन, मिलन, मान, अभिसार, विरह एवं पुनर्मिलन में अपने जीवन के अनुभव को पद-पद में जड़ रक्खा है। चूँकि चण्डीदास अपनी प्रेमिका के प्रेम में पागल थे, अतएव उनकी राधा के प्रेम में भी उन्माद परिलक्षित होता है और चूँकि विद्यापति का प्रेम सौम्य था, अतः उनकी राधा का प्रेम सौम्य का प्रतीक हो गया है। चण्डीदास की राधा अन्त में एक उन्मत्त भक्त संन्यासिनी बन जाती हैं यथा 'विरति आहारे राङ्गाबास परे येमन योगिनी पारा' और विद्यापति की राधा अक्षययौवना तथा प्रेमपरायणा कामिनी का चरित्र-चित्रण रहती हैं। चण्डीदास की प्रेम-प्रमत्ता राधा अपार्थिव रूप से पृथ्वी पर आती हैं, परन्तु विद्यापति की राधा साधारण प्रेमोद्विग्ना मानवी ग्वालिन के रूप में दिखाई पड़ती हैं, तथा जीवन के उत्कर्ष-अपकर्ष तथा सुख–दुःख के झमेले को पार कर अन्त में दैवी महत्त्व का सान्निध्य प्राप्त करती हुई कविता-मंच से तिरोभूत हो जाती हैं। चण्डीदास के राधा-कृष्ण लौकिक नर-नारी नहीं हैं, परन्तु ईश्वर के अवतार हैं और स्थान–स्थान पर पूर्णब्रह्म और आदिमाया कहकर पुकारे गये हैं,। "कृष्ण-कीर्त्तन" को छोड़ अन्यान्य पदावली में शारीरिक भागों का वैसा स्थूल वर्णन उनकी कविता में नहीं पाया जाता जो

विद्यापति की कविता में स्थान-स्थान पर मिलता है, परन्तु विद्यापति के राधा-कृष्ण साधारण गोप-गोपी के रूप में चित्रित किये गये हैं। देवता तो अपनी ही महिमा से महिमान्वित हैं, परन्तु मानवता को देवत्व प्राप्त कराना असाधारण कवि-कौशल का परिचायक है। चण्डीदास के राधा-कृष्ण अलौकिक और विद्यापति के राधा-कृष्ण लौकिक हैं। चण्डीदास की राधा उन्मत्त भक्त संन्यासिनी और विद्यापति की राधा कर्मयोगिनी हैं।

विद्यापति और चण्डीदास की समष्टि रूप से तुलनात्मक समालोचना में बहुत-से बंगाली विद्वान् प्रवृत्त हो चुके हैं। यहाँ दो-चार वंग-साहित्य-महारथियों की सम्मतियाँ उद्धृत की जाती हैं। स्वर्गीय चित्तरञ्जन दास कहते हैं—

'एकदिके जीवनेर अनुभूति, अन्यदिके रसेर भितर दिया रूपान्तर, चण्डीदासेर प्रायः प्रत्येक कविताय ताहार आभास पाओया याय, किन्तु विद्यापतिर ताहा नय, तिनि गानेर ये रसेर मध्ये ये अवस्थार कथा कहियाछेन, ताहाते शुधु इन्द्रियेर भोग, रूप-रस-गन्धेर अनुपम सामञ्जस्य ओ मिलन; तिनी सेखाने स्वयं सेइ रूप रसेर मध्ये डुबिया आछेन, किन्तु चण्डीदास सेइ रूप-रस-गंधेर मध्ये डुबारिर मत डूब दिया मणि तुलिया उठाइया छेन। × × × विद्यापतिर प्रेमे वेदना अपेक्षा सुखेर आतिशय्य इ वेशी।" काव्येर कथा—पृ० ३६,४०

श्रीयुत सुशीलकुमार चक्रवर्ती "वैष्णव--साहित्य" ग्रन्थ में लिखते हैं —

"सौन्दर्य वर्णनाय, उपमा प्रयोगे, शब्द कौशले, चित्र--अंकने विद्यापति बाङ्ला साहित्ये अद्वितीय, अतुलनीय, जगतेर साहित्येओ शीर्षस्थानीय····

....उपमाय तिनि अतुलनीय कालिदासेर मत सिद्धहस्त। ....विद्यापति उपमाय, शब्द योजनाय, भापार ऐश्वर्य रूप वर्णनाय, सम्भोग मिलनेर नाना परिहास रसिकताय, विलास कलाय, विरह ओ विरहान्त मिलन वर्णनाय, असाधारण कृतित्व ओ अविसम्वादित निपुणता देखाइआछेन। चण्डीदास सरल मर्मस्पर्शी भाषाय प्रेम-विह्वलताय, तन्मयताय, भावोच्छ्वासे, प्रेमेर गभीरता ओ उन्मत्तताय स्वर्गीय भावविकाशे, एकान्त आत्म समर्पणे, आत्म विसर्जने, आध्यात्मिक--भाव पूर्णताय अतुलनीय सौन्दर्य्य ओ अपूर्व्व माधुर्य्य प्रकाश करिआछेन।' (पृ० २१०,२४७)

श्रीयुत रायसाहब दिनेशचन्द्र सेन 'वङ्ग भाषा ओ साहित्य' ग्रंथ में लिखते हैं —

" विद्यापतिर गीतिर न्याय गाढ़ प्रेमेर उक्ति पद साहित्ये अति अल्पइ आछे। साधारण पाठक ताँहार मनोमुग्धकर उपमा इष्टे प्रीत हइवेन, एवं तदपेक्षा उच्च श्रेणीर पाठक ताँहार प्रेमेर विह्वलता ओ प्रगाढ़ता उपलब्धि करिया ताँहाके प्रेमिक ओ भक्त वलिया प्रणाम करिवेन। किन्तु सरल मर्मेर कथा-याहाते प्राण उद्‌ग्रीव हइया साड़ा देय एवं याहार अविसम्वादित दावी चोखेर जले ऊपर—से रूप कथा विद्यापति हइते चण्डीदास वेशी कहिया-छेन। काव्य-क्षेत्रे चण्डीदास प्रभु चैतन्यप्रभुर न्याय एक प्रेमावतार।"

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ 'आधुनिक साहित्य' ग्रन्थ में विद्यापति एवं चण्डीदास के विषय में लिखते हैं —

"विद्यापतिर कविताय प्रेमेर भङ्गी, प्रेमेर नृत्य, प्रेमेर चाञ्चल्य, चण्डीदासेर कविताय प्रेमेर तीव्रता, प्रेमेर आलोक। एइ जन्य छन्द, संगीत एवं विचित्र रंगे विद्यापतिर पद एमन परिपूर्ण, एइ जन्य ताहाते सौन्दर्य्य सुख सम्भोगेर एमन तरंग-लीला। इहा केवल यौवनेर प्रथम आरम्भेर आनन्दोच्छ्वास

केवल अविमिश्र सुख एवं अव्याहत संगीतध्वनि। दुख नाइ ये ताहा नहे, किन्तु सुख दुःखेर माझ खाने एकटा अन्तराल व्यवधान आछे। हय सुख, नय दुःख, हय मिलन, नय विरह, एइ रूप परिष्कार श्रेणी-विभाग। चण्डीदासेर मतो सुखे दुःखे विरहे मिलने जड़ित हइया याय नाइ। सेइ जन्य विद्यापतिर प्रेमे यौवनेर नवीनता एवं चण्डीदासेर प्रेमे अधिक वयसेर प्रगाढ़ता आछे। चण्डीदास गभीर एवं व्याकुल विद्यापति नवीन एवं मधुर।"

विश्वकवि रवीन्द्र की उक्ति का अनुमोदन करते हुए हम इतना निवेदन अवश्य करेंगे कि विरहावस्था का वर्णन आते ही विद्यापति की गंभीरता और व्याकुलता चण्डीदास से कम नहीं परिलक्षित होती है। श्रीयुत दिनेशबाबू यह मुक्तकण्ठ से स्वीकार कर चुके हैं — 'विरह ओ विरहान्तर मिलन वर्णनाय विद्यापति वैष्णव कविदिगेर अग्रगण्य।'

ऊपर-उद्धृत अवतरणों में समालोचना के आदर्श की कुछ रक्षा की गई है अवश्य, परन्तु ये सब अवतरण तब तक सोलहो आने सही थे जब तक 'कृष्ण-कीर्त्तन' ग्रंथ का पता नहीं लगा था। हमारी राय में 'कृष्ण-कीर्त्तन' ग्रंथ का पता लग जाने से चण्डीदास का यश बढ़ा नहीं, प्रत्युत बहुत अंशों में घट ही गया है।

यदि 'कृष्ण-कीर्त्तन' ग्रंथ वास्तव में चण्डीदास-रचित माना जाय, जिसे बहुत प्रसिद्ध बङ्गाली विद्वान् मान भी चुके हैं तो विद्यापति और चण्डीदास के काव्य में आकाश-पाताल का अन्तराल हो जाता है। 'कृष्ण-कीर्त्तन' अत्यन्त निम्न

श्रेणी की रचना है। विद्यापति के कवित्व के चारु चमत्कार से अनुरञ्जित काव्य के साथ 'कृष्ण-कीर्त्तन' की तुलना ही क्या हो सकती है? दूसरी बात यह है कि उस ग्रंथ में अश्लील कविता की रचना में चण्डीदास ने विद्यापति से भी बाजी मार ली है। कुछ वंगीय समालोचकों का मत है कि विद्यापति की कविता में शरीर का अंश अधिक और आत्मा का अंश कम है, इधर चण्डीदास के 'कृष्ण-कीर्त्तन' में तो शरीर का अंश विद्यापति से भी बहुत अधिक है और आत्मा का अंश अत्यन्त कम—नहीं के बराबर है। 'कृष्ण-कीर्त्तन' के चण्डीदास विद्यापति के आगे बहुत निम्न श्रेणी के कवि जान पड़ते हैं। इतना ही नहीं, जिन पदों को लेकर चण्डीदास की इतनी ख्याति है, उनके विषय में चण्डीदास का 'कृष्ण कीर्त्तन' प्राप्त होने से ऐसी शंका हो रही है कि वे पद अपर चण्डीदास की रचना हैं। इसके विवेचन में पाठकों का समय हम नहीं लेना चाहते। यदि यह बात ठीक है तब असल से जाल ही कवि उत्कृष्ट प्रमाणित होंगे और ऐसी हालत में प्रकृत चण्डीदास से विद्यापति की क्या तुलना हो सकती है।

विद्यापति का यथार्थ महत्व तो हम इसीमें समझते हैं कि उन्होंने साधारण गोप-गोपी-कृष्ण और राधा को लौकिक प्रेम के सर्वगम्य पथ के पथिक बना, उस पथ की दुर्बलता का सामना कराते हुए, उन्हें परम प्रेम के परमोच्च पद पर पहुचाया है और अपनी कविता-द्वारा पार्थिव प्रेम के पथ से

परमात्म प्रेम की प्राप्ति को प्रमाणित कर दिया है। चण्डी-दास की अलौकिक परन्तु लौकिक रूप में चित्रित-राधा की परम-पद प्राप्ति में कुछ विशेष अलौकिकता और असाधारणता नहीं है।

अंग्रेजी कवि वर्डस्वर्थ (Wordsworth) और शेली (Shelly) द्वारा चित्रित स्काइलार्क (Skylark) विद्यापति और चण्डीदास की तुलना में अच्छी तरह उपस्थित की जा सकती है। जहाँ चण्डीदास शेली के स्काइलार्क की तरह "*And singing still dost soar and soaring ever singest*" विचरण करते हैं, वहाँ विद्यापति कवि वर्डस्वर्थ के स्काइलार्क की तरह "*True to the kindred points of heaven and home*" को चरितार्थ करते हैं।

चूँकि महाकवि चण्डीदास ने वाँशुली देवी के मन्दिर में रहकर काव्य-रचना की है, इसलिए वे कवि की अपेक्षा भक्त अधिक थे और विद्यापति ने राज-दरबार में रहकर अपनी रचना की है, अतएव वे भक्त की अपेक्षा कवि अधिक थे। चण्डीदास भक्त कवि थे और विद्यापति कवि भक्त। चण्डीदास आदर्शवादी थे और विद्यापति वस्तुतंत्रवादी। मधुर भाव व्यञ्जनामयी भक्ति के हिसाब से चण्डीदास विद्यापति से श्रेष्ठ हैं और कवित्व के हिसाब से चण्डीदास से विद्यापति ही श्रेष्ठ हैं।



विद्यापति और ज्ञानदास

कविवर चण्डीदास के बहुत बाद वंगीय साहित्याकाश में ज्ञानदास का आविर्भाव हुआ है। ज्ञानदास उत्कृष्ट वैष्णव कवि थे। ब्राह्मण--कुलालङ्कार ज्ञानदास ने आजन्म विवाह नहीं किया-वे बाल यती थे। वे एक विशिष्ट गोस्वामी सम्प्रदाय के भक्त और संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। ज्ञान-दासजी अपने पूर्ववर्ती महाकवि विद्यापति और चण्डीदास की कविताओं से प्रभावित हुए हैं। वंगीय साहित्य-समालोचकों का मत है कि ज्ञानदास पर विद्यापति की कविता की अपेक्षा चण्डीदास की ही कविता का अधिक प्रभाव पड़ा हैं; किन्तु हमें जहाँ तक ज्ञानदास की कविता के अध्ययन का अवसर मिला है, हम निःसंकोच कह सकते हैं कि उन्हें विद्यापति की कविता से भी कम प्रश्रय नहीं मिला है। उन्होंने भी चण्डी-दास की ही भाँति विद्यापति की पदावली से अपनी कविता की सामग्री, शब्द और सूक्ति तक का पद-पद पर ग्रहण किया है। अपनी उक्ति को प्रमाणित करने के लिये हम नीचे दो-चार उदाहरण दे रहे हैं—

विद्यापति—दय तुलसी तिल देह सोंपल दया जनि छाड़ब मोय।

ज्ञानदास—श्यामेर राङ्गा पाय ए तनु सौंपेछी तिल तुलसी दिया।

विद्या—धरब योगिनियाँक भेस रे, करब मोजे पहुक उदेश रे॥

ज्ञान—जे देशे पराण वन्धु सेइ देशे जाव, परिया अरुण वास योगिनी हइब॥

विद्या—किङ्किनि किनि किनि कङ्कण कन कन घन घन नूपुर बाजे।
रतिरण मदन पराभव मानल जय जय डिंडिम बाजे॥

ज्ञान— कंकन किन किन झन झन रण रणि रति रण बाजन बाजे।

विद्या—सायरे तेजब परान , आन जनम होयब कान॥
कानु होयब जब राधा , तब जानब विरहक बाधा॥

ज्ञान—काम-सागरे कामना करिया साधिब मनेर साधा॥
आपनि हइब नंदेर नंदन तोमारे करिब राधा॥

विद्या—अनिमिख नयन नाह मुख निरखइत तिरपित न भेल नयान रे।
ई सुख समय सहय एत संकट अबला कठिन परान रे॥

ज्ञान—अनिमिख निकट नाह मुख हेरइत तिरपित नहि ए नयान।
ए सब समय सहय एत संकट अबला कठिन परान॥

ऊपर के अवतरणों से यह पूर्ण प्रमाणित हो जाता है कि ज्ञानदास किस प्रकार विद्यापति से प्रभावित हुए हैं, क्योंकि उनकी कविता पर विद्यापति की अमिट छाप विद्यमान है। यहाँ पर विद्यापति और ज्ञानदास के बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाववाले कुछ पद दिये जाते हैं। ज्ञानदास का वयः सन्धि वर्णन नीचे पढ़िये—

ए सखि ए सखि बुझइ न पारि, किए धनि बाला किए वर नारि॥
रस परसङ्ग सुनइ सुख पाय, रसवती सङ्ग छोड़ि नाहिं जाय॥
आध आध चाहि याइ पद आधा, रस परसङ्गे सुनइ बहु साधा॥
हामरा दुहु जन पथे एकु मेलि, सुजन जन सभे कर आन केलि॥
यव कछु पूछय उतर न पाव, अधरक पाश हास पशि याव॥
एछन रमणी दैव देल सङ्ग, विहि उदगीम चाहि दिल भङ्ग॥
ब्रहाके वाज वल हामार त लाज, ज्ञानदास कह दूरे रहु काज॥

ज्ञानदास जी ने इस पद रचना की सामग्री विद्यापति के वयःसन्धि-वर्णन से ली है। जिन साहित्य-मर्मज्ञों ने विद्यापति के वयःसन्धि वर्णनात्मक पद पढ़े हैं, वे सहसा कह उठेंगे कि ज्ञानदास के पद के कितने ही चरणों के भाव विद्यापति के पद से लिये गये हैं। जैसे—विद्यापति के "सुनइत रस कथा थापए चीत, जइसे कुरङ्गिनि सुनय संगीत" का निकृष्ट आभास ज्ञानदास के 'रस परसङ्ग सुनइ सुख पाय' में मिलता है। पुनः "चउँकि चलय खने खने चलु मंद" की अनुच्छाया पर "आध आध चाहि याइ पद आधा" की रचना की गई है। ज्ञानदास के उपर्युक्त पद में "अधरक पाश हास परशि याव" बहुत सुन्दर हुआ है और वह अभिनव भाव का अनुपम निदर्शन है। पद से सहसा स्पष्ट हो जाता है कि बालिका अत्यन्त हँसमुख है, क्योंकि उसकी अनवधानता में भी हँसी सहसा छिपकर अधर-प्रदेश में मनमोहन खेल खेलने लगती है। यों तो विद्यापति के वयःसन्धि वर्णनात्मक अनेक पदों से ज्ञानदास ने भाव-रत्नों का संचय किया है, परन्तु इसके लिए वे विशेषतया विद्यापति के निम्नांकित पद के अवलम्बी बने हैं। यथा—

खन भरि नहि रह गुरुजन मांझे, वेकत अंग न झपावय लाजे॥
बाला जन संगे यब रहई, तरुनी पाइ परिहास तँहि करई॥
माधब तुय लागि भेटल रमणी, के कहु बाला के कहु तरुणी॥
केलिक रभस यब शुने आने, अनतय हेरि ततहि दए काने॥
इथे यदि केओ करय परचारि, काँदन माँखि हाँसि दए गारि॥
सुकबि विद्यापति भाने, बाला चरित रसिक जन जाने॥

ज्ञानदास के उपर्युक्त पद में "अधरक पाश हास पशि याव" अच्छा उतरा है, परन्तु विद्यापति के "काँदन माँखि हाँसि दए गारि" में स्त्री-स्वभाव का बड़ा ही अच्छा निदर्शन है। वैष्णव कवियों ने वयःसन्धि का वर्णन बहुत हो कम किया है। केवल विद्यापति ने ही वयःसन्धि का विशद भावपूर्ण खाका खींचा है, अतएव उपर्युक्त वर्णन में ज्ञानदास ने विद्यापति ही को आधार माना है, इसे प्रमाणित करने का विशेष प्रयास अनावश्यक ही है। ज्ञानदास के वसंत-वर्णन की एक छटा देखिये—

आओब रे ऋतुराज वसंत, खेलत राइ कानु गुणवंत ॥
तरु कुल मुकुलित अलिकुल धाव, मदन मधूत्सव पिक-कुल राव ॥
दिने दिने दिनकर भेल किशोर, शीत भीत रहु शिखर कोर ॥
मलयज पवन सहित भेल मीत, निरखि निशाकर युवजन हीत ॥
सरोवर सरसिज श्यामल देहा, ज्ञानदास कहे रस निरवाहा ॥

ज्ञानदास ने उपर्युक्त वासन्ती लहर की सृष्टि कुछ नई नहीं की है। उनके वसन्त-वर्णन का बहुत-कुछ मसाला विद्यापति के इस पद से मिला है। जैसे—

आयल ऋतुपति राज वसंत, धाओल अलि-कुल माधवि पंथ ॥
दिनकर किरण भेल पौगंड, केसर कुसुम धयल हेम दंड ॥
नृप आसन नव पीपर पात, काञ्चन कुसुम छत्र धरु माथ ॥
मौलि रसाल मुकुट भेल ताय, सुमुखहि कोकिल पञ्चम गाय ॥

+ + +

शिखि कुल नाचत अलिकुल यंत्र, आन द्विजकुल पढ़ आशिष मंत्र ॥

सैन्य साजल मधुमक्खिक कूल , शिशिरक सबहु कयल निरमूल ॥
नव वृन्दावन राज्ये विहार , विद्यापति कह समयक सार ॥

यद्यपि ज्ञानदास का उपर्युक्त पद कम सुन्दर और मधुर नहीं है, तथापि विद्यापति के उक्त पद के समक्ष वह निष्प्रभ-सा जँचता है। दोनों कवियों की उपर्युक्त कविताओं की तुलनात्मक विवेचना व्यर्थ है, क्योंकि दोनों में महान् अन्तर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यदि विद्यापति पहले नहीं हुए होते और ज्ञानदास की रचना नई रहती तो उसका मूल्य भी होता । तथापि ज्ञानदास के पद में 'तरुकुल मुकुलित अलिकुल धाव, मदन मधूत्सव पिक कुल राव' सुन्दर तथा मधुर भाव-संवलित है। हाँ, ज्ञानदास के पद में 'निरखि निशाकर युवजन हीत' एक नई बात है जो विद्यापति के पद में नहीं पाई जाती। परन्तु विद्यापति को तो वसंत में राजा का रूपक बाँधना था। इस साङ्ग रूपक के बाँधने में विद्यापति कहाँ तक सफल हुए हैं, इसे साहित्य-समीक्षक ही कह सकते हैं। विद्यापति तो राजकवि (Poet Laureate) थे, भला तब वे राजा के वर्णन,में जरा भी कोर-कसर रहने देते ?

विद्यापति और बलरामदास

बंगाल के वैष्णव पदकर्त्ताओं में बलरामदास नाम के अनेक कवि हो गये हैं; परन्तु अन्यतम पदकर्त्ता बलरामदास का व्यक्तित्व सिद्धान्त रूप से निर्णीत नहीं हो पाया है। ऐसा होने पर भी उनके कवित्व का चमत्कार अत्यन्त ही आदरणीय है।

बलरामदास का स्थान वैष्णव पद-कर्त्ताओं में बहुत ऊँचा है। इस विषय में स्वर्गीय सतीशचन्द्र राय लिखते हैं—

'बलरामेर रसोद्गारेर बाङ्गला पदगुलि एक रकम अतुलनीय बलिलेओ अत्युक्ति हय ना। बांगाली पद-कर्त्तादिगेर मध्ये चण्डीदास, गोविन्ददास ओ ज्ञानदासेर परेइ ये, बलरामदासेर स्थान—ए सम्बन्धे समालोचक दिगेर मध्ये विशेष मत-भेद देखा याय ना।" (पद-कल्पतरु—५ वाँ भाग पृ० १५५)

परन्तु जिस प्रकार विद्यापति की कविता के प्रभाव से चण्डीदास और ज्ञानदास प्रभावित हुए हैं, उसी प्रकार बलराम-दास की कविताओं में भी अनेक स्थल ऐसे मिलते हैं जहाँ विद्यापति की भाषा और भाव का उन्होंने सीधा अनुकरण किया है। अपने कथन की पुष्टि में हम यहाँ कुछ उदाहरण दिये देते हैं। यथा—

विद्यापति—नाभि विवर सओ लोम लतावलि भुजगि निसास पियासा।
नासा खगपति चञ्चु भरम भय कुच गिरि संधि निवासा॥

बलराम दास—नभि सरोवरे लोम-भुजंगिनि विहरे कुच-गिरि-कोर रे।

विद्या—शैशव छोड़ल शशिमुखि देह, खत देइ तेजल त्रिवलि तिनि रेह।

बल—केसरिराज खिणहि माँझ तिन त्रिवली लेखा।
एके एके तिन भूवन हारिया दयल ए तिन रेखा॥

विद्या—फूयल कबरी अवनत आनन कुच परसथ परचारि।

बल—फुयल कबरी लुटये सुन्दरि कत नदी वहे लोर।

यहां बलराम दास का एक पद नीचे देखिये—

तुमि मोर निधि राइ तुमि मोर निधि, ना जानि कि दिया तोमा निरमिल विधि॥
बसिया दिवस राति अनिमिख आँखि, कोटि-कलप यदि निरवधि देखि॥

तभु तिरपित नहे ए दुइ नयान, जागिते तोमारे देखि स्वपन समान ॥

× × ×

हियार भितर हैते के कैल बाहिर, तेञि बलरामेर पहुँ चित नहे थिर ॥

उपर्युक्त पद की दूसरी तथा तीसरी पंक्तियों का भाव विद्यापति के निम्नाङ्कित पद से लिया गया है—

> अनमिख नयन नाह मुख निरखइत तिरपित न भेल नयान रे ।
> ई सुख समय सहय एत संकट अबला कठिन परान रे ॥

कौन नहीं कहेगा कि बलराम दास की उपर्युक्त पद विद्यापति के उद्धृत पद के आधार पर बना है? न केवल विद्यापति का भाव, वरन् भाषा तक को बलराम दास ने अपने पद में आत्मसात् कर लिया है। फिर भी विद्यापति के कवित्व के चारु चमत्कार को बलराम दास नहीं पासके हैं।

बलराम दास के विरह वर्णन की एक छटा देख लीजिए—

> माधव कि कहब विरह विषाद ।
> तिल एक तुहुँ बिने यो कहे युग शत ताहे कि एतहुँ परमाद ॥
>
> पंथ नेहारिते नयन अंधायल दिने दिने खिण भेल देह ।
> कत उनमाद मोह बहि याओत कत परबोधव केह ॥
>
> दसमि दशाये आछये एक औखध श्रवणे कहइ तुया नाम ।
> शुनइते तबहि पराण फेरि आओत से। दुख कि कहब हाम ॥
>
> कत कत बेरि तोहे सम्बादलुँ कैछन तुया आशोयास ।
> ना बुझिये रीत भीत रहुँ अन्तरे कहतहि बलराम दास ॥

विद्यापति के भी एक पद की झलक देखिये—

> करहि मिलल रह मुख नहि सुन्दर जनि खिन दिवसक चन्दा ।
> प्रकृति न रह थिर नयन गरय निर कमल गरए मकरन्दा ॥

हे माधव तुअ गुने झामरि रामा ।
दिने दिने खिन तनु पिड़ए कुसुमधनु हरि हरि ले पए नामा ॥
निंदय चंदन परिहर भूषन चाँद मानए जनि आगी ।
दसमि दसा आवे तें धनि पाओल वधक होवएह तोंहे भागी ॥
अवसर वहला कि नेह बढ़ाओब विद्यापति कवि भाने ।
राजा शिवसिंह रुपनरायन लखिमा देवि रमाने ॥

बलराम दास के उपर्युक्त पद में 'तिल एक तुहुँ बिने बो कहे युग शत' भावपूर्ण और सुन्दर है। उन का 'पन्थ निहारिते नयन अंधायल' विद्यापति के अन्य पद— नयन अन्धाओल पिया पथ देखि देखि—का अनुकरण है। दशवीं दशा की औषधि 'तुअ नाम' सुनते ही प्राण के प्रत्यागमन का वर्णन सुन्दर भाव द्योतक हुआ है तथापि विद्यापति का पद बलराम दास से किसी तरह न्यून नहीं कहा जा सकता । 'जनि खिन दिवसक चन्दा' 'कमल गरए मकरन्दा' आदि उपमाएँ बहुत ही सुन्दर हैं। जहां बलराम दास ने सीधा सादा 'दिने दिने खिण भेल देह' ही भर लिखा है वहां विद्यापति ने व्याकुलता द्योतक 'दिने दिने खिन तनु पिड़ए कुसुमधनु' की रचना की है। दोनों पदों में अन्तर यह है कि बलराम दास की राधा की 'दसमि दशा' बहुत पहले ही प्रारम्भ हुई है, परन्तु विद्यापति की राधा ने उस अवस्था में अभी प्रवेश ही किया है। तथापि 'वधक होएवह तोंहे भागी' का उल्लेख बड़ा ही सुन्दर है। 'अवसर वहला कि नेह बढ़ाओब' की नीति का दृष्टांत अनुपम हुआ है, जिससे प्रेम मिलन का सुन्दर संकेत लक्षित होता है।

विद्यापति और राधामोहन

राधामोहन ठाकुर वैष्णव पद साहित्य के सिद्धहस्त टीकाकार हो गये हैं। वे संगीत विद्या-विशारद, प्रगाढ़ शास्त्रज्ञ और एक रसिक कवि भी थे। उन्हों ने 'पदामृत समुद्र' नामक सुप्रसिद्ध वैष्णव पदावली का संकलन किया और उसका 'महाभावानुसारिणी' नामक संस्कृत टीका लिख कर अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त की। इस ग्रन्थ से उनका व्यापक पाण्डित्य, प्रगाढ़ अध्ययन एवं अनुपम कल्पना शक्ति का पता चलता है। वे न केवल भाषा कवि थे, वरन् संस्कृत साहित्य के भी प्रगाढ़ पण्डित और उस भाषा में भी कविता करने की पूरी योग्यता वाले थे। उनकी कविताओं के अध्ययन से पता चलता है कि वे महानुभाव भी विद्यापति और गोविन्ददास से अनुप्राणित हुए थे, परन्तु उन्होंने विद्यापति की अपेक्षा मैथिल गोविन्ददास को ही अपना आदर्श माना है और इन्हींकी काव्य परिपाटी का अनुसरण किया है। उन्होंने विद्यापति के भाव एवं भाषा को अपने पदों में किस प्रकार स्थान दिया है, इसका दिग्दर्शन मात्र यहां दिया जाता है।

विद्यापति–लीला कमले भमर धरु वारि, चमकि चललि गोरि चकित निहारि

राधामोहन–लीला कमलहि कानु ताहा वारि, मदसूदन गेओ कहत उचारि

विद्या—रतिरणे मदन पराभव मनाल जय जय डिंडिम बाजे

राधा—बूझल मदन पराभव मानल जीतल युगल किशोर।

विद्या—कत कत लछमी चरनतल नेउछय रंगिनि हेरि विभोर।

राधा—कत शत चाँद चरणतले नीछई लाख मदन तहिं रोई।

विद्या—बाला शैशव तारुण भेट, लखइ न पारिय जेठ कनेठ।
राधा—शैशव तारुण लखइ न परिय तबहुँ जितल कोटि काम।

विद्यापति और राधामोहनठाकुर के एक एक पद यहां तुलनार्थ उपस्थित किये जाते हैं।

कौतुक चलति भवन कें सजनी गे, संग दस चौदिस नारी।
बिच बिच शोभित सुन्दरि सजनी गे, जनि घर मिलत मुरारी॥
लइ अभरण कए षोड़श सजनि गे, पहिर उतिम रंग चीर।
देखि सकल मन उपजल सजनि गे, मुनिहुक चित नहि थीर॥
नील बसन तन घेरलि सजनि गे, सिर लेल घोघट सारी।
लग लग पहुके चलइत सजनी गे, संकुचल अंकम नारी।
सखि सब देल भवन कें सजनि गे, घुरिआएल सब नारी।
कर धए लेल पहु लग कें सजनि गे, हेरइ बसन उघारी॥
भए वर सनमुख बोलइ सजनि गे, करै लागल सविलासे।
नव रस रीति पिरिति भेल सजनि गे, दुहु मन परम हुलासे॥
विद्यापति कवि गाओल सजनि गे, ई थीक नव रस रीति।
वयस युगल समुचित थिक सजनि गे, दुहु मन परम पिरिति॥

—विद्यापति

सखि गण संगे चलति नव रंगीणी शोभा वरणि ना होई।
कत शत चाँद चरण तल नीछइ लाख मदन तहिं रोई॥
देख देख पहिल समागम रंग।
पद दुइ चारि चलत पुनि फीरइ भीतहिं कंपित अंग॥
ऐछन भाँति आओल याहाँ माधव ठाढ़हिं पुन रहु द्वारि।
अदभुत मनहि बिलासन उन्मुख तबहिं नयन झरु वारि॥

पुन परबोधिया निकटहिं आनिया कहे सखि सुमधुर वाणी ।
बूझि करबि रति जगत दुलह अति कमलिनि सौंपिलुँ आनी ॥
आपन करि तोंहे इह यैछे जानये ऐछन करबि आचार ।
मधुसूदन पुनु चंदन विलेपन वर कुसुमे सुश्टंगार ॥
कह राधामोहन ऐछन शुभ दिन आर किए होयब मोरि ।
निज जन जानि सेवने नियोजब सदय हृदय मोहे गोरि ॥ —राधामोहन

दोनों पदों में एक ही विषय वर्णित है। सखियाँ नायिका को साथ कर नायक से मिलाने को ले जा रही हैं। विद्यापति की नायिका प्रौढ़ा जान पड़ती है और राधामोहन की नायिका मुग्धा। उन दोनों नायिकाओं में जो अन्तर होना चाहिये, वह दोनों की कविताओं में स्पष्ट अंकित है। विद्यापति के पद में 'हेरइ बसन उघारि' का अर्थ घूंघट खोल कर मुंह देखना है जो प्रथम समागम के अवसर पर स्वाभाविक ही है। जहाँ तक वर्णन-विन्यास का सम्बन्ध चमत्कार से है, विद्यापति को राधामोहन दास नहीं छू सके हैं।

विद्यापति और उद्धवदास

अम्बष्ठ कुल भूषण उद्धवदास एक प्रसिद्ध वैष्णव पदकर्त्ता हो गये हैं। इनका असल नाम कृष्णकान्त मजूमदार था, परन्तु वैष्णव दीक्षा से दीक्षित होने पर इन्होंने अपना नाम उद्धवदास रक्खा। उद्धवदास के दीक्षा और काव्यगुरु दोनों ही प्रसिद्ध पदकर्त्ता राधामोहन ठाकुर थे। ये 'पद कल्पतरु' ग्रन्थ के संकलयिता वैष्णवदास के समसामयिक थे, और उनसे

इनकी घनिष्ठ मित्रता भी थी। यहां हम इनकी (उद्धवदास की) एक कविता उद्धृत कर रहे हैं जिससे पता चलेगा कि ये महात्मा भी किस प्रकार विद्यापति से प्रभावित हुए हैं।

दुर गेओ मानिनि मान, राइक कोरे मगन भेल कान॥
अरुण उदय भेल देखि अति भीत, नागर नागरि चमकित चीत॥
श्याम करे धरि धनि कहे मृदु बोल, निज गृहे चल अब नह उतरोल॥
देव आराधने आयब हाम, पुनि दरशन होयब सोइ ठाम॥
रसिक शेषर तुहुँ विदगध कान, हाम अबला गुणहीन मतिबाम॥
कठिन वचन हाम ये कहलु तोय, इथे किछु अपराध ना लहवि मोय॥
एत कहि दुहुँ जन चलु निज गेह, मंदिरे आयल लखइ न केह॥
ऐछन रसमय दुहुँक चरीत, उद्धवदास हेरि हरषित चीत॥

—उद्धवदास।

दुरे गेल मानिनि मान, अमिया सरोवर डूबल कान॥
मांगय तव परिरम्भ, प्रेम भरे सुवदनि तनु जनु स्तंभ॥
नागर मधुरिम भाष, सुन्दरि गद गद दीर्घ निसास॥
कोरे अगोरल नाह, करु संकीरण रस निर्बाह॥
लहु लहु चुम्बइ बयान, सरस विरस हृदि सजल नयान॥
साहसे उरे कर देल, मनहिं मनोभव तब नहिं भेल॥
तोड़ल जब निवि बन्ध, हरि सुखे तवहि मनोभव मन्द॥
तब किछु नाहक सूख, भन विद्यापति सुख की दूख॥

—विद्यापति।

उद्धवदास के पद में भाव एवं भाषा का सुन्दर परिदर्शन हुआ है। परन्तु दोनों कविताओं का विहंगम दृष्टि से

अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि उद्धवदास ने विद्यापति के भाव को किस प्रकार अपना लिया है। उद्धव-दास ने विद्यापति के ध्रुवपद को भी 'गेल' के स्थान में 'गेओ' मात्र कर के रख लिया है। इन्होंने विद्यापति के मानमोचन सम्बन्धी उक्त पद को पढ़कर ही अपनी रचना की है, यह अनायास कहा जा सकता है। उद्धवदास ने मान-भंग के पश्चात् 'राइक कोरे मगन भेल कान' लिखकर मानमोचन के वर्णन को समाप्त कर डाला है और मानोपनोदन के बाद ही राइ (राधा) की गोद में श्याम स्थान पा लेते हैं। परन्तु विद्यापति की नायिका के प्रति मान-भंग होनेपर परिरंभन (आलिगंन) के लिये मधुरिम भाषा में नायक की प्रार्थना और उसके सुनने से गद्गद होने में सञ्चारी भाव के सञ्चार-वशतः अङ्कम में भरने के वर्णन में रसपरिपाक का अनुपम निदर्शन यथेष्ट सुन्दर हुआ है। यह बात ठीक है कि उद्धवदास का देव पूजन के बहाने पुनर्दर्शन का वर्णन बड़ा ही सुन्दर हुआ है, फिर भी मानमोचन के अनन्तर रस-परिपाक का जहां तक प्रश्न है, उद्धवदास विद्यापति को नहीं पा सके हैं—पीछे ही छूट गये हैं।

यथार्थ में विद्यापति वैष्णव कवियों के काव्य गुरु हैं। वंगीय कवियों पर विद्यापति का कैसा व्यापक प्रभाव पड़ा है इसका थोड़ा-बहुत दिग्दर्शन कराया जा चुका। विद्यापति ने वंगीय कवियों को उनकी रचनाओं के लिये भाषा, भाव तथा शैली भी प्रदान की है। वैष्णव साहित्य के अध्ययन से पता

चलता है कि बंगाल में दो सौ वर्षों तक कविता के क्षेत्र में विद्यापति के सम्प्रदाय (*Vidyapati school of poetry*) का प्राबल्य रहा है। विद्यापति ने ऐसी महिमामयी कविता की रचना की है कि उनकी कविता इस बीसवीं शताब्दी में भी बंगीय कवि-समाज को कविता करने का प्रश्रय प्रदान कर रही है। माइकेल मधुसूदन दत्त के 'विरहिणी ब्रजाङ्गना' नाम के काव्य पर विद्यापति की कविता का प्रभाव स्पष्ट है। विद्यापति के लिये यह कम गौरव का विषय नहीं है कि वर्त्तमान विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भी विद्यापति की कविता पढ़ने से कविता की अनुभूति प्राप्त हुई थी और उन्होंने (विश्वकविने) सबसे पहले 'भानुसिंह' उपनाम रखकर काव्य-रचना का प्रारम्भ किया था। विद्यापति के सुमधुर छन्द, लालित्यपूर्ण भाषा एवं अभिनव भाव—जिनसे उनका भाव-भरित और प्रेम-पराग-परिपूरित कमनीय काव्य-कुसुम प्रफुल्लित हो रहा है—किसको सहज ही बरबस अपनी ओर खींच नहीं लेते? यह विद्यापति की कविता का पावन पुण्यमय प्रभाव ही मानना चाहिये कि छः सात सौ वर्ष बीतने पर भी वह कवियों को कविता करने के लिये प्रोत्साहित कर रहा है। विद्यापति के छन्द, भाषा, एवं शैली का अनुकरण इस शताब्दी में भी केवल विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ने ही नहीं किया है, वरन् बंगालियों में बङ्किम चन्द्र, राजकृष्ण राय, सुरेशचन्द्र घटक, एवं कालीदास राय आदि ने विद्यापति का इन विषयों में पदानुसरण किया है। अतः यह अक्षरशः सत्य है कि विद्यापति कवियों के भी कवि थे।

विद्यापति और हिन्दी-कवि

मैथिल-कवि-कोकिल विद्यापति ने जिस युग में अपनी कविता-काकली से मैथिली-साहित्य-कानन को गुंजायमान कर रखा था, उस समय तक हिन्दी का साहित्याकाश सूना था—तब तक न तो उस में किसी 'सूर' का ही उदय हुआ था और न 'शशी' का ही पता था। हिन्दी काव्य-जगत् के मुख्य-स्तम्भ महात्मा सूरदास एवं गोस्वामी तुलसीदास जी हैं; किन्तु इन दोनों महानुभावों का आविर्भाव भी विद्यापति से प्रायः डेढ़ दो सौ वर्ष पश्चात् ही हुआ है। फलतः ये दोनों कवि-पुङ्गव जिस समय अपने काव्यालोक से हिन्दी-साहित्य को ज्योतिर्मय बना रहे थे, उस समय कवि कोकिल की सुमधुर काकली समस्त उत्तर भारत के काव्य कानन में पूर्णरूप से गुंजायमान हो रही थी। अतएव यह अनुमान करना स्वाभाविक ही है कि हिन्दी के परवर्ती महाकवियों पर भी विद्यापति की कविता का न्यूनाधिक प्रभाव अवश्य पड़ा है। इसमें अत्युक्ति वा असंगति की गंध तक नहीं।

विद्यापति और तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदास जी अवधी भाषा के अत्यन्त समुज्वल रत्न एवं हिन्दी कवि कुल के शिरमौर हैं। अतएव 'हिन्दी नवरत्न' में इन्हीको शीर्ष-स्थान प्रदान किया गया है। वास्तव में गोस्वामी जी की कृतियों ने हिन्दी-साहित्य

को चमत्कृत कर रक्खा है। गोस्वामी जी स्वयं एक महाकवि माने जाते हैं; अतएव महाकवि विद्यापति के भाव-सादृश्य के पदों के विषय में यह विवेचना की जा सकती है कि दानों महाकवियों को स्वतन्त्र रूप से ही वे सब अनुपम भाव स्फुरित हुए हैं। किन्तु जब हम देखते हैं कि गोस्वामी जी ने चिर काल तक जनकपुर में वास किया है, मैथिल समाज की गति-विधि का असाधारण परिचय अपनी रामायण में दिया है, और विद्यापति के समसामयिक पक्षधर मिश्र (उपनाम जयदेव) विरचित 'प्रसन्न राघव' नाटक से एक नहीं—अनेक स्थलों से भाव ग्रहण किये हैं, तब यह सम्भव ही नहीं, प्रत्युत् स्वाभाविक और अनिवार्य है कि गोस्वामी जी 'क्वचिदन्यतोऽपि' में विद्यापति की भावमयी कविता धारा से जो गोस्वामी तुलसीदास जी के समय मिथिला की गली गली में प्रवाहित हो रही थी, अवश्य ही प्रभावित हुए होंगे।

गोस्वामी तुलसीदास जी बहुत लोक प्रिय कवि हैं। उनकी कविता भक्तिमयी होने के कारण ही सर्वसाधारण में विख्यात है। वे दास्य भाव के भक्त थे, अतएव उनकी कविता-लता भी दास्य भाव का आश्रय लेकर पल्लवित और अनुरंजित हुई है। जहां तुलसीदास जी दास्य भाव के उपासक थे, वहाँ विद्यापति माधुर्य भाव के रस लुब्ध चञ्चरीक थे। जहाँ गोस्वामी जी शृङ्गारिक कविताओं से कोसों दूर रहते थे, वहाँ विद्यापति मधुर रसराज की धारा प्रवाहित कर अपने काव्य-कल्पतरु को संजीवनी-सुधा पिलाने में लग्न

का प्रदर्शन किया है। विरहाधिक्य से विकल और कृष्ण-दर्शनोत्कण्ठिता राधा 'माधव-माधव' रटती हुई माधवमयी हो जाती है। माधव-भावमयी हो जाने के कारण राधा का अभाव उन्हें खटकता है। इस विरह से राधा, 'राधा-राधा' ही रटने लग जाती है। दोनों भावों में विरह की विकट परिस्थिति विद्यमान ही रहती है। राधा की अवस्था उस काठ के कीड़े की तरह हो गई है जिसके दोनों ओर आग लग गई हो और उसके प्राण छटपट कर रहे हों।

प्राण-रक्षा की वह अद्भुत व्याकुलता, जीवन-मरण की वह विकट समस्या इन दोनों पदों की कुंजी है। यह भाव विद्यापति की निजी सृष्टि है और इसीमें उनकी विशेषता भी है। सूरदास ने विद्यापति की अनुच्छाया पर भाव गुम्फित किया है; परन्तु सूरदास से विद्यापति का पद अत्युत्कृष्ट है, साहित्य-मर्मज्ञों के समक्ष यह स्पष्ट ही है। यह पद साहित्य-संसार का एक अद्भुत और अनुपम रत्न है। दारुण प्रेम की पराकाष्ठा है। भावावेश का स्वर्गीय अनुभव है। अपूर्व स्नेह का अपूर्व चित्र है। यद्यपि सूरदासजी ने द्विविध विरह-बाधाओं का वर्णन विद्यापति का पदानुसरण करते हुए किया है और राधा की उपमा भी दारु-गत कीट से दी है, तथापि जो आकुलता और मार्मिकता विद्यापति के 'आकुल कीट परान' में है वा जो बाधा 'दारुण प्रेम तबहु नहि टूटत' में है वा समस्त भावों की कुंजी 'सुन्दरि भेलि मधाई' में है, उसका सूरदास में सर्वथा अभाव ही सा है।

हाँ, सूरदास की पहली पंक्ति भी कम मार्मिक नहीं है; क्योंकि यह पदार्थ अनुभव ही करने का है, समझाने का नहीं। परन्तु दारु-गत कीट को उभय तापों से प्राण-रक्षा की जो आकुलता रहती है, उतनी भावना उसको ठंढक पाने की नहीं रहती। हमारी समझ में विद्यापति के 'आकुल कीट परान' के समक्ष सूरदास का 'शीतलताहि चहै' अत्यन्त ही निम्न श्रेणी का है। यद्यपि सूरदास ने विद्यापति ही के भाव को अपनाया है, तथापि वे उसका निर्वाह ठीक-ठीक नहीं कर सके हैं।

दोनों पदों का पाठ करने पर विद्यापति जितने बड़े भाव-शिल्पी जान पड़ेंगे, सूरदास जी उनके एक अनुकरण करने वाले ही ठहरेंगे। वस्तुतः यह पद विद्यापति को विश्वकवि का आसन प्रदान करता है। इस गीत के प्रसंग में श्रीयुत नगेन्द्रनाथ गुप्त का कथन है "एत उच्च भावेर कविता वैष्णव काव्ये आर नाइ" [पृ० ७ वसुमती संस्करण-विद्यापति]।

विद्यापति और सूरदास दोनों कविवरों में कौन बड़े एवं कौन छोटे हैं, इसका विवेचन करना आसान नहीं। गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में कहना पड़ता है कि "को बड़ छोट कहत अपराधू, सुनि गुण भेद लखहिं कवि साधू"। परन्तु अपने 'विद्यापति' ग्रन्थ में डाक्टर जनार्दन मिश्र ने जिस ढंग से विद्यापति की तुलना सूरदास से कर सूरदास का स्थान बलात् ऊँचा ठहराया है उसे कोई निष्पक्ष निर्णय नहीं कह सकता। उन्होंने सूरदास के काव्य-व्यक्तित्व (*poetic personality*) की तो आलोचना की है, परन्तु विद्यापति के व्यापक

काव्य-व्यक्तित्व की चर्चा ही नहीं की है। यदि दोनों का सारा काव्य-व्यक्तित्व लिया जाय तो सूरदास विद्यापति को नहीं पा सकेंगे। परन्तु दोनों ही महाकवि हैं। दोनों कवियों की तुलनात्मक विवेचना से यह स्पष्ट है कि अभिनव भाव-प्रकाशन में किस प्रकार सिद्धहस्त बाजीगर की तरह दोनों कवियों ने अपने-अपने काव्य-कौशल प्रदर्शित किये हैं। सूरदासजी ने श्रीमद्भागवत की अनुच्छाया पर अपने 'सूर-सागर' की रचना की है, अतएव उनके कथानक में एक-सूत्रता का परिचय प्राप्त होता है और यही कारण है जिससे उनका काव्य मनोरम हो गया है; परन्तु विद्यापति ने किसी कथानक के आधार पर अपनी रचना नहीं की है, केवल श्रृङ्गार के अंग-प्रत्यंगों का वर्णन-विन्यास कर डाला है। विद्यापति ने सूरदास की भाँति सवा लाख पद नहीं बना डाले हैं। पद-बाहुल्य में भाव-बाहुल्य का समावेश हो सकता है, अतएव सूरदास के बहुत पद अत्यन्त मनोहर हैं; परन्तु इतना तो कहना ही पड़ता है कि थोड़ी होने पर भी कवित्व के हिसाब से विद्यापति की रचना जितनी उत्कृष्ट और विश्व-साहित्य में अपना खास स्थान बनाने वाली है, उतनी सूरदास की बहुत रचनाएँ नहीं।

हमारे इस कथन में विद्यापति के प्रति जरा भी अन्ध-प्रेम नहीं। 'वीणा' (मासिक, भाद्र १९३५ ई०) में एक लेखक ने स्पष्ट लिखा है—

"एक बार विद्यापति को भली भाँति पढ़ लेने पर मध्यकालीन युग के कवि फीके मालूम होते हैं। कहीं-कहीं तो सूरदास तक विद्यापति की केवल छाया प्रतीत होते हैं। मामूली कवियों की कौन कहे।"

विद्यापति और देव

देवदत्त त्रिपाठी—जो 'देव' के नाम से प्रसिद्ध हैं–हिन्दी काव्य-संसार के एक समुज्ज्वल रत्न हैं। हिन्दी-साहित्य-संसार उनके काव्य-चमत्कार, भाव-प्रवणता, प्रेम का मार्मिक हृदयोद्गार आदि गुणों की प्रशंसा कर रहा है। कविवर 'देव' की कविता में कुछ ऐसी विशिष्टता उपलब्ध हुई है जिससे हिन्दी-साहित्य के सम्मान्य समालोचक श्रीयुत 'मिश्रबन्धु' के फुलबेञ्च ने 'हिन्दी-नवरत्न' में फैसला कर 'वृहत्त्रयी' में इनको गौरवास्पद स्थान प्रदान कर इस सनातन फैसले को–'सूर सूर तुलसी शशी, उड़गन केशवदास' को—रद्द कर दिया है।

कविवर 'देव' विद्यापति से प्रत्यक्ष रूपेण प्रभावित हुए हैं या नहीं उसका कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। परन्तु यह तो निर्विवाद ही है कि जिस समय वे काव्य रचना करने लगे उस समय महाकवि विद्यापति की अलौकिक कविता का खूब ही प्रचार हो चुका था। विद्यापति राधाकृष्ण की भक्ति-प्रधान शृङ्गारिक कविताओं के भारतीय भाषाओं में आदिकवि वाल्मीकि ही हैं। हम पहले ही लिख आये हैं कि उनकी कविता सुदूर पश्चिम की भक्त-मंडली में पूर्णरूप से प्रचलित भी हो गई थी और हिन्दी के दोनों महाकवि सूर और तुलसी उससे प्रभावित हो चुके थे। वैसी दशा में 'देव' इसके अपवाद हों, यह सम्भव नहीं। अस्तु।

विद्यापति और 'देव' दोनों ही शृङ्गारिक कवि थे। जिस

प्रकार विद्यापति शृङ्गार के अनन्य भक्त थे, उसी प्रकार 'देव' भी रसराज के अत्यन्त प्रेमी थे। रस-प्रसंग में दोनों कवियों के भाव एक ही हैं। जैसे—'सुन्दरि चलु अभिसारे, रस सिंगार संसारक सारे'। पुनः 'रस सिंगार पार के पाओत अमोल मनोभव सिद्धा' (विद्यापति)। देव लिखते हैं—'बानी को सार बखान्यो सिंगार सिंगार को सार किशोर किशोरी। (प्रेम-चन्द्रिका) पुनः 'सकल सार सिंगार है, सरस माधुरी धाम'। (भाव-विलास) दोनों कवि प्रेमी थे, प्रेम के प्रसंग में दोनों का विचार बड़ा उच्च था। प्रेम-भाव को व्यक्त करने में दोनों ने बड़ी निपुणता प्रदर्शित की है।

अब हम दोनों कवियों के तुलनात्मक भावों के पदों को उद्धृत कर आलोचना में प्रवृत्त होते हैं। विद्यापति का एक पद निम्नाङ्कित है—

माधव ई नहि उचित बिचारे।
जनिक एहन धनि काम-कला सनि से किय करु ब्यभिचारे॥
प्रानहुँ ताहि अधिक कए मानब हृदयक हार समाने।
कोन परिजुगुति आनके ताकब की थिक हुनक गेयाने॥
कृपिन पुरुष कें केओ नहिं निक कह जग भरि कर उपहासे।
निज धन अछइत नहिं उपभोगब केवल परहिक आसे॥
भनहि विद्यापति सुनु मथुरापति ई थिक अनुचित काजे।
माँगि लायब बित से जदि हो नित अपन करब कोन काजे॥

इसी भाव का प्रतिबिम्ब कविवर 'देव' की इस कविता में पाया जाता है—

मन्दहास चन्द्रिका कौ मन्दिर बदन चन्द,
सुन्दर मधुर बानि सुधा सरसाति है।

इन्दिरा के ऐन नैन इन्दीबर फूलि रहै,
बिद्रुम अधर दंत मोतिन की पाँति है।
ऐसो अद्भुत रूप राधिका कौ 'देव' देखौ,
जाके बिनु देखे छिन छाती न सिराति है।
रसिक कन्हाई बलि पूछन हौं आई,
तुम्हैं ऐसी प्यारी पाइ कैसे न्यारी राखी जाति है।

दोनों कविताओं का मुख्य भाव एक ही है। दोनों पदों में राधा की दूती कृष्ण को उलाहना देती है कि राधा-सी सुन्दरी को सम्भोग-सम्मिलन से वञ्चित रखना उचित नहीं। जिस भाव को विद्यापति ने दूसरे चरण में व्यक्त किया है, 'देव' ने उसी भाव को अपने कवित्त के अन्तिम चरण में लक्षित किया है। 'देव' ने सुन्दरी राधा के रूप-लावण्य का बहुत सुन्दर सुमधुर भावपूर्ण वर्णन किया है। 'देव' का 'जाके बिनु देखे छिन छाती न सिराति है' बड़ा ही मार्मिक हुआ है। विद्यापति का भी 'प्रानहु ताहि अधिक कय मानव हृदयक हार समाने' कम कवित्व-पूर्ण और भावमय नहीं है। इसके अतिरिक्त जहाँ 'देव' ने राधा की सुन्दरता का विन्यास-पूर्ण विवरण करने में अपनी काव्य-चातुरी प्रकट की है, वहाँ विद्यापति ने 'काम कला सनि' और 'प्रानहु ताहि अधिक कए मानव' में सब सामग्रियों का संक्षेप में समावेश कर दिया है और कृपण का उदाहरण देकर शृङ्गारिक सदुपदेश के पुट से अपने पद को अभिनव भाव से अधिक अनुरञ्जित किया है। परन्तु सत् समालोचना के लिहाज से एक बात कहे बिना हम

नहीं रह सकते। विद्यापति के गीत में स्पष्ट रूप से 'व्यभिचार' शब्द का उल्लेख कुछ खटकता है। यह शब्द मैथिल कोकिल के रसोत्कर्ष का कुछ-कुछ अपकर्ष ही कर रहा है। यद्यपि 'देव' की कविता में भी 'रसिक कन्हाई' तथा 'ऐसी प्यारी पाइ कैसे न्यारी राखी जाति है' में कुछ इसी भाव का आभास पाया जाता है; परन्तु 'व्यभिचार' शब्द आ जाने के कारण दोनों कविताओं में जो अन्तर पड़ गया है, उस प्रसङ्ग में हिन्दी के कवि गिरिधर दास के स्वर में स्वर मिलाकर कहना पड़ता है—

नारि-पयोधर कवित-छवि, अध उघरे सुख देत।
गिरिधर दास बिचारिये, उघरे महा अहेत॥

अब एक दूसरे पद की छटा देखिये—

धनि धनि रमनि जनम धनि तोर।
सब जन कान्हु कान्हु कए झूरए से तुअ भावे विभोर॥
चातक चाहि पियासल अम्बुद चकोर चाहि रहु चन्दा।
तरु लतिका अवलम्बन करिए मझु मन लागल धन्दा॥
केश पसारि जबहि तुहुँ अछली उर पर अम्बर आधा।
से सब सुमरि कान्हु भेल आकुल कह धनि इथे कि समाधा॥
हँसइते कब तुहुँ दशन देखायलि करे कर जोरहिं मोर।
अलखिते दिठि कब हृदय पसारलि पुनु हेरि सखी कर कोर॥
एतहु निदेश कहल तोंहे सुन्दरि जानि तोंहे करह विधान।
प्राणपुतलि तुहुँ से शून कलेबर कवि विद्यापति भान॥—विद्यापति

लोचन लचाइ लचि लाजनि चलति त्यौं त्यौं,
लाल लचे जात चित लागी ललचई है ।
'देव' दृग दोऊ भरि हौसनि हियो उभरि,
भुज भरि भाग अनुराग भरि लई है ॥
सौंहे सुखदानि तौ सुखद मुख देखि पल,
आध न अघात देख साध नित नई है ।
धनि धनि रूप गुन सधनि अनूप धन,
या गृह धनी को निधनी को धन भई है ॥—देव

दोनों कविताओं के विषय और उद्देश्य एक हैं । दोनों ही ने राधाजी को धन्य कहा है । परन्तु 'देव' जी विद्यापति के भाव को ठीक-ठीक नहीं अपना सके हैं, प्रत्युत उन्होंने उसे बिगाड़ ही डाला है । यह बात सत्य है कि 'देव' के कृष्ण को राधा के मुखावलोकन से क्षण-मात्र भी तृप्ति नहीं, बराबर ही अभिनव अभिलाषा बढ़ रही है; परन्तु यह बात तो संसार के सामान्य नायक-नायिका में भी चरितार्थ हो सकती है । फिर इसमें विशेषता ही क्या रही? राधा जी क्यों धन्य हैं, इसी को दोनों कवियों ने अपनी युक्ति से पुष्ट किया है । 'देव' ने इस बात का जो उत्तर दिया है, अर्थात् 'या गृह धनी को निधनी को धन भई है' यहाँ एक सामान्य लोकोक्ति मात्र देकर ही राधाजी को धन्यवाद दिया गया है । 'निधनी का धन' इस पद में परोक्ष रूप से भले ही रमासदन कृष्ण की प्रशंसा की गई हो, पर प्रत्यक्ष रूप में तो वे 'निधन' ही कहे गये हैं । हाँ, यह बात दूसरी है कि इससे खींचातानी कर यह अर्थ

लगाते हुए अपना अभीष्ट साधित किया जाय—"राधा के विना कृष्ण (सब कुछ रहते हुए भी) निर्धन ही हैं"।

अब जरा विद्यापति के पद पर विचार कीजिये। राधा जी के धन्य होने का क्या ही अनुपम कारण उपस्थित किया गया है—'सब जन कान्हु कान्हु कए झूरय से तुअ भाव विभोर'। कृष्ण कोई सामान्य पुरुष नहीं हैं। निर्धन कृष्ण की तो बात ही नहीं। वे तो वह कृष्ण हैं जिनको पाने के लिये सारा संसार विकल है। वे उस घर के धनी हैं जिसको असंख्य ललना-रत्नों ने शृङ्गार का आदर्श माना है। परन्तु हे राधे, वे कृष्ण तुमसे केवल साधारण हाव-भाव वाला प्रेम नहीं करते; प्रत्युत तुम्हारे भाव में विभोर हैं। पाठक-वर्ग सोचें कि विद्यापति केवल 'विभोर' शब्द के द्वारा कृष्ण के अनन्य प्रेम का जितना भाव व्यक्त कर सके हैं; क्या 'देव' की तीन-तीन पंक्तियाँ भी उतना कर सकी हैं; उसमें भी 'सब जन कान्हु कान्हु कए झूरय' कहकर कृष्ण की यथार्थ महत्ता और राधा की वास्तविक धन्यता सूचित करने में विद्यापति ने कमाल कर डाला है। यही नहीं, 'तरु-लतिका अवलम्बनकारी' आदि सुन्दर-से-सुन्दर उपमाओं द्वारा कृष्ण को राधा के प्रति अनन्य रूप में आकृष्ट देखकर कवि धंध में पड़ जाते हैं। क्यों नहीं? संसार का अटल नियम टल गया है—प्रकृति में विपर्यय उपस्थित हो गया है। ये सब अघटित घटनाएँ जिस राधा के कारण घटित हुई हैं; यदि संसार में वे धन्य न हों तो कौन हो? जहाँ 'देव' जी ने राधा को 'निधनी

का धन' माना है, वहाँ विद्यापति कहते हैं—'प्राण-पुतलि तुहु से शुन कलेवर' अर्थात् कृष्ण-रूपी शून्य कलेवर में तुम प्राण की पुत्तलिका हो! तुम, प्राणपुत्तली, के विना कृष्ण का शरीर सूना है—विना प्रकृति के ब्रह्म निष्क्रिय है। विदग्ध पाठक देखें कि क्या देव विद्यापति का छोर भी पा सके हैं?

विद्यापति का यह भाव रत्नों का रत्नाकर है। जितनी ही डुबकियाँ लगाई जायँगी उतने हो नूतन और अनमोल रत्नों का आविष्कार होगा। मधुर भाव के प्रेमी भक्त यदि इस पद पर अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दें तो आश्चर्य ही क्या? इसके आगे 'देव' का पद साधारण जलाशय मात्र ठहरता है जो सुन्दर बनाने के प्रयत्न ही में कुछ विगाड़ दिया गया है। साहित्य-समीक्षक स्वयं निष्पक्ष हो विचार करें। कविवर देवजी की एक सवैया यों है—

> साँसन ही सों समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
> तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि॥
> देव जियै मिलिबेई की आस कै आस हू पास अकास रह्यो भरि।
> जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरिजू हरि॥

विद्यापति का एक गीत इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ४६ में देखिये।

'देव' के उपर्युक्त पद की प्रशंसा का पुल श्रीयुत कृष्ण-विहारी मिश्र ने अपने 'देव और विहारी' ग्रन्थ में बाँध दिया है। परन्तु उस पद का भाव 'देव' का अपना नहीं है; क्योंकि ठीक इसी भाव का संस्कृत का पुराना श्लोक है जिसको उन्होंने अपने ग्रन्थ में भी उद्धृत किया है। यथा—

"मांसं कार्श्याद‍भिगतमपां विन्दवो वाष्प-पातात् ।
तेजः कान्तापहरणवशाद्वायवः श्वासदैर्घ्यात् ॥
इत्थं नष्टं विरहवपुपस्तन्मयत्वाच्च शून्यं ।
जीवत्येवं कुलिश-कठिनो रामचन्द्रः किमेतत् ॥"

यह स्पष्ट है, 'देव' जी ने अपनी सवैया का मसाला उक्त श्लोक से ले लिया है। हमारी समझ में भाव की रक्षा तो सवैया से श्लोक ही में अच्छी तरह से हुई है। उक्त सवैया सर्वथा दोष से मुक्त नहीं है। कारण, पाँचों तत्वों में 'देव' की नायिका की श्वास-वायु ही सब से पहले विदा हो जाती है। श्वास-वायु के चले जाने पर प्राणों का बचना असम्भव है। वैसी दशा में भी 'देव' की नायिका का जीती-जागती रहना एक पहेली ही है। यदि श्वास-वायु के जाने का वर्णन अन्त में रहता तो कुछ-कुछ दोष का मार्जन हो जाता; परन्तु सब से पहले श्वास-वायु ही का प्रस्थान और फिर भी नायिका का जीवन धारण प्रकृति-विपर्यय जान पड़ता है।

अब विद्यापति का भाव-चमत्कार देखिये। कृष्ण के अनन्त प्रेमालिङ्गन की लालसा से अपने शृङ्गार के लिये राधा ने शरद् के पूर्णचन्द्र से मुख की शोभा; हरिण से नेत्र-विलास, चँवर से केश-पाश की शोभा, आदि आदि ली थी; परन्तु कृष्ण के चिर विरह-वह्नि से सन्तप्त होने पर उन्होंने जिन-जिन से जो-जो चीजें ली थीं; उन-उन को वे चीजें लौटा दी हैं अर्थात शरीर-रचना के उपकरणों को (उपमानों को) वे उपकरण लौटा दिये गये हैं। विद्यापति की विरह-विधुरा राधा ने सब को सब कुछ तो दे डाला, पर इतने पर

भी पति के प्रति अपने अनन्त प्रेम की रक्षा 'जीव दय जापथि' अर्थात् प्राणों को होम करके कर रही है। मानों स्वयं तिल-तिल घुलकर प्रेम की रक्षा कर रही हो। धन्य है प्रेम की पराकाष्ठा! इस गीत का अन्तिम पद 'जाइ पियाबिअ अधर सुधारस तों पै जीव तौं जीवे' अत्यन्त मार्मिक भावों से भरा है। विरह की विकट मूर्च्छितावस्था में अधर सुधारस ही संजीवनी बूटी का काम कर सकता है। परन्तु विद्यापति की राधा की ऐसी विकट परिस्थति हो गई है कि डर है, उस बूटी के प्रयोग से भी वह बचेगी वा नहीं। धन्य कवि की कल्पना-शक्ति और धन्य कवि-कोकिल का प्रेमोत्कर्ष वर्णन! विद्यापति के प्रेम का उत्कर्ष, विरह की व्याकुलता और काव्य-चातुरी अत्यन्त ही चित्ताकर्षक हैं। 'देव' की सवैया का भाव भी सुन्दर है, परन्तु वह विद्यापति के महत्व को नहीं पा सकता। इसको सत्समालोचक कह सकते हैं।

'देव' का नाम यथार्थ में उनके वाग्विलास के कारण है। यद्यपि अपनी मातृ-भाषा पर विद्यापति का पूर्ण अधिकार है और उनके कई पद पद-लालित्य के सुन्दर उदाहरण हैं, तथापि विद्यापति इस सामान्य सम्पत्ति को तुच्छ समझकर भाव-राज्य ही के एकच्छत्र अधिकारी हुये हैं। इस दृष्टि से वे संसार के किसी भी कवि के साथ भली भाँति टक्कर ले सकते हैं। हिन्दी के अनेकानेक कवि जिन्हें कवि सम्राट् और महाकवि आदि की उपाधियाँ मिल चुकी हैं—विद्यापति के समग्र व्यक्तित्व के समकक्ष किसी प्रकार नहीं ठहर सकते।

विद्यापति और विहारी

विहारीलाल व्रजभाषा साहित्याकाश के एक समुज्ज्वल नक्षत्र और हिन्दी सुन्दरी के भाग्य-ललाट की चमकती बिन्दी है। उनके छोटे-छोटे दोहों में अपार भाव-राशि का गुम्फन और अन्तस्तल की एक तारा को झंकृत करनेवाली अभिनव कल्पनाओं का प्रस्फुटन ऐसा चित्ताकर्षक हुआ है कि साहित्य-रसिक समाज में विहारीलाल अत्यन्त ही लोकप्रिय हो चुके हैं।

विद्यापति और विहारीलाल के जीवन और कविता में बहुत बातों की समानता है। जिस प्रकार विहारीलाल की कविता-कुसुम-कली के यथार्थ 'अली' जयपुराधीश राजा जय-सिंह थे, उसी प्रकार विद्यापति की 'कविता-चन्द्रिका' के चाहक चकोर ओईनवार-कुल-तिलक मिथिलाधीश राजा शिवसिंह थे। जिस प्रकार जयसिंह ने उनके एक-एक दोहे के लिये एक-एक अशर्फी पारितोषिक में दी थी उसी प्रकार मैथिल-कवि-कोकिल की काकली से कृतकृत्य होकर महाराज शिव-सिंह ने सम्पूर्ण विस्फी गाँव उनको जागीर में दे डाला था। जिस प्रकार विद्यापति ने मुक्तक काव्य की रचना की उसी प्रकार विहारीलाल ने अपना नैपुण्य मुक्तक काव्य में ही प्रदर्शित किया है।

इन सब बातों की समता रहते हुए भी दोनों के जीवन और कविता में बहुत-कुछ अन्तर है। विहारीलाल का कविता-काल सोलहवीं शताब्दी है; परन्तु विद्यापति का चौदहवीं

शताब्दी। विहारी की कविताएँ कुसुम-गुच्छों के समान दोहे रूपी छोटे-छोटे गमलों में सजी-सजाई रक्खी हैं और विद्यापति का काव्य-कमल संगीत के सरोवर में विकसित हो कर अपूर्व सुरभि विकीर्ण कर रहा है। विहारीलाल सफल कवि के रुप में विख्यात हैं और विद्यापति अपनी विश्वविदित शृङ्गारिक गीति-कविता (*Lyrics*) से एक प्रसिद्ध गीतिकार के रूप में रंगमञ्च पर अवतीर्ण होते हैं। इतना अन्तर रहते हुए भी दोनों कवि अनन्य शृङ्गारी थे। अतएव दोनों के भाव कहीं-कहीं आपस में टकरा गये हैं।

विद्यापति और विहारीलाल की तुलनात्मक समालोचना में प्रवृत्त होने के पहले यह जता देना आवश्यक है कि जहाँ-तक गागर में सागर भरने का प्रश्न है वहाँ तक विहारीलाल की तुलना बहुत ही कम कवि कर सकते हैं। छोटे-छोटे दोहों में अनन्त भाव-राशि का प्रदर्शन करने में वे वेजोड़ हैं; परन्तु भाव-प्रदर्शन के प्रश्न में किन्होंने क्या चमत्कार दिखाया है यहाँ इसीका विवेचन करना है।

शैशव यौवन दर्शन देल, दुहु पथ हेरइत मनसिज गेल ॥
मदनक भाव पहिल परचार, भिन जन देल भिन्न अधिकार ॥
कटि केर गौरव पाओल नितम्ब, एकक खीन आओके अवलम्ब ॥
प्रकट हास अव गोपन भेल, उरज प्रकट अव तन्हिक लेल ॥
चरण चपल गति लोचन पाव, लोचनक धैरज पद तल आव ॥
नव कविशेपर कि कहइत पार, भिन भिन राज भिन्न वेवहार ॥-विद्यापति

नव नागरि तन-मुलुक लहि, जोबन आमिर जौर।
घटि बढ़ि तैं बढ़ि घटि रकम, करीं और की और॥—विहारीलाल

हिन्दी साहित्य-संसार में कविवर विहारीलाल के वयः-सन्धि-वर्णन की बड़ी प्रशंसा है। वयः-सन्धि के ताफता रंग के काव्य-वस्त्र में भावों का कसीदा काढ़ने में उन्होंने कमाल किया है। इस दोहे में 'मुलुक', 'आमिर', 'रकम' आदि शब्दों के चमत्कारिक प्रयोग से ऐसा जान पड़ता है कि मानो नये राज्य की स्थापना से नई परिपाटी चल पड़ी हो। संक्षिप्त रूप से राज्य-परिवर्त्तन का कैसा मुंशियाना वर्णन है। इतना होने पर भी विद्यापति का वर्णन विहारी के वर्णन से कहीं आगे बढ़ गया है और सुन्दर हुआ है। कारण यह है कि जहाँ विहारीलाल ने 'घटि बढ़ि तैं बढ़ि घटि रकम' द्वारा केवल कटि कुच का ही परिवर्त्तन कराया है, वहाँ विद्यापति ने नये-नये व्यक्तियों को नये-नये अधिकार देते हुए, प्रत्यक्ष को अप्रत्यक्ष एवम् अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष करते हुए, चपल को धीर तथा धीर को चपल बनाते हुए नये राज्य स्थापन का जो चारु चित्र खींचा है वह सर्वाङ्ग पूर्ण है—अविकल है। विहारीलाल ने यदि 'करी और की और' में हिन्दी-वाग्धारा का अपूर्व प्रवाह प्रवाहित किया है तो विद्यापति ने भी वही—कदाचित् समयानुसार उससे भी अधिक उपयुक्त-लोकोक्ति का प्रयोग 'भिन भिन राज भिन्न बेवहार' में किया है।

एक बात और है। चतुर नरेश अपनी शक्ति से राज्य

की स्थापना में यद्यपि बहुतेरे परिवर्त्तन करता है सही, तथापि कुछ-न-कुछ प्राचीन प्रथा की रक्षा भी अवश्य ही करता है, अन्यथा वह क्रान्तिकारी कहलाकर इतिहास में बदनाम होता है। विहारीलाल के दोहे में इस राजनीति की गंध भी नहीं। यहाँ वह (राजा) अपने जोर से सब पदार्थों में 'और की और' कर देता है। परन्तु विद्यापति कहते हैं कि 'दुहु पथ हेरइत मनसिज गेल' अर्थात् क्रमात् (*step by step*) वह परिवर्त्तन उपस्थित कर रहा है। कारण यह है कि वह राजा अभी दो चिता है-कभी एक ओर देखता है कभी दूसरी ओर। उसका पूरा प्राबल्य नहीं हो पाया है इसलिए वह सशंक है। यह वर्णन वास्तव में अत्यन्त ही स्वाभाविक और मार्मिक हुआ है। यह कहने में जरा भी संकोच नहीं कि विद्यापति ने भाव-कुसुमों की जो सुन्दर माला तयार की है विहारीलाल ने उसीका कुछ अर्क 'देखत को छोटो लगै घाव करै गंभीर' गुण-सम्पन्न दोहे में रखने का प्रयत्न किया है। प्रयत्न तो क्या किया है, वरन् विद्यापति के भावापहरण करने में उतावली दिखाकर इधर उधर से जितना मिल सका, 'मिश्रबन्धुओं'-के शब्द में 'काँइयाँ' विहारीलाल उतना ही ले देकर चम्पत हो गये। विद्यापति के राज्य-परिवर्त्तन में न्याय्य उत्तराधिकारी के राज्यारोहण का चित्र है, अतएव उस में क्रान्ति, बलात्कार एवं प्रताप परिदर्शन की भावना का आनन्द और उत्सव की अपेक्षा अधिक रहना ठीक ही है। सच तो यह है कि विद्यापति के विविध रंगो से रंजित नेत्र

सुखकर चित्र का खाका (*outline*) ही विहारीलाल खींच सके हैं। अब एक दूसरे पद की विवेचना उपस्थित है।

नायिका शुक्लाभिसारिका है। ज्योत्स्नामयी रात्रि में शुक्ल वेष परिधान-पूर्वक वह नायिका अपने प्राणाधार से मिलने के लिये सहेट को जा रही है। उस नायिका का गौराङ्ग चारु-चन्द्र की चन्द्रिका में घुल-मिलकर तद्गुण अलंकार का साकार उदाहरण बन गया है। वह नायिका अपने साथ की सखी को भी दिखाई नहीं पड़ती। हाँ, नायिका के अंग-सौरभ के रज्जु से मानों बँधी-हुई-सी वह (सखी) उसके पीछे-पीछे जा रही हो—अर्थात् नायिका के अंग-सौरभ से ही वेचारी सखी उसका पता पा रही है। इस दृश्य का सजीव वर्णन विहारी लाल जी यों करते हैं—

जुवति जोन्ह मैं मिलि गई, नैंक न होति लखाइ।
सौंधे कैं डोरैं लगी, अली चली सँग जाइ॥

यह तो हुई विहारी लाल की नायिका की बात। विद्यापति की नायिका भी शुक्लाभिसारिका ही है। दूती उसे इन पदों से उपदेश दे रही है—

आज पुनिमा तिथि जानि मोजे ऐलिहुँ उचित तोहर अभिसार।
देह जोति ससि-किरण समाइति के विभिनावय पार॥
सुन्दरि अपनहु हृदय विचारि।
आँखि पसारि जगत हम देखल के जग तुअ सनि नारि॥
तोहँ जनु तिमिर हीत कए मानह आनन तोर तिमिरारि।
सहज विरोध दूरे परिहरि धनि चल उठि जतय मुरारि॥

दूती वचन हीत कए मानल चालक भेल पँचबान।
हरि अभिसार चललि वर कामिनी विद्यापति कवि भान॥

एक ही विषय है। विद्यापति की दूती पूर्णिमा-तिथि के आ जाने के कारण अभिसार का उपयुक्त समय जताकर प्रस्थान करने के लिये नायिका से युक्ति-युक्त विनय कर रही है। विहारी का 'जुवति जोन्ह मैं मिलि गई नैंक न होति लखाइ' और विद्यापति का 'देह जोति ससि-किरण समाइति के विभिनावय पार' दोनों पद समान ही भाव के सूचक हैं। यद्यपि समय-सम्बन्धी जो अन्तर होना चाहिये वह अन्तर अवश्य दोनों में मौजूद है। विहारीलाल ने 'सोंधे की डोरन' में जो भाव व्यक्त किया है, विद्यापति के पद में उसका उल्लेख नहीं। 'आँखि पसारि जगत हम देखल के जग तुअ सनि नारि' में नायिका के अलौकिक सौन्दर्य की सुन्दर व्यञ्जना है अवश्य, परन्तु 'सोधें की डोरन' की जितनी दाद दी जाय, कम है।

विद्यापति का सम्बोधन-पद 'सुन्दरि अपनहु हृदय विचारि' मार्मिकता से रिक्त नहीं। सखी (दूती) कह रही है कि तुम केवल मेरे ही कथन पर अंधी बनकर आँखें बन्द कर—विश्वास मत करो। जरा स्वयं भी सोचो। पूर्णिमा के कारण तुम्हारी अंग-ज्योति चन्द्रमा की समुज्ज्वल ज्योत्स्ना में सहज ही विलीन हो जायगी। तुम्हें देखेगा ही कौन? 'तोहें जनु तिमिर हीत कए मानह आनन तोर तिमिरारि' पद से तो एक ढेले में दो चिड़ियाँ मारी गई हैं अर्थात् सुन्दरी का सौन्दर्य वर्णन एवम् अभिसार के लिये उपयुक्त समय की

सयुक्ति पुष्टि! विद्यापति कामिनी-हृदय के पूरे पारखी जान पड़ते हैं। किसी स्त्री को वश में करने, अनुकूला बनाने, के लिये उसकी सुन्दरता का वर्णन जादू का अमोघ अस्त्र है। विद्यापति ने दूती के मुख से प्रशंसा के व्याज कैसा जादू फूँक कर उस नायिका को इष्ट-साधन में प्रवृत्त किया है, उसका प्रमाण तो गीत के अन्तिम दोनों चरण स्पष्ट रूप से दे रहे हैं। लोक-लज्जा का भय हटने और प्रशंसा के पुल बाँधने से नायिका अभिसार के मार्ग में पैर रखती है।

अब विहारीलाल के विरह-वर्णन की एक-दो-कृतियाँ देखिये—

कर के मीड़े कुसुम लौं, गई विरह कुम्हिलाइ।
सदा-समीपिनि सखिनुहूँ, नीठि पिछानी जाइ॥

विहारीलाल के वकील स्वर्गीय पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने इस दोहे की प्रशंसा करते हुए लिखा है—'कोमलाङ्गी नायिका की विरह-विवर्णता को मसले हुए फूल की उपमा कितनी अनुरूप और सुन्दर है। मसले या मले हुए पुष्प को चतुर माली भी कठिनता से शनाख्त कर सकता है कि यह क्या फूल है। जिसे हमेशा पास रहनेवाली सखियाँ भी मुश्किल से पहचान सकें, उसकी दशा मले-दले फूल से क्या किसी प्रकार कम हो सकती है?'

अब जरा विद्यापति-अंकित एक विरहिणी का चित्र देखिये—

करतल लीन शोभए मुखचन्द, किसलय मिलु अभिनव अरविन्द॥
अह निसि गरए नयन जलधार, खंजने मिलि उगिलल मोति हार॥
कि करति ससिमुखि कि बोलवि आन, बिनु अपराधे विमुख भेल कान्ह॥

विरहे विखिन तनु भेल हरास, कुसुम सुखाए रहल अछि बास ॥
झखइते संसय परल परान, कबहुँ न उपसम कर पचबान ॥
भनइ विद्यापति सुन वर नारि, धैरज धए रह मिलत मुरारि ॥

विद्यापति का भाव सरल है और साथ ही विहारीलाल के भाव से सुन्दर। विहारी की विरह-विशीर्णा नायिका की उपमा 'कर के मीडे कुसुम' से विद्यापति की उपमा 'कुसुम-सुखाए' बहुत ही सुन्दर है। विरहावस्था में हाथ के व्यापार से क्या संबन्ध ?, अतएव विरहिणी नायिका की उपमा 'कर के मीडे कुसुम' से देना हमारी राय में सुष्ठु और मार्मिक नहीं। यद्यपि महाकवि भवभूति ने विरहिणी मालती का वर्णन करते हुए लिखा है यथा—

"परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः
कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु।" —मालती माधव

परन्तु हमारे विचार से भवभूति की 'परिमृदित मृणाली' भी औचित्य से दूर है। मसले हुए फूल अथवा मृणाल की उपमा तो सुरत-मर्दिता नायिका से देना ठीक होता। विहारी की यह उपमा कदापि 'अनुरूप' और 'सुन्दर' नहीं।

हाँ, विरह-ताप से सुन्दरी सूख जरूर जाती है और उसकी उपमा 'कुसुम सुखाए' से देना बहुत ही उचित है। उस पर भी विद्यापति का 'रहल अछि बासे' तो और भी मार्मिकता से पूर्ण है। विहारी की विरहिणी में यह खूबी कहाँ ?

विहारीलाल का विरह वर्णन वाला एक दोहा और देखिये—

इत आवति चलि जाति उत, चली छसातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरें सैं रहै, लगी उसासनु साथ ॥

उक्त परिडत पद्मसिंह शर्मा "विक्रमांकदेवचरित" के रचयिता विल्हण कवि के एक श्लोक की तुलना विहारी के उपर्युक्त दोहे के साथ करते हुए क्या फर्माते हैं, मुलाहजा कीजिये—

"विहारी का वर्णन विल्हण से वहुत ही वढ़िया है। इन्होंने गृह-स्तंभ से टकराकर लौटी हुई श्वासवायु से शरीर को सिर्फ कँपाया ही है। विहारी ने श्वासों के हिंडोले पर विठलाकर छ-छ सात-सात हाथ लम्बे झोंटे दिला दिये हैं। दया की, जो आह की आँधी में जिस्म को पत्ते की मानिन्द उड़ा न दिया!"

उपर्युक्त विहारी के दोहे और स्वर्गीय शर्माजी की टिप्पणी के साथ जरा विद्यापति के निम्नाङ्कित पद को भी पढ़ लीजिये—

सुन सुन माधव सुन मोरि वानी, तुत्र दरसने विनु जइसनि सयानी ॥
सयन मगन भेल ताहेरि देहा, कुहु तिथि मगनि जइसनि ससि रेहा ॥
मुरछि खसलि महि पेयसि तोरी, हरि हरि शिव शिव एतबाए वोली ॥
सखि जने आँचरे धएलि झँपाइ, अपनहि साँसे जाइति उड़ियाइ ॥
अव सेओ जीव तेजति तुअ लागी, तकर मरन वध होयवह भागी ॥
भनहि विद्यापति के कर तरान, तुअ दरसन एक जीव निदान ॥

विद्यापति की नायिका की विरहजनित कृशता और दीर्घोच्छ्वास की मात्रा विहारी से कम नहीं; प्रत्युत् अधिक ही है। कारण स्पष्ट है। विहारी की नायिका में इतनी शक्ति वाकी रह गई है जिससे वह साँस के दोले पर झूल

सके ; परन्तु विद्यापति की नायिका तो इतनी कृश है कि शय्या और नायिका का अङ्ग दोनों करीब-करीब एक में मिल गये हैं। जिस प्रकार अमावस्या तिथि में चन्द्रमा का अस्तित्व आकाश में प्रायः विलीन-सा हो जाता है, उसी तरह विद्यापति की कृशांगी ही नहीं—अस्थिचर्मावशिष्ट नायिका का अंग शय्या में विलीन हो गया है। ऐसी विकटावस्था में विरह जनित काम-ज्वाला से सन्तप्त नायिका 'हरि हरि शिव शिव' की दुहाई देती हुई मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ती है। हा हन्त! चतुर सखियाँ झट उसे अपने-अपने अञ्चल-पट से ढँक देती हैं। उनको भय है कि मूर्च्छा के कारण बेचारी नायिका कहीं अपनी ही लम्बी उसाँसों के वातूल-वेग से उड़ न जाय। अतएव एक के बाद दूसरी सखी उसे अञ्चल-पट से ढँक रखती है, मानों वे अपने प्रत्युत्पन्नमतित्व से उसके प्राण-पक्षी को अञ्चल-जाल में उलझा रखती हों!

विदग्ध पाठकों से यह बात अब छिपी नहीं रही कि विरह के अतिशयोक्ति-वर्णन में विहारीलाल विद्यापति को यहाँ नहीं पा सके। विद्यापति का पलला, विहारी के द्वारा उसमें से कुछ निकाल लेने पर भी, वजनदार ही रहा। विद्यापति ने अपनी चमत्कारिक प्रतिभा से 'आह' की 'आँधी' में तन्वंगी नायिका के 'जिस्म' को उड़ा देने की सम्भावना प्रकट करदी है; परन्तु अपनी कलित-कल्पना से उसे उड़ने नहीं दिया है। इधर विहारी लाल ने साँस के हिंडोले पर विरहिणी को चढ़ाया है और लगे हाथों दो-चार झोंटे दिलाकर मानों उसके साथ

खिलवाड़ ही किया है! साहित्य-समीक्षक ही कहें कि विद्यापति की अपूर्व अतिशयोक्ति जो (स्व० पद्मसिंह शर्मा के शब्दों में) 'कविता की जान और रस की खान' है क्या विहारीलाल के दोहे में है ? क्या विहारी लाल इस स्थल पर विद्यापति का अनुकरण सफलता पूर्वक कर सके हैं ?

यह तो दोनों कवियों की कविताओं की केवल बाह्य तुलना हुई। आन्तरिक अन्तर तो दोनों की कविताओं में आकाश-पाताल-सा है। जहाँ विहारीलाल ऐहिक, वासनात्मक शृङ्गार के दलदल में फँसे रहे, वहाँ विद्यापति की शृङ्गार-पूर्ण-कविता क्रमिक विकास पाती हुई अनन्त की ओर प्रधावित होती है। पता नहीं; विहारी की कविता भव-ताप सन्तप्त मनुष्यों को शान्ति प्रदान करती है वा नहीं; परन्तु विद्यापति की शृङ्गारिक-रचना महाप्रभु चैतन्य देव से लेकर सहस्रावधि वैष्णवों की हृदय-ज्वाला को बुझाती हुई चिरन्तन सुख-शान्ति प्रदान कर चुकी है और अभी भी कर रही है।

विद्यापति और मतिराम

ब्रज-वाणी के वरपुत्रों में भाषा की प्राञ्जलता और भाव की मनोहरता के कारण कविवर मतिराम का बड़ा नाम है। भाषा और भाव के मणि-काञ्चन संयोग के कारण ही मतिराम को 'हिन्दी-नवरत्न' में स्थान मिला है। यहाँ उनकी कृति से विद्यापति के कवित्व की तुलना कीजिये—

मतिराम का एक वर्णन निम्नाङ्कित प्रकार का है—

बिरह तिहारे लाल विकल भई है बाल नींद, भूख, प्यास, सिगरी बिसारियतु है

चोरी कैसी बात चन्द्रमा हू ते चुराइयत बसननि तानि कै बयारि बारियतु है।
कहै 'मतिराम' कलाधर कैसी कला छीन जीवन-विहीन मीन-सी निहारियतु है
बार बार सुकुमार फूलन की मार ऐसी मार के मरोरनि मरोरि मारियतुहै।

विद्यापति का गीत नीचे पढ़िये—

माधव दूबरि पेखल ताही।
चौदशि चांद जनि अनुखन छीयत ऐसन जीवय राही॥
नियरे सखीगन बचन जो पूछत उतर न देयइ राधा।
हा हरि हा हरि कहइत अनुखन तुअ मुख हेरइते साधा॥
सरसहि मलयज पङ्कहि पङ्कज परशे मानय जनि आगी।
कवहि धरणी शयन तनु चमकित हृदि महा मनमथ जागी॥
मंद मलयानिल बिष सम मानइ मुरछइ पिक कुल रावे।
मालति माल परशे तनु कम्पित भूपति कह इह भावे॥

दोनों कवियों ने विरह-वर्णन किया है। मतिराम का कवित्त भावपूर्ण और भाषा लालित्यपूर्ण है। मतिराम ने भूख-प्यास बुझाने का, चन्द्रमा से चुराने का, बयारि से वस्त्र द्वारा रोकने का वर्णन अत्यन्त सुन्दर किया है जिसका विद्यापति के पद में नितान्त अभाव है। परन्तु विद्यापति का पद भी अन्य दृष्टि से कम भावपूर्ण नहीं है। मतिराम ने 'कलाधर कैसी कला छीन' कहकर जिस भाव का वर्णन किया है विद्यापति ने उसीको उत्कृष्ट रूप से 'चौदिसि चांद जनि अनुखन छीयत' में व्यक्त किया है। मतिराम की नायिका का 'वयारि वारियतु है', और विद्यापति की नायिका का 'मंद मलयानिल विष सम मानइ' दोनों प्रायः समान हैं। जहाँ मतिराम

की नायिका 'जीवन विहीन मीन' के समान विकल है, वहाँ विद्यापति की नायिका 'पिक कुल रावे' से मूर्च्छिता हो जाती है। मतिराम के कवित्त में विद्यापति के 'सरसहि मलयज पङ्कहि पङ्कज परशे मानथ जनि आगी' के भाव का अभाव है। इस पद से विरह-ज्वाला की भीषणता का अनुमान किया जा सकता है। यदि मतिराम के पद में 'मार के मरोरनि मरोरि मारियतु है' है तो विद्यापति के गीत में 'हृदि महा मनमथ जागी है'; परन्तु इस भाव-प्रदर्शन की चातुरी विद्यापति से मतिराम ही में अधिक सुन्दर है। मतिराम के काव्य में मिलन की अभिलाषा किसी शब्द से भी व्यक्त नहीं होती। परन्तु विद्यापति के 'हा हरि हा हरि कहइते अनुखन तुअ मुख हेरइते साधा' में मिलन की उत्कट अभिलाषा प्रतीत होती है। यद्यपि विद्यापति के पद में विरह-विधुरा की मार्मिक हृदय-वेदना और व्याकुलता की मात्रा मतिराम से अधिक है तथापि हर-एक पहलू से निष्पक्ष विचार करने से नहीं कहा जा सकता कि विद्यापति के पद से मतिराम का कवित्व-चमत्कार कथमपि न्यून है।

विद्यापति का एक दूसरा पद देखिये—

हम अबला सखि किये गुन जान, से रसमय तनु रसिक सुजान ॥
कतहुँ यतने मोरे कोरे बइसाइ, बान्धल बेनि से कचरि खसाइ ॥
कञ्चुकि देल हिया पर मोर, परशि पयोधर भए गेल भोर ॥
कंठे पहिराओल मनिमय हार, अंगे विलेपल कुंकुम भार ॥
वसन पहिराओल कए कत छन्द, किंकिनि जालहि नीवि निबंध ॥

निज करपल्लवे मझु मुख माज, नयनहिं कयल सुकाजर साज ॥

अकल तिलक दए चोरि निहारि, कह कवि शेखर जाओं बलिहारि ॥

मतिराम ने मुग्धा स्वाधीनपतिका के उदाहरण में लिखा है—

आपने हाथ सों देत महावर आपही बार सँवारत नीके।

आपुन हीं पहिरावत आनिकैं हार सँवारिकै मौलसिरी के।

हौं सखी लाजनि जात मरी 'मतिराम' सुभाव कहा कहौं पी के।

लोग मिलैं घर घैरु करैं अबही ते ये चेरे भये दुलही के।

दोनों के भाव एक ही हैं, केवल वृत्ति का भेद है। दोनों ने नायक द्वारा नायिका के वेष-विन्यास का वर्णन किया है। महावर देना, बाल बाँधना, हार पहनाना केवल इन तीन ही उपकरणों से मतिराम की नायिका सजाई जाती है; परन्तु विद्यापति की नायिका के लिये इतने ही साधन अलम् नहीं हैं। वह कञ्चुकी, मणिमय हार, कटि किंकिनी, मुख रंजन, काजल, अलक, तिलक आदि उपकरणों से भी अलंकृत की जाती है। यदि कोई कहे कि विद्यापति के पद में महावर देने का उल्लेख नहीं है तो उनसे हमारा निवेदन है कि भला, विद्यापति की नायिका महावर देने के समय पति से पाँव छुलाने का अनौचित्य कैसे करेगी और लोगों को यह कहने का अवसर कैसे देगी कि 'पापिन तोहि न नैकु विचार कि पाँयहु पीतम ते परसावे'। मतिराम और विद्यापति के पदों में एक यथार्थ किन्तु महान् अन्तर है। मतिराम के अन्तिम चरण का भाव विद्यापति के पद में नहीं है। परन्तु इस अभाव की यत्किञ्चित् पूर्ति विद्यापति के 'हम अबला

सखि किये गुन जान' से हो जाती है। मतिराम की सवैया से यह ध्वनि निकलती है कि उनकी नायिका स्वच्छन्दता-पूर्वक अपने पति से अपना शृंगार कराती है। किन्तु विद्यापति की 'अबला' नायिका पति द्वारा यत्न पुरस्सर हठ करने पर ही अंकम में लाई जाती है। अंकम-गत होते ही वह विवश और अशक्त हो जाती है और वैसी अवस्था में सब-कुछ सम्भव है। विद्यापति के अन्तिम पद का 'चोरि निहार' अत्यन्त मार्मिक है। इसका तात्पर्य यह कि मुँह धोने पर उसकी सहज कान्ति निखर उठी है और नायक को भान होता है कि वह चन्द्रमा को चुरा लाई हो।

स्वप्न-दर्शन-विषयक मतिराम की एक सवैया देखिये—

आवत मैं सपने हरि को लखि नैंसुक बाट सकोचन छोड़ी।
आगे ह्वै आड़े भए 'मतिराम' चली सुचितैं चख लालच बोड़ी।
ओठनि को रस लेन को मोहन मेरो गह्यो कर काँपति ठोड़ी।
और भट्ट! न भई कछु बात गई इतने हीं में नींद निगोड़ी।

इससे विद्यापति के निम्नाङ्कित पद की तुलना कीजिये—

सुतलि छलहुँ हम घरबा रे गरवा मोति हार।
राति जखनि भिनसरबा रे पिया आयल हमार॥
कर कौशल कर कँपइत रे हरवा उर टार।
कर पंकजें उर थपइत रे मुख चंद निहार॥
केहनि अभागिलि बैरिनि रे भागलि मोर नींद।
भल कए नहि पेखि पाओल रे गुनमय गोविन्द॥
विद्यापति कवि गाओल रे धनि मन धरु धीर।
समय पाए तरुवर फर रे कतबो सिंचु नीर॥

दोनों कविताओं में वर्णित विषय एक ही—स्वप्न-प्रदर्शन-है। नायिका ने स्वप्न में नायक को किस रीति से देखा है, इसीका वर्णन है। विद्यापति के पद में 'राति जखनि भिनसरवा रे' बड़ा ही भावमय और कलित-कल्पना का द्योतक है। उषः काल का स्वप्न प्रायः सत्य ही होता है। इस उक्ति के आधार पर स्वप्न देखने के समय का उल्लेख बड़ा ही सुन्दर हुआ है। सवैया में 'चख लालच वोड़ी' तो सुन्दर है अवश्य; परन्तु 'ओठनि के रस लेन को मोहन मेरी गही कर काँपति ठोड़ी' विदग्धता पूर्ण है। इधर विद्यापति का पद 'कर कौशल कर कँपइत रे' उससे भी बढ़ा-चढ़ा है। मतिरामजी नींद के लिये एक विशेषण 'निगोड़ी' का प्रयोग करते हैं तो विद्यापति दो विशेषणों 'अभागलि और वैरिनि' का प्रयोग करते हैं। एक विशेषण नायिका के लिये और दूसरा नींद के लिये जो अत्यन्त उचित और कारणसापेक्ष्य है। वह स्वयं तो इसलिए अभागिन है कि नींद खुल जाने से आँखें भरकर 'गुणमय गोविन्द' को अच्छी तरह नहीं देख सकी। साथ ही नींद ने भी अपना पुराना वैर निकाल लिया! (संयोग-समय में नायिका ने नींद की अवहेलना की थी)। जब जाग्रतावस्था में भी गोविन्द के दर्शन नहीं होते तब स्वप्न-दर्शन भी भाग्य की बात है। मगर नींद ने उचट कर ऐन मौके पर सब गुड़ गोवर कर दिया। मतिराम ने सवैया के चारों चरणों के आदि में 'अ' रख कर तथा 'अकारो विष्णुः' के प्रमाण से घुमा-फिराकर नायक को विष्णु याने

कृष्ण माना है ; परन्तु विद्यापति ने स्पष्ट 'गुनमय गोविन्द' का उल्लेख कर दिया है। मतिराम की सवैया में यह स्पष्ट नहीं मालुम होता कि नींद खुलने पर नायिका को कितना दुःख हुआ है ; परन्तु विद्यापति ने 'भल कए नहि पेखि पाओल रे गुनमय गोविन्द' में उसके हार्दिक दुःख का स्पष्ट चित्र खींच दिया है। हमारी राय में मतिराम की सवैया से विद्यापति का पद कहीं अधिक संगीतमय, भावपूर्ण और सुन्दर हुआ है।

विद्यापति और केशव

केशवदास हिन्दी काव्य-साहित्य के प्रधान आचार्य माने जाते हैं। वे हिन्दी-साहित्य में प्रकाण्ड पण्डित और क्लिष्ट काव्य करने में सबसे अग्रणी समझे जाते हैं। पांडित्य-प्रदर्शन की उत्कट उत्कण्ठा ने उनके काव्य को जटिल बना डाला है ; अतएव 'देव' जैसे महाकवि ने उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' तक कह डाला है। इसीसे उनके काव्य-चमत्कार का रंग कुछ फीका पड़ गया है और मिश्रबन्धुओं के 'विनोद' में देव तथा विहारी से भी घटिया स्थान उनको मिला है।

यद्यपि विद्यापति केशवदास से संस्कृत के श्रेष्ठ पण्डित थे, तथापि इन्होंने पाण्डित्य-प्रदर्शन की बुद्धि से काव्य-रचना नहीं की है। केशवदास की कविता परिश्रम-पूर्वक मस्तिष्क ठोंक-पीटकर निकाली हुई-सी जान पड़ती है, अन्तस्तल से स्वाभाविक प्रवाह में निकली हुई नहीं मालूम होती। परन्तु

वास्तव में कविता हृदय की वस्तु है; मस्तिष्क की नहीं। हार्दिक भावोच्छ्वास के अभाव के कारण केशवदास की कविता में रस-परिपाक के स्थान पर बहुधा प्रवाह-भंग-सा हो गया है। संक्षेप में इतना ही कहना अलम् है कि विद्यापति सरल, केशव कठोर तथा विद्यापति भाव-प्रधान और केशव बुद्धि-प्रधान हैं। जहाँ विद्यापति के विरह-वर्णन में करुणा की मन्दाकिनी प्रवाहित हो रही है, वहाँ केशव के विरह-वर्णन में करुणा के अश्रुपात तक का कहीं पता नहीं। स्वर्गीय लाला भगवान दीन को 'केशव कौमुदी' में उनका नख-शिख-वर्णन सब से निखरा-चमकता मालूम हुआ। परन्तु हमें विश्वास है कि 'दीनजी' को विद्यापति के नखशिख-वर्णन का पूरा पता रहता तो उस 'कौमुदी' में उन्हें धुँधलापन-ही-धुँधलापन नजर आता। रूप-वर्णन में विद्यापति ने एक-से एक उत्कृष्ट कविता लिखी है। उनका राधा-सौन्दर्य वर्णन तो अकथनीय हुआ है। प्रोफेसर श्रीयुत कृपानाथ मिश्र ने कविता-कौमुदी (सातवें भाग) पृष्ठ ५८ में लिखा है—'विद्यापति की राधा सौन्दर्य की एक अनुपम सृष्टि है। वह सदेह स्वप्न है।' तथा—'रूप वर्णनाय तिनि (विद्यापति) जगतेर सर्वश्रेष्ठ कविदिगेर पर्य्यायभुक्त हइयाछेन'—वैष्णव साहित्य।

यहाँ विद्यापति और केशव का एक-एक नख-शिख वर्णनात्मक पद तुलनार्थ उपस्थित किया जाता है—

सजनी अपरुप पेखल रामा।

कनक लता अवलम्बन ऊयल हरिण-हीन हिमधामा॥

नयन नलिनि दउ अञ्जने रञ्जइ भौंह विभंग विलासा।
चकित चकोर जोर बिधि बान्धल केवल काजर पासा॥
गिरिवर गरुअ पयोधर परशित गीमे गजमोतिम हारा।
काम कम्बु भरि कनय शम्भु परि ढारत सुरधुनि धारा॥
पयसि पयागे जाग शत जागइ सोइ पाए बहुभागी।
विद्यापति कह गोकुलनायक गोपी-जन-अनुरागी। —विद्यापति

सोने की एक लता तुलसी वन क्यों बरनौं सुनि बुद्धि सकै छ्वै।
केशवदास मनोज मनोहर ताहि फले फल श्री फल से व्वै।
फूलि सरोज रह्यौ नित ऊपर रूप निरूपत चित्त चले च्वै।
तापर एक सुआ सुभ तापर खेलत बालक खंजन के द्वै। —केशव

दोनों कवियों ने अपनी-अपनी भावमयी भाषा में नखशिख का वर्णन किया है। केशव का 'सोने की एक लता' और विद्यापति की 'कनक-लता' दोनों एक ही वस्तु हैं। उस सोने की लता में 'मनोज मनोहर' दो श्रीफल फलाने का केशवदास का वर्णन बड़ा सुन्दर है। विद्यापति का 'गिरिवर गरुअ' का वर्णन कठिनता के लिये सुन्दर अवश्य है, परन्तु 'मनोज-मनोहर' का जो चमत्कर केशव ला सके हैं, वह विद्यापति नहीं ला सके।

केशवदास ने सम्पूर्ण मुख-मण्डल के वर्णन में 'फूलि सरोज रह्यो नित ऊपर' ही भर लिखा है, परन्तु विद्यापति का 'हरिणहीन हिमधामा' इससे कहीं बढ़-चढ़कर सुन्दर है। यदि कहिये कि विद्यापति के पद में 'सुवा' अर्थात् नासिका के वर्णन का अभाव है तो केशव की सवैया भी भौंह, काजल

तथा कंठ के वर्णन से खाली है। यदि केशवदास ने 'खेलत बालक खंजन के द्वै' में मानों दो नेत्र-रूपी खञ्जरीटों को खेलाया है तो विद्यापति ने 'नयन नलिनि दोउ अंजने रंजइ भौंह विभंग विलासा, चकित चकोर जोर विधि बाँधल केवल काजर पासा' में दोनों चकोरों को चकित बना डाला है!

यह तो हुई केवल बाहरी परीक्षा! अब दोनों कविताओं की तह में पैठकर देखिये। जहाँ केशवदास ने उपमान-उपमेय के अनुसंधान में ही अपना सारा नक्षत्रालोक समाप्त कर दिया है वहाँ विद्यापति ने अलंकारों के कठघरे से निकल कर अभिनव भाव का भी प्रदर्शन किया है। विद्यापति ने पाठकों को महाकवि कालिदास के समान 'न जाने भोक्तारम् कमिह समुपस्थास्यति विधिः' के अनिश्चयान्धकार में भटकने को न छोड़कर 'पयसि पयागे जाग शत जागइ सोइ पावए बहु भागी' के द्वारा इस 'अपरूप रामा' रूपी अनर्घ रत्न की प्राप्ति का साधन भी बतला दिया है अर्थात् तीर्थराज प्रयाग में शत यज्ञों का अनुष्ठान कर घोर तपस्या करनेवाले पुण्यात्मा को ही वह 'अपरूप रामा' मिल सकती है; अन्यथा उसकी प्राप्ति की कोई संभावना नहीं। इस भावालोक के सामने उडु सम केशव केवल टिमटिमाते ही रहे, ज्यादा चमक न सके।

रामचन्द्रिका के बत्तीसवें प्रकाश में सद्यः स्नाता सुन्दरियों का वर्णन किया गया है जरा उसे देख लीजिये—

नीरनिते निकसीं तिय सबै, सोहति हैं बिन भूषण तबै।
चंदन चित्र कपोलन महीं, पंकज केशर शोभत तहीं।

थे। यही कारण है कि तुलसीदास जी और विद्यापति के भाव साम्य वाले पदों की संख्या अत्यन्त न्यून है। फिर भी बानगी के रूप में दो चार पद उपस्थित किये जाते हैं।

गिरजा मन्दिर में गौरी पूजन के लिये सीता जी गयी हैं। रामचन्द्र जी भी अपने गुरु विश्वामित्र की पूजा के लिये फूल तोड़ने के निमित्त उसी मन्दिर के निकट-वर्ती बाग में जा पहुँचे हैं। वहीं दोनों ने पहले पहल एक दूसरे को देखा है। दोनों दोनों के रूप-लावण्य से विमुग्ध हो गये हैं। सीता जी को जब बहुत काल तक रामचन्द्र जी की रूप-सुधा का पान करते रहने पर भी कुछ तृप्ति नहीं हुई, तब उनके साथ की एक सखी बोल उठी—

परबस सखिन्ह लखी जब सीता, भयेउ गहरु सब कहहिं सभीता॥
पुनि आउब इहि बिरियाँ काली, अस कहि मन बिहँसी एक आली॥

सखी की इस मार्मिक व्यङ्ग्योक्ति को सुन कर सीता जी लजा गयीं और घर को चल पड़ीं; किन्तु उनका मनोमिलिन्द रामचन्द्र जी की रूप-मंजरी की माधुरी में ऐसा लुब्ध हो गया था कि वे उसे वापस न ला सकीं। साथ की सखियों का संकोच, विलम्ब होने से जननी का भय और रूप-माधुरी के निरन्तर अवलोकन की लालसा से सीता जी अत्यन्त ही व्याकुल हो उठीं। निदान वहां से चलने ही की ठानी। उस समय वे रामचन्द्र जी को अधिक काल तक देखने का क्या ही सुन्दर मिस करती हैं। क्रिया विदग्धा का कैसा उत्तम उदाहरण है-

देखन मिस मृग बिहँग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छवि, बाढ़इ प्रीति न थोरि॥

प्रथम दर्शन की अतृप्त-दर्शन-लालसा का कुछ-कुछ ऐसा ही व्याज पूर्ण वर्णन विद्यापति ने भी किया है। विद्यापति का वह पद यथा-स्थान उद्धृत है। पाठकगण वहीं (पृ० ४८) देखने की कृपा करें।

विद्यापति और तुलसीदास दोनों ने एकही विषय का वर्णन किया है। जहां गोस्वामी जी की सीता मृगों, पक्षियों और वृक्षों के देखने का वहाना कर रामचन्द्र जी के अधिकाधिक दर्शन करती हैं, वहाँ विद्यापति की राधा जान बूझ कर अपनी माला तोड़ देती हैं और मोतियों के दाने विखर जाते हैं। तब वह सखियों को 'हार टूटि गेल' कह कर दाने चुनने में फँसा देती है और आप कृष्ण के अधिकाधिक दर्शन करती हैं। सीता जी के भाव में सरलता है और राधा के भाव में चातुरी है। व्याज रचने में जितना वैशिष्ट्य विद्यापति ने प्रदर्शित किया है उतना तुलसीदास जी नहीं कर सके हैं। काव्य की दृष्टि से तुलसीदास जी की अपेक्षा विद्यापति का काव्य-चित्र सुन्दर और चमत्कारिक हुआ है।

विद्यापति का यह पद अत्यन्त प्रसिद्ध एवं भावपूर्ण है—

> किए मानुस पशु पक्षी जे जनमिय अथवा कीट पतंग।
> करम विपाके गतागत पुनि पुनि मति रहु तुअ परसंग॥

गोस्वामी जी भी किष्किन्धा-काण्ड में मृत्यु की शय्या पर बालि के मुंह से प्रार्थना कराते हुये इसी प्रकार का भाव व्यक्त कराते हैं—

अब नाथ करि करुना विलोकहु देहु जो बर माँगऊँ ।
जेहि जोनि जनमउँ करम वस तहँ राम-पद अनुरागऊँ ॥

दोनों पदों के भावों में बहुत कुछ समानता है । विद्यापति की प्रथम पंक्ति के सम्पूर्ण भाव को गोस्वामी जी ने समासरूपेण 'जेहि जोनि जनमउँ' में व्यक्त किया है । 'करम विपाके' और 'करम वस' एकही वस्तु है फिर भी ' विपाके ' शब्द के सुन्दर प्रयोग से विद्यापति का कर्मवाद कुछ अधिक जगमगा उठा है । 'राम-पद अनुरागऊँ' और 'मति रहु तुअ परसंग' में दोनों कवियों की भक्ति की आदर्श-विभिन्नता सूचित हो रही है।

विरह विधुरा राधा की कृशता का वर्णन करते हुए विद्यापति यह भाव व्यक्त करते हैं—

अङ्गुरि वलय भेल काम पिंधाओल दारुण तुअ नव नेहे ।
सखि गण साहसे छुअए न पारए तन्तुक दोसर देहे ॥

बरवै रामायण में विरह-विधुरा सीता जी का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी भी यही लिख गये हैं—

अब जीवन कै है सखि आस न कोइ ।
कनगुरिया कै मुँदरी कंकन होइ ॥

गोस्वामी जी के पद की दूसरी पँक्ति की अत्युक्ति विद्यापति के प्रथम पद की अत्युक्ति से इसलिए अधिक है कि उन्होंने कनिष्ठा उँगली की अँगूठी को वलया बना डाला है; परन्तु विद्यापति ने यह नहीं बतलाया है कि किस उँगली की अँगूठी वलया बनी । तुलसीदास जी की पहली पँक्ति में नैराश्यपूर्ण कारुणिक वर्णन जितना सुन्दर हुआ है, वहाँ विद्यापति की

राधा को उनकी सखियों का साहस पूर्वक भी न छू सकने का वर्णन भी उतना ही मार्मिक है; परन्तु कनिष्ठा उँगली की अँगूठी को वलया बनाकर भी कृशता के वर्णन में तुलसीदास जी विद्यापति से आगे नहीं बढ़ सके हैं; क्योंकि विद्यापति ने 'तन्तुक दोसर देहे' लिख कर कार्श्य का चरम और भावपूर्ण वर्णन कर दिया है। तुलसीदास जी के भाव को आचार्य्य केशवदास जी ने 'रामचन्द्रिका' के तेरहवें प्रकाश में दूसरे ही ढंग से व्यक्त किया है यथा—

> तुम पूछत कहि मुद्रिके, मौन होति यहि नाम।
> कंकण की पदवी दई, तुम बिन या कहँ राम॥

फिर भी काव्य-कलाप में केशव विद्यापति से आगे न बढ़सके।

दोनों महाकवियों के समान भाववाले कुछ और पदों को देखिये—

विद्यापति—अंगहि अंग अनंग मुरुछाएत हेरइ पड़इ अथीर।
तुलसीदास—अंग अंग पर वारियहि कोटि कोटि शत काम।
विद्या—जहाँ-जहाँ नयन-विलास, तहिं-तहिं कमल-प्रकास॥
तुलसी—जहँ बिलोकु मृग सावक नयनी, जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी॥
विद्या—किंकिनि किन किन कँकन कन कन घन घन नूपुर वाजे।
रति रणे मदन पराभव मानल जय जय डिंडिम बाजे॥
तुलसी—कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि, कहत लषन सन राम हृदय गुनि॥
मानहु मदन दुँदुभी दीन्ही, मनसा विश्व विजय कहँ कीन्ही॥
विद्या—कुदिना हित जन अनहित रे थिक जगत सुभाव।
तुलसी—समय पाइ रिपु होहि पिरीते।
विद्या—अँकुर तपन तापे यदि जारव कि करव वारिद मेहे।
तुलसी—का बरपा जब कृपी सुखाने।

विद्यापति और सूरदास

व्रजभाषा साहित्य के सब से समुज्ज्वल रत्न महात्मा सूरदास जी एक ऐसे महाकवि हैं जिनपर कोई साहित्य गौरव से शिर ऊँचा कर सकता है। हिन्दी साहित्य के आकाश में सूरदास जी यथार्थ में सूर (सूर्य) हैं। उनकी प्रतिभा, उनका वर्णन विन्यास और उनकी रसमयी रचना ने हिन्दी संसार को अमर प्रकाश प्रदान किया है। व्रज भाषा गीति-साहित्य में भावात्मक मधुरिमा की सृष्टि करने में आपका महान् हाथ है। हृत्तंत्री को झंकृत करने वाले आपके भावपूर्ण सुमधुर गीत हिन्दी साहित्य के अमूल्य धरोहर हैं।

सूरदास जी विद्यापति से बहुत पीछे हुये हैं। तब तक मैथिल कवि-कोकिल की कलित-काकली वैष्णव-धाम व्रज-कानन को पुर्ण रूप से गुञ्जायमान कर चुकी थी। महाप्रभु चैतन्य देव जी ने विद्यापति के मधुर प्रेममय गीतों को कृष्ण-चन्द्र की विहार-भूमि व्रज में पहुँचाया था जिनका प्रभाव अद्यपर्यन्त बना हुआ है। अतः यहां यह अनुमान करना अनु-चित नहीं होगा कि सूरदास जी को विद्यापति के सुन्दर भावों से अपनी कविता को समलंकृत करने का अवसर प्राप्त हुआ था। सूरदास जी ने अनेक विषयों में विद्यापति का पदानुसरण किया है। जिस प्रकार विद्यापति ने मैथिली साहित्य में सब से पहले राधाकृष्ण का शृङ्गार पूर्ण गुणकीर्त्तन किया, उसी प्रकार सूर-दास जी भी हिन्दी साहित्य में सर्व प्रथम इस अनुपम पुण्य

क्षेत्र में अवतीर्ण हुये। विद्यापति के समान ही सूरदास ने भी सद्यः प्रीतिकर विविध राग रागणियों से अपनी कविता को सजा कर लोकप्रिय बनाया। विद्यापति ही की भाँति सूरदास ने भी प्रहेलिकामय कूट पदों की रचना की है। यद्यपि इन सब विषयों में सूरदास ने विद्यापति के पदाङ्क का अनुशरण किया तथापि दोनो महाकवियो में, बहुत बातो में, विभिन्नता भी है। विद्यापति मधुर-भाव के भक्त थे, और सूरदास सख्य-भाव के उपासक थे। विद्यापति की कविताओं में उपमालंकार का प्राचुर्य्य है और सूरदास ने रूपक अलंकार लिखने में कमाल किया है। यद्यपि सूरदास की कविताओं में सख्य-भाव की प्रधानता है तथापि उनके 'सूरसागर' के दसवें स्कन्ध में मधुर भाव की भी बहुत कुछ छटा देख पड़ती है। वहाँ राधा तथा गोपियों की कृष्ण-प्रेम जनित आतुरता, विकलता आदि के वर्णन में विद्यापति की छाप परिलक्षित होती है। विद्यापति और सूरदास दोनो सौन्दर्य प्रिय कवि थे, दोनों प्रेमी जीव थे एवं दोनों का हृदय प्रेम से भरा था। अतएव दोनों ही की रचनाओं में रचना-सौन्दर्य के साथ साथ भाव सौन्दर्य का प्रदर्शन भी अनुपम ही हुआ है। जिस प्रकार विद्यापति की कविता पर अश्लीलता का दोषारोपण किया जाता है उसी प्रकार हमारे सूरदास भी उस दोष के दोषी ठहराये जाते हैं। परन्तु हजार कोई चीखे विद्यापति और सूरदास दोनों ही महान् कवि हैं। दोनों की पदावलियों में अभिनव भावस्पन्द और रस-परिपाक का पुट अनिर्वचनीय तथा आनन्द-प्रद है।

यहाँ दोनों कविवरों की कुछ कविताओं का तुलनात्मक विवेचन हम उपस्थित करते हैं। दोनों ही ने राधा की रूप-माधुरी का सुन्दर वर्णन किया है। देखिए, विद्यापति कहते हैं-

माधव कि कहब सुन्दरि रूपे।
कतेक जतन विहि आनि समारल देखलि नयन सरूपे॥

पल्लवराज चरण युग शोभित गति गजराजक भाने।
कनक केदलि पर सिंह समारल तापर मेरु समाने॥

मेरु उपर दुइ कमल फुलाएल नाल बिना रुचि पाई।
मणिमय हार धार बहु सुरसरि तँइ नहि कमल सुखाई॥

अधर बिम्ब सन दशन दाड़िम बिजु रवि शशि उगथिक पासे।
राहु दूर बस नियरो न आवथि तँइ नहि करथि गरासे॥

सारंग नयन वचन पुनि सारंग सारंग तसु समधाने।
सारंग उपर उगल दश सारंग केलि करथि मधुपाने॥

भनहि विद्यापति सुनु वरजौवति एहन जगत नहि आने।
राजा शिवसिंह रूपनारायन लखिमा देइ पति भाने।

राधा का रूप-वर्णनात्मक निम्नलिखित सूरदास का पद हिन्दी साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध है—

अद्भुत एक अनूपम बाग।
युगल कमल पर गज क्रीड़त है तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर ता ऊपर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव तापर सुक पिक मृगमद काग।
खंजन धनुप चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर इक मनिधर नाग॥
अंग अंग प्रति और और छवि उपमा ताको करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियहु सुधारस मानों अधरनि को बड़ भाग॥

दोनों पदों में राधा जी के सौन्दर्य का चारु चित्रण है। दोनों कविताओं की वर्णन शैली, भाव और छन्द प्रायः एक ही से हैं। दोनों पदों के संगीत-वाङ्मय मनोमुग्धकर हैं। यहाँ यद्यपि सूरदास जी ने विद्यापति का भाव ग्रहण किया है तथापि वे सफल नहीं हुये हैं। जिस भाव की अभिव्यक्ति सूरदास ने 'युगल कमल' से की है, उसे विद्यापति ने चमत्कारिक ढंग से 'पल्लवराज' लिख कर अभिव्यञ्जित किया है। यदि 'गजवर क्रीड़त' से सूरदास जी को जँघे का वर्णन अभिप्रेत हो तो यहां निःसंकोच कहा जा सकता है कि विद्यापति 'कनक केदलि' की उपमा से समधिक चमत्कार ला सके हैं। अन्यथा नायिका की गति मात्र वर्णन करने से सूरदास जी को जँघे का वर्णन स्पष्ट छूट जाता है। सूरदास जी ने 'गिरि पर फूले कंज पराग' लिख कर जिस विषय का वर्णन किया है, विद्यापति ने अपनी अनुपमेय काव्य-कुशलता से उसे 'मेरु उपर दुइ कमल फुलाएल नाल बिना रुचि पाई' के द्वारा स्पष्ट किया है। जहां सूरदास जी केवल मात्र कमल का विकास दिखा कर रह गये हैं, वहाँ विद्यापति ने सम-सादृस्य विना नाल के कमल को प्रस्फुटित किया है। अब मार्मिक ही सज्जन विचारेंगे, कि 'अद्भुत एक अपनूम बाग' लिख कर भी सूरदास की कल्पना अद्भुत पदार्थों के चित्रण में विद्यापति की स्वाभाविक कल्पना से आगे नहीं बढ़ सकी है। एक बात और देखिये। जहां सूरदास जी के 'फुले कंज पराग' को मुरझाने का डर है, वहां विद्यापति की

स्वाभाव-सिद्ध-कल्पना ने विना नाल के कमल को 'मनिमय हार धार वहु सुरसरि' वहा कर जिलाने का भी प्रबन्ध कर रखा है। क्या सुन्दर अनुभव की अभिव्यक्ति है। विना नाल के कमल को नहीं सूखने देने के लिये कैसा सुन्दर सुरसरि की धारा वहाई गयी है। सोने में सुगन्ध इसीको कहते हैं। सूरदास का अन्तिम पद 'प्रभु पिअहु सुधा रस मानहु अधरन को वड़ भाग' अत्यन्त मार्मिक सुन्दरता से अनुप्राणित है, जिसका उल्लेख विद्यापति ने नहीं किया है। फिर भी विद्यापति के पद में, 'सारंग' शब्द के सुललित संस्थापन में यमक अलंकार का चातुर्य-पूर्ण निर्वाह बड़ा सुन्दर हुआ है और 'पहन जगत नहिं आने' में रूप-वर्णना पराकाष्ठा को पहुंच गयी है। यदि सत् साहित्य के निष्पक्ष समीक्षक समष्टि रूप से विचार करेंगे तो उन्हें सूरदास की रचना से विद्यापति की रचना में कवित्व पूर्ण मार्मिकता अवश्य अधिक मिलेगी।

नायिका द्वारा नायक के प्रथम दर्शन पर विद्यापति और सूरदास की एक एक कविता उपस्थित है।—

हरि मुख निरखत नैन भुलाने।
ये मधुकर रुचि-पंकज लोभी ताही ते न उड़ाने॥
कुंडल मकर कपोलन के ढिंग जनु रवि रैनि विहाने।
भ्रुव सुन्दर नैननि गति निरखत खंजन मीन लजाने॥
अरुन अधर ध्वज कोटि वज्र द्युति ससिगन रूप समाने।
कुंचित अलक सिलीमुख मानों लै मकरन्द निदाने॥
तिलक ललाट कंठ मुकतावलि भूपन मय मनि साने।
सूरदास स्वामी अँग नागर ते गुन जात न जाने॥—सूरदास

इस भाव का विद्यापति का पद इसी ग्रन्थ में अमरुक कवि के साथ तुलनात्मक निबन्ध में उद्धृत हुआ है। (देखिये पृ० ५८)

दोनों कविताएँ एक ही विषय पर लिखी गयी हैं और अपने अपने ढंग से सुन्दर हैं। परन्तु यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो सूरदास का 'रुचि-पंकज लोभी' विद्यापति के 'पिया मुख रुचि' पद से सुन्दर है। जहाँ सूरदास की राधा के नेत्र-भ्रमर 'रुचि-पंकज लोभी' होने के कारण नहीं उड़ रहे हैं, वहाँ विद्यापति की राधा के नेत्र-भ्रमर कृष्ण के सौन्दर्य-मधु में इतने मस्त हैं कि वे उड़ने का यत्न करने पर भी नहीं उड़ सकते। सूरदास का 'नैननि गति निरखत, खंजन मीन लजाने' सुन्दर है और विद्यापति की 'चोर' और 'चकोर' की उपमा भी अनुपम है। राधा की आँखों की उपमा चोर के साथ देने में कवि की मार्मिकता प्रकट होती है। इन सब के होते हुये भी दोनों के पदों में एक महान् अन्तर है और वह यह है कि जहाँ सूरदास की कविता में वाह्य-वर्णन की वहुलता है वहाँ विद्यापति की रचना में आन्तरिक भाव-वर्णन की सुन्दरता है। विद्यापति की राधा को कृष्ण-रूप देखने की उत्कण्ठा तथा लोक-लज्जा के पारस्परिक अन्तर्द्वन्द्व का अभाव सूरदास की राधा में स्पष्ट है। विद्यापति की राधा के नेत्रों को रूप-दर्शन की उत्कण्ठा सूरदास की राधा के नेत्रों से अधिक है। कारण, विद्यापति की राधा की आँखों की दशा, अनेक प्रकार से निवारण करने

पर भी, विहारी लाल की नायिका के नेत्रों की तरह 'ऐंचत हूँ चलि जाहिं' हो रही है। विद्यापति की राधा साक्षात् कुल कामिनी के रूप में अंकित की गयी है जो 'अवनत आनन कए हम रहिलिहुँ वारल लोचन चोर' से स्पष्ट है। पर सूरदास की नायिका में इसका कुछ भी उल्लेख नहीं है। विद्यापति का यह पद 'मधुक मातल उड़य न पारय तइअओ पसारय पाँखि' सचमुच ही अनमोल हुआ है जिसकी समता सूरदास जी के इस गीत में कहीं नहीं है।

विद्यापति और सूरदास की कविताओं की जो तुलनात्मक समालोचना की गयी है, इससे किसीको यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सूरदास की सभी रचनाओं से विद्यापति की रचनाएँ उत्कृष्ट हैं। इतना हमें स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं कि कहीं कहीं मनोरम भाव गुम्फन में सूरदास बे जोड़ हैं। यहाँ राधाकृष्ण के युगल विहार का वर्णन देखिये।

नवल गोपाल नवेली राधा नये प्रेम रस पागे।
नव तरु वन विहार दोउ क्रीड़त आपु आपु अनुरागे॥
सोभित सिथिल वसन मनमोहन सुखवत सुखके बागे।
मानहुँ बुझी मदन की ज्वाला बहुर प्रजारन लागे॥
कबहुँक बैठि अँसु भुज धरिकै पीक कपोलनि दागे।
अति रस रासि लुटावत लूटत लालच लगे सभागे॥
मनहुँ सूर कलपद्रुम की निधि लै उत्तरी फल आगे।
नहिं छूटत रति रुचिर भामिनी ता सुख में दोउ पागे॥—सूरदास

नव वृन्दावन नव नव तरु गण नव नव विकसित फूल।
नवल वसन्त नवल मलयानिल मातल नव अलिकूल॥

विहरई नवल किशोर ।
कालिन्दि पुलिन कुञ्जवन शोभन नव नव प्रेम विभोर ॥
नवल रसाल मुकुल मधु मातल नव कोकिल कुल गाय ।
नव युवती गण चित उमतावइ नव रसे कानन धाय ॥
नव युवराज नवल नव नागरि मिलये नव नव भाँति ।
नित नित ऐसन नव नव खेलन विद्यापति मति माँति ॥-विद्यापति

विद्यापति का गान पद लालित्य के साथ संगीतमय रचना का उत्तम उदाहरण है। 'नव' शब्द का विशद विन्यास शुष्क हृदय में भी विचित्र प्रकार के नवीन भावों का संचार करता है। जहाँ विद्यापति ने 'नव' शब्द की अजस्र वर्षा से, नवीन भाव के अभिनव स्पन्दन से, और अपने अनुपम स्वर्गीय संगीत से इस जराजर्जर संसार को फिर एक बार नवीन बनाने का प्रयास किया है; वहाँ सूरदास जी केवल गोपाल, राधा और तरुवन विहार ही का नवीन वर्णन करके रह गये हैं। नवल वसन्त के सुभागमन से जो एक नवीन मादकता चर अचर में फैल रही है उस मादकता का कहीं पता भी सूरदास के पद में नहीं मिलता परन्तु विद्यापति के इस गीत के प्रत्येक चरण में उस मादकता का पर्य्याप्त निदर्शन है। फिर भी सूरदास का पद सुन्दर भाव से अनुप्राणित है। उन के पद में 'मानहु बुझी मदन की ज्वाला बहुरि प्रजारन लागे,' 'अंसु भुज भरि के पीक कपोलनि दागे,' 'अतिरस रास लुटावत लूटत' और 'मनहुँ सूर कलपद्रुम की निधि लय उतरी फल आगे' आदि अत्यन्त भावपूर्ण हैं जिनकी छटा

विद्यापति की कविता में नहीं पायी जाती। सूरदास का 'नहि छूटत रति रुचिर भामिना' वास्तव में कमाल कर रहा है। भला, वह कभी छूटने की चीज़ है? कल्पद्रुम की निधि का फल कहीं कोई छोड़ सकता है?

परन्तु इतना निवेदन कर देना उचित है कि विद्यापति ने इन सब भावों की अभिव्यक्ति समासरूप से केवल 'मिलये नव नव भाँति' और 'नित नित ऐसन नव नव खेलन' पंक्ति में किया है। फिर भी विद्यापति इस वर्णन में सूर को नहीं पा सके हैं। इसके अतिरिक्त यदि सूरदास के 'नव तरु वन विहार' में विद्यापति का 'नवल वसंत' रहता, 'नव नव विकसित फूल' रहता, 'नवल मलयानिल' रहता, 'नव अलि कुल' की मादकता रहती और रहती नव कोकिल कुल की पीयूष विनिन्दक काकली तो सूरदास का पद और अधिक उत्कृष्ट होता। सूरदास के पद में वसन्त का अभाव बहुत खटकता है। फिर भी उनका पद विद्यापति के पद से भाव पूर्ण है। विद्यापति के इस पद में संगीतमय भाषा सौन्दर्य को अधिक और भाव सौन्दर्य को कम स्थान मिला है; परन्तु सूरदास के इस पद में भाव सौन्दर्य ही प्रधान है।

विद्यापति और सूरदास के बिम्ब प्रतिबिम्ब भावों के अनेक गीत हैं। सबों की आलोचना इस पुस्तक में असम्भव है। पाठकों के मनोरञ्जन के लिये केवल दो पदों की आलोचना उनके समक्ष उपस्थित की जाती है।

लोचन धाय फेधाएल हरि नहि आयल रे।
शिव शिव जिवओ न जाय आशे अरुझायल रे॥
मन कर ताहाँ उड़िजाइ जहाँ हरि पाइअ रे।
प्रेम परसमनि आनि आनि उर लाइअ रे॥
सपनहुँ संगम पाओल रंग बढ़ाओल रे।
से मोर बिहि विघटाओल निन्दओ हेरायल रे॥
भनहि विद्यापति गाओल धनि धैरज कर रे।
अचिरे मिलत तोहि बालुम पुरत मनोरथ रे॥ —विद्यापति

हरि को मारग दिन प्रति जोवति।
चितवति रहति चकोर चन्द ज्यों सुमिरि सुमिरि गुण रोवति।
पतियाँ पठवति मसि नहिं खंडित लिखि लिखि मानहुँ धोवति॥
भूख न दिन निसि निंद हिरानी एकौ पल नहिं सोवति।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु वृथा जनम सुख खोवति॥—सूरदास

विहर विधुरा कामिनी के करुण क्रन्दन का चित्र दोनों पदों में चित्रित किया गया है। विद्यापति की पति-प्राण राधा कृष्ण की राह देखते देखते अत्यन्त निराश हो गयी है, किन्तु वैसा नैराश्य सूरदास की राधा में नहीं है। विद्यापति का दूसरा चरण अत्यन्त मार्मिक है। 'जिवओ न जाय' में विरह कातरा के अमूल्य प्राणों के प्रति निस्पृहता, अवज्ञा और जीव को शरीर नहीं छोड़ने का हठ हृदय-स्पर्शी है। 'आशे अरुझापल रे' में आशा की अनन्त उलझन राधा को व्याकुल बना रही है। गीत का 'शिव शिव' पद अत्यन्त करुणोत्पादक है; क्योंकि काम के कुसुम बाण से कातर कामिनी विरहिणी का

कामारि 'शिव शिव' का गोहार करना अत्यन्त भावपूर्ण हुआ है।

सूरदास के पद में भी " चितवति रहति चकोर चन्द्र ज्यों " भावपूर्ण है। कृष्ण की राह चकोर की भांति एक टक देखते रहने में भाव–प्रवणता और उत्कट-उत्कण्ठा सुन्दर रूप से व्यक्त है। इससे यह मालूम होता है कि कृष्ण के आने का कोई एक ही मार्ग निर्दिष्ट है; परन्तु विद्यापति के ' लोचन धाय फेधायल ' में चारो ओर से कृष्ण के आने की नैराश्यपूर्ण उत्कण्ठा है। सूरदास के पद में "सुमरि सुमरि गुण रोवति " का वर्णन विद्यापति में नहीं है। विद्यापति के पद में पत्र लिखने का, आसुओं से धोने का और भूख प्यास भुला देने का वर्णन नहीं है। सूरदास का "निंद हेरानी " और विद्यापति का " नीन्दओ हेरायल रे " यद्यपि एक ही भाव का द्योतक है; फिर भी " सपनहु संगम पाओल रंग बढ़ाओल रे से मोर विहि विघटाओल निन्दओ हेरायल रे " में जो भाव है वह सूरदास के 'भूख न दिन निसि निंद हिरानी एकौ पल नहिं सोवति' से कहीं उत्कृष्ट है। विद्यापति की नायिका का स्वप्न भी ' विहि ' द्वारा बाधित होने से यह पद कालिदास का 'क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः' का सहसा स्मरण दिला देता है। विद्यापति के पद में "मन कर तहां उड़ि जाइ जहाँ हरि पाइअ रे, प्रेम परसमनि जानि आनि उर लाइअ रे" का वर्णन अत्यन्त सुन्दर हुआ है। परसमणि से प्रेम की तुलना भी बहुत ही भावपूर्ण है। परसमणि प्रस्तर के स्पर्श मात्र से जब कुधातु भी सोना हो जाता है तो प्रेम-परसमणि कृष्ण

का वह स्पृहणीय स्पर्श हृदय को प्रेममय क्यों न बना डाले?

पाठकों का अधिक समय हम नहीं लेना चाहते। अब एक मात्र पद की आलोचना कर इस प्रसंग को हम समाप्त करते हैं।

अनुखन माधव माधव सुमरइत सुन्दरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव स्वभाहिं बिसरल अपन गुण लुवधाई॥
माधव अपरुव तोहर सिनेह।
अपन विरहे अपन तनु जर जर जिवइते भेल संदेह॥
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि छल छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटतहिं आधा आधा वानि॥
राधा सओ जब पुन तहि माधव माधव सओ जब राधा।
दारुन प्रेम तबहु नहिं टूटत बाढ़त बिरहक बाधा॥
दुहु दिशि दारु दहने जैसे दगधइ आकुल कीट परान।
ऐसन वल्लभ हेरि सुधामुखि कवि विद्यापति भान।—विद्यापति

सुनो श्याम यह बात और कोउ क्यों समुझाय कहै।
दुहुँ दिशि को रति विरह विरहिनी कैसे कै जो सहै॥
जब राधे तबहीं मुख माधो माधो रटत रहै।
जब माधो होई जात सकल तनु राधा विरह दहै॥
उभय अग्र दौं दारु.कीट ज्यों शितलताहि चहै।
सूरदास अति विकल विरहिनी कैसेहु सुख न लहै॥—सूरदास

सूरदास जी का यह पद स्पष्ट प्रमाणित करता है कि उन्होंने विद्यापति के ही भाव पर अपनी रचना की है। कारण दोंनो कवियों ने एकही विपय का वर्णन और एक ही भाव

मोतिन की विथुरी शुभ छूटैं, हैं उरझी उरजातन लूटैं।
हास श्रृङ्गार लता मनु वनी, भेंटति कल्पलता हित घनी।
केशनि ओरनि सीकर रमैं, ऋक्षन को तमयी जनु वमैं।
सज्जल अंवर छोड़त वने, छूटत हैं जल के कण घने।
भोग भले तिन सौं मिलिकरे, छोड़त जानि के रोवत खरे।
भूषण जे जल मध्यहिं रहे, ते वन पाल वधूटिन लहे।
भूषण वस्त्र जवै सजि लये, चरिहु द्वारन दुंदुभि भये।

विद्यापति का सद्यःस्नाता-वर्णात्मक एक पद इसी पुस्तक में अन्यत्र (पृ० ५०) उद्धृत हो चुका है। पाठक उस पद से केशव के उपरोक्त पद की तुलना करें। जहाँ तक कपड़े के रोने का वर्णन है,* दोनों ही कवियों ने महाकवि 'माघ' का भाव उड़ा लिया है। परन्तु रचना-वैदग्ध्य के प्रश्न में विद्यापति को केशव नहीं पा सके हैं। पहले केशव कहने को तो 'सोहति हैं विनु भूषन तवैं' कह जाते हैं, परन्तु हास्य श्रृङ्गार तथा कल्पलता का रूपक वाँधने का ध्यान उठते ही उस पद के अर्थ को भूल 'मोतिन की विथुरी सुभ छूटैं' कह उठते हैं। यदि इस चरण को अलक का विशेषण मानें तो अर्थ सुन्दर हो जायगा जरूर, परन्तु 'जल-कण मोती हैं' इतना अध्याहार ऊपर से लाना पड़ेगा। विद्यापति-रचित

---

* मैथिल नैयायिक प्रवर, पण्डित स्वर्गीय वच्चा झा ने अमुद्रित 'सुलोचना माधव' महाकाव्य में लिखा है—

मां त्यजयतीयमतिविश्वगुणेति शोके नेवात्मकृत्यमपि नावरणं विधत्ते।
संरोदितीव च मुहुर्निखिलाङ्ग-निर्यद्वाष्पाम्बु-विन्दु-कृत-विस्मयमत्र वासः॥

'अलि कुल कमले बेढ़ल मधु लोभा' 'सिन्दुरे मंडित जनि पंकज पाता' और 'कनक बेलि जनि पड़ि गेल हीमा' आदि में उपमाओं का कितना सुन्दर प्रयोग हुआ है; जिसकी दाद साहित्य-मर्मज्ञ ही दे सकते हैं। केशव ने जो भाव 'केशनि ओरनि सीकर रमै, कृत्तन को तमयी जनु बमै' में व्यक्त किया है, उसे सर्वथा सुन्दर नहीं मान सकते। "बमै" शब्द घृणोत्पादक है जो शृङ्गार रस के वर्णन में कदापि स्तुत्य नहीं कहा जा सकता। विद्यापति ने कितने सुन्दर ढंग से उस भाव का निर्वाह किया है यह देखने योग्य है—

चिकुर गरये जल धारा। जनु मुख-ससि डरे रोअए अन्हारा॥

वस्त्र के रोने के वर्णन में भी विद्यापति केशव से बढ़े ही रहे। ममता-वश चीर को चिपक कर छिप जाने का जो भाव वैशिष्ट्य विद्यापति में है, वह केशव में तो कहां से आवेगा मूलाधार 'माघ' में भी नहीं है। कवि विद्यापति के 'तेजब नेहा' में जो भाव है, वह केशव के कोरे 'छोड़त' में कहां? केशव के 'भोग भले तिन सों मिलि करे' से विद्यापति का 'एखन रस नहि पाओब आरा' में करुणा का भाव अधिक है। अमृतमय रूप देख कर निर्जीव वस्त्र को सजीव हो उठने का वर्णन मार्मिक हुआ है जो विद्यापति के 'वसन लागल भाव रूप निहारि' में व्यक्त है।

विद्यापति के एक गीत के दो चरण नीचे उद्धृत हैं—

तिला एक लागि रहल अछि जीवे।
बिन्दु सनेह बरइ जनि दीपे॥

केशव की रामचन्द्रिका में भी हनुमान् जी सीताजी को रामचन्द्र का विरह–वर्णन सुना रहे हैं—

अपनी दशा कहा कहौं, दीप दशा सी देह।
जरत जाति वासर निशा, केशव सहित सनेह॥

जिस भाव को विद्यापति ने राधा के विरह-वर्णन में व्यक्त किया है, उसी भाव को केशव ने रामचन्द्र की विरहोक्ति उक्त दोहे में कहा है। केशव, विरह के कारण, तेल के साथ बत्ती की तरह, देह को प्रेम के साथ–साथ जलते देखते हैं; परन्तु विद्यापति इसी भाव को दूसरी रीति—परन्तु बड़े ही मार्मिक ढंग—से देखते हैं। विद्यापति कहते हैं कि विरह से राधा का जीवन (प्राण) अब तिल मात्र ही बच रहा है मानो बूँद ही भर स्नेह (तेल) के सहारे दीपक टिमटिमा रहा हो! बात वही, भाव वही; पर वर्णन की चतुराई स्पष्ट है। राधा के प्राण विरहानल में जलते-जलते इतने छीन हो गये हैं कि अब उनका अस्तित्व तिल मात्र ही शेष रह गया है। न जाने, कब वह दीपक बुत जाय। उनके प्राणों की अवस्था (दशा) उस दीपक की भाँति है जिसमें एक ही बूँद तेल बचा हो, जिसके ख़तम होते ही चिराग गुल हो जायगा!

ऐसी वर्णन-चातुरी तथा करुणामयी भाव-व्यञ्जना केशव की कविता में नहीं पाई जाती। केशव ने देह के साथ ही साथ स्नेह को भी जला डाला है, जो उतना सुन्दर नहीं कहा जा सकता। केशव ने देह के साथ स्नेह की तुलना की है, परन्तु विद्यापति ने स्नेह की तुलना जीव के साथ कर दोनों में

घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर दिया जो कभी टूटने का नहीं। स्नेह विद्यापति की राधा के जीवन के साथ है, पर केशव के रामचन्द्र की देह ही के साथ दीखता है। अतएव देह और जीव में तथा शरीर और शरीरी में जो भेद है, वही भेद दोनों की कविताओं में भी हो गया है।

केशवदास ने प्रवास-विरह का वर्णन करते हुए निम्नांकित सवैया लिखी है—

मेह कि है सखि आँसू, उसाँसनि साथ निसा सु बिसासिनि बाढी।
हाँसी गई उड़ि हंसिनि ज्यों चपला सम नींद भई गति काढी।
चातकि ज्यों पिउ पीउ रटै चढी ताप तरंगिनि ज्यों तन गाढी।
केशव वाकी दशा सुनि हौं अब आगि बिना अंग अंगन डाढी।

विद्यापति के विरह-वर्णन का भी एक पद नीचे दिया जाता है—

विपत अपत तरु पाओल रे पुनि नव नव पात।
विरहिनि नयन विहल विहि रे अविरल बरिसात॥
सखि अन्तर विरहानल रे नित बाढ़ल जाय।
बिनु हरि लख उपचारहु रे हिये दुख न मेटाय॥
पिय पिय रटय पपिहरा रे हिय दुख उपजाव।
कुदिना हित जन अनहित रे थिक जगत सोभाव॥
कवि विद्यापति गाओल रे दुख मेटत तोर।
हरषित चित तोहि भेटत रे पिय नन्द किशोर॥

दोनों की कविताएँ अच्छी हैं। केशवदास ने विरहिणी नायिका का रूपक वर्षा से बाँधा है, परन्तु विद्यापति में भाव का प्रवाह इतना तीव्र है कि उसके आगे रूपक आदि बाँधने का उतना अधिक अवकाश ही कहाँ रह गया है? विद्यापति ने

यद्यपि ऊपर की दो पंक्तियों में रूपक बाँधने का प्रयास किया था, परन्तु भावावेश में अलंकार का ध्यान ही छूट गया। अन्तस्तल का भावोच्छ्वास व्यक्त होने—ऊपर आने-के लिये विकल हो उठा। अस्तु।

केशव के इस संदेहालंकार से कि ये विरहिणी के आँसू हैं या वर्षा की बूँदें; विद्यापति की यह सूक्ति कहीं अच्छी जँचती है कि विरहिणी के नेत्रों में विधाता ने निरन्तर होनेवाली वर्षा की रचना कर रक्खी है। केशव के 'चातकि ज्यों पिउ पिउ रटै' से विद्यापति का 'पिय पिय रटय पपिहरा रे हिय दुख उपजाव' अधिक मार्मिक एवं करुणा-व्यंजक है। केशवदास कहते हैं कि उसाँसों के साथ-साथ मृत्यु रूपी रात बढ़ गई है, हँसिनी के समान हँसी उड़ गई है, नींद चपला की तरह चपल बन गई है और नदी की भाँति प्रचण्ड ताप तन में बढ़ चला है। इसमें रूपक का विन्यास तो अच्छा हुआ है, परन्तु हमारी राय में नदी के साथ ताप का रूपक उतना सुन्दर नहीं कहा जा सकता। दोनों में इतनी समता तो अवश्य है कि वर्षा में नदी की तरंग बढ़ती है, उसी प्रकार विरह में ताप की भी ज्वाला बढ़ती है। परन्तु तरंग में जो शीतलता है, उसका तन-ताप में नितान्त अभाव है। उसी प्रकार उसाँसों के साथ-साथ रात बढ़ने का वर्णन तो केवल रूपकालंकार ही मिलाने के ध्यान से किया गया प्रतीत होता है।

यद्यपि केशव की भाँति विद्यापति सांग रूपक का विन्यास पूर्णतया नहीं कर सके हैं, तथापि उनकी कविता भाव-पूर्ण

हुई है। 'हरि बिनु लख उपचारहु रे हिय दुख न मेटाय' में हृदयवेधी आन्तरिकता है। बिना प्रियतम को प्राप्त किये हुए क्या लाखों प्रयास करने पर भी कभी हृदय का दुख दूर हो सकता है। कदापि नहीं। 'कुदिना हित जन अनहित रे थिक ज़गत सोभाव' में विद्यापति केशव से कितने ऊपर उठे रह गये, यह अनुमान-गम्य है। इसमें चिरन्तन सत्य और जीवन के कटु अनुभव का निष्कर्ष छिपा है। मैथिल-कोकिल की इस काकली में श्रृङ्गार के साथ दार्शनिकता के सम्मेलन ने 'रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन' को चरितार्थ कर दिया है—सोने में सुगन्धि डाल दी है। जहाँ केशव रूपक का चमत्कार मात्र प्रदर्शित करने में रह गये, वहाँ विद्यापति उनसे कितने ऊँचे उठे रहे यह दर्शनीय है। विद्यापति भावुक कवि के साथ साथ दार्शनिक भी हैं और इसीलिए उनकी गणना महाकवियों में है। कविवर ब्राउनिङ्ग (*Browning*) का यह कथन—"*When passion and philosophy meet in a single individual, we have a great poet*" विद्यापति के लिये अक्षरसः चरितार्थ है।

हिन्दी-साहित्य का क्षेत्र श्रृङ्गारिक कवियों के प्रादुर्भाव के लिये बड़ा ही उर्वर है। हिन्दी-साहित्य के प्राचीन और मध्य युग श्रृङ्गारी कवियों से ओतप्रोत हैं। विद्यापति के पदों के बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव वाले अनेकानेक पद हिन्दी काव्य में पाये जाते हैं। यदि उन सबका उल्लेख कर तुलनात्मक समालोचना का प्रकाश दिया जाय तो एक अच्छी पुस्तक प्रस्तुत हो सकती है। तुलसी, सूर, देव,

विहारी, मतिराम आदि हिन्दी काव्य के कुछ महारथियों के साथ ही विद्यापति की कुछ-कुछ तुलना और समालोचना करने में तो इतने पृष्ट रँगे गये हैं। इस प्रसंग को अब और अधिक वढ़ाना व्यर्थ मालूम होता है।

अन्त में एक बात कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। हिन्दी-साहित्य के मान्य समालोचक श्रीयुत 'मिश्रवन्धुओं' ने अपने 'विनोद' में विद्यापति को सेनापति की श्रेणी में रख कर उनके साथ कितना अन्याय किया है, इसका आभास उपर्युक्त पंक्तियों में मिल जायगा। विद्यापति को सेनापति की कोटि में रख कर उनके महत्व को जरा भी घटाया नहीं जा सकता; प्रत्युत् उलटे उनके समालोचनात्मक ज्ञान का ही नग्न प्रदर्शन हो गया।

परन्तु यों कीचड़ उछालने से क्या विद्यापति की महिमा नष्ट हो सकती है? क्या उनकी कविता का चारु चमत्कार विलुप्त हो सकता है? क्या उनके यशःचन्द्र की चन्द्रिका धूमिल हो सकती है? क्या उनके स्वर्गीय पद-रत्नों का जौहर गायब हो सकता है? कदापि नहीं, विद्यापति तो स्वयं ही कह गये हैं—

'मनि कादव लपटाय रे, तइँ कि तनिक गुन जाय रे॥'

अभी तक हिन्दी-संसार ने विद्यापति का यथार्थ अध्ययन वा अनुशीलन नहीं किया है। यद्यपि इस विषय में कुछ काम किया जा रहा है तथापि बङ्गीय-साहित्य को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि हिन्दी-संसार विद्यापति को शतांश

भी नहीं पहचान सका है। अतएव उनके विषय में भ्रमात्मक एवं अन्याय पूर्ण धारणा बँध-सी गई है। इस विषय में अधिकाधिक परिशीलन का प्रयोजन है। कवि की दृष्टि से विद्यापति का आसन सूर वा तुलसी—शेक्सपियर वा मिल्टन—किसीसे भी नीचे नहीं है। विद्यापति का यदि समस्त व्यक्तित्व ले लिया जाय तो उनका आसन और भी ऊपर उठ जायगा ; किन्तु यह लिखने का हमारा अभिप्राय कदापि नहीं कि हो न हो सभी हिन्दी-कवि विद्यापति ही से अनुप्राणित हुए हैं। इतना तो अवश्य ही है कि विद्यापति भाषा में श्रृङ्गारी कवियों के आदि गुरु हैं और उनका प्रभाव वंगभूमि से व्रज-मंडल तक तथा नेपाल से उड़ीसा पर्यन्त भली भांति पड़ा है। चाहे किसी हिन्दी-कवि ने भले ही स्वतन्त्र रचना की हो वा विद्यापति के भाव उड़ा लिये हों ; किन्तु कोई भी कवि समष्टि रूपेण कविता की दृष्टि से विद्यापति से आगे नहीं बढ़ सके हैं। बंगालियों का यह कहना यथार्थ है कि भारत में कालिदास के बाद यदि कोई कवि उपमालंकार का अधिकारी हो सकता है तो पहले वह स्थान विद्यापति को ही प्राप्त होगा। यद्यपि वे दूसरी-दूसरी बातों में भी कवित्व दृष्टि से बढ़े-चढ़े हैं। अब, यदि इतने पर भी हिन्दी-संसार विद्यापति को न पहचाने—यदि इसमें चैतन्य वा रवीन्द्र आदि नहीं हों-तो यह दोष विद्यापति की कविता का नहीं। परन्तु हमारा विश्वास है कि आज नहीं तो कल हिन्दी-संसार विद्यापति को अवश्य ही उनके उचित आसन पर बैठावेगा।

विद्यापति और मैथिली-कवि।

मैथिली भाषा के भण्डार भरने वालों में विद्यापति ठाकुर का एक विशिष्ट स्थान है। मैथिली भाषा के विकास में सहायक हो आपने इसे केवल नैसर्गिक-माधुरी से ही ओत-प्रोत नहीं किया, वरन् आपने इस भाषा और साहित्य को सदा के लिये अमरत्व भी प्रदान कर दिया। मैथिली पर आपका अमिट प्रभाव है; आपके व्यापक-प्रभाव के विषय में इतना कह देना ही प्रर्याप्त होगा कि आप उस भाषा के प्राण हैं। मिथिला में प्रायः ऐसे एक भी उनके परवर्ती कवि नहीं, जिनपर विद्यापति का प्रभाव न पड़ा हो।

विद्यापति की कविता तीन स्रोतों में प्रवाहित हुई हैं; जिनको हम कृष्ण-भक्ति, शिव-भक्ति और शक्ति-भक्ति के नाम से पुकारते हैं और जो आज तक अपनी अलौकिक माधुरी की छाक पिला तृषार्तों की तृषा बुझाती रही है। कृष्ण-भक्ति रूपी धरा ने बङ्गाल को अपनी बाढ़ से आप्लावित कर डाला और उसका कवित्ता-क्षेत्र ऐसा उर्वर बन गया कि अनायास सहस्रशः कवि-कुसुमों से बंगाल का कविता-कानन सौरभित हो उठा। इतना ही नहीं, विद्यापति की कविता का अनुशीलन के सिलसिले में मुझे ऐसे ठोस प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, जिनके आधार पर हम निस्सङ्कोच कह सकते हैं कि उस

समय की सञ्चित उर्वरता आज शताब्दियों के बाद भी बंगाल में अपनी अन्तर्हित अजस्र-शक्ति का पूर्ण परिचय दे रही है।

उनकी शिव एवं शक्ति-भक्ति की धाराएँ प्रायः मिथिला तक ही आबद्ध रहीं। यह तो कठोर सत्य है कि मिथिला का कविता-क्षेत्र विद्यापति के भावाप्लावन से बङ्गाल की तरह उर्वर नहीं बन सका, फिर भी इतना तो कहना ही होगा कि इन धाराओं में अवगाहन करने से मिथिला के कवियों में भी एक स्फूर्ति आई और उन्होंने भी विद्यापति की विचार-धारा का अनुशरण किया। मैथिल कवियों में गोविन्ददास, रामदास, रमापति, जयानन्द, भानुनाथ आदि ने कृष्ण-भक्ति से अनुप्राणित हो विद्यापति का अनुशरण किया परन्तु इन कवियों के अतिरिक्त मैथिली भाषा के अन्य अनेकानेक कवि शिव की नचारी, एवं महेशवानी के राग अलापने ही में निमग्न रहे। मैथिली के कवि, विद्यापति से, कहाँ तक प्रभावित हैं इसको स्पष्ट दिखला देने के लिये हम यहाँ कुछ तुलनात्मक विवेचना पाठकों के सामने उपस्थित करते हैं। पाठक स्वयं निर्णय करलें कि हमारे कथन में कहाँ तक सत्यता है।

विद्यापति और गोविन्ददास

कविवर गोविन्ददास एक उद्भट और प्रतिभाशाली कवि हो गये हैं। इनकी जातीयता को लेकर वङ्गीय साहित्य-संसार में झगड़ा चल रहा है, जिसका विस्तृत विवरण और उपलब्ध नवीन सामग्रियों के आधार पर अवलम्बित अपनी विवेचना

हमने अपने 'गोविन्द गीतामृत' ग्रन्थ में दी है। परन्तु वह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। अन्वेषण के आधार पर मैथिली साहित्य प्रेमी आप को मैथिल मानते हैं। यदि गोविन्ददास की जातीयता के विषय का विवाद और विवेचना यहाँ उपस्थित की जाय तो प्रतिपाद्य विषय तो बहुत दूर छूट जायगा और दूसरा ही पोथा तैयार हो जायगा। इसलिए उस झगड़े को छोड़ यहाँ पाठकों को केवल गोविन्ददास के ऊपर विद्यापति के प्रभाव का दिग्दर्शन हम कराना चाहते हैं।

गोविन्ददास विद्यापति को अपना काव्य-गुरु मानते थे। देखिये, वे किस प्रगाढ़ श्रद्धा और भक्ति के साथ अपने गुरु की स्तुति करते हैं। आप कहते हैं—

विद्यापति पद युगल सरोरुह निस्यन्दित मकरन्दे।
तसु मझु मानस मातल मधुकर पिबइते करु अनुबंधे॥

गोविन्ददास ने विद्यापति के 'पद युगल सरोरुह' के समीप बैठकर कविता करना सीखा। इसलिए हम उनकी कोमल-कान्त-कविता को विद्यापति के रंग में शराबोर पाते हैं।

विद्यापति—कबहुँ रसिक सञो दरसन होय जनु, दरसने होय जनु नेह।
नेह बिछोह जनु काहुक उपजय, बिछोह धरय जनु देह॥

गोविन्ददास—कुलवति कोइ नयन जनि हेरइ, पुनि जनि हेरइ कान।
कान हेरि जनि प्रेम बढ़ावइ, प्रेम करइ जनि मान॥

विद्या—जहाँ जहाँ पद युग धरई, तँहि तँहि सरोरुह भरई॥
जहाँ जहाँ झलकत अंग, तँहि तँहि बिजुरि तरंग॥

गोविन्द—जहाँ जहाँ निकसय तनु तनु जोति, तहिं तहिं बिजुरि चकमक होति
जहाँ जहाँ अरुण चरण चलि चलइ, तहिं तहिं थल कमलक दल खलई

विद्या — धनि धनि रमनि जनम धनि तोर।
सभ जन कान्हु कान्हु कए झूरय, से तुअ भाव विभोर॥

गोविन्द—धनि धनि रमनि शिरोमनि राई।
नयनक ओत करत नहिं माधव, निशि दिन रह अवगाई॥

यद्यपि गोविन्ददास विद्यापति की काव्य-गरिमा से अत्यन्त ही प्रभावान्वित हुए, तथापि वे भी एक महाकवि थे, जिनकी रचना-चातुरी पर साहित्य-रसिक सहज ही मुग्ध हो जाते हैं। यद्यपि महाकवि विद्यापति भी मधुर कविता करने में कृतकार्य हुए हैं, परन्तु शब्दालंकार का माधुर्य्यपूर्ण-चारु-चमत्कार का प्रदर्शन जिस प्रकार गोविन्ददास ने किया है, वैसा विद्यापति नहीं कर सके हैं। गोविन्ददास वह कुशल शिल्पी थे जिनका काव्य-कसीदा और भाषा के बेल-बूटे की सजावट की समता प्रायः दूसरे कवियों के काव्य में नहीं मिलती। विद्यापति भाव-सौन्दर्य्य प्रधान कवि थे और गोविन्ददास भाषा-सौन्दर्य्य प्रधान, विद्यापति कविताकार एवं गोविन्ददास कलाकार थे।

पाठकों के सामने तुलनात्मक-दृष्टि से विद्यापति तथा गोविन्द दास का दो-एक गीत उद्धृत करते हैं। यथा—

सजनी भल कए पेखल न भेलि।
मेघ माला सञे तड़ित लता जनि, हृदये शेल दइ गेलि॥
आध आँचर खसि आध बदने हँसि, आधहि नयन तरंग।
आध उरज हेरि आध आँचर भरि, तवधरि दगधे अनंग॥
एके तनु गोरा कनक कटोरा, अतनु काँचला उपाम।
हारे हरल मन जनि बुझि ऐसन, फाँस पसारल काम॥

दसन मुकुता पाँति अधर मिलायत, मृदु मृदु कहतहिं भासा।
विद्यापति कह अतए से दुख रह, हेरि हेरि न पुरल आसा॥

—विद्यापति

आज मुभि पेखनु राई।
दरसने नयन नयन-शर हानलि, विरस न भेल मुख चाई॥
गौर वरन तनु नील पट ऊड़न, कुच युग कनक कटोर।
ऊपर कुचक हार विराजित, युव जन चित्त चकोर॥
विपुल नितम्ब जघन अति सुन्दर, केहरि जिनि कटि देश।
कमल चरण युग जावक रंजित, जग-जन-मोहन वेश॥
पिठ परे वेणि विराजित जनु फणि, चलतहिं मणिधर पासे।
विदगधि नागरि मझु मन आकुल, मुरुछल गोविन्द दासे॥

—गोविन्द दास

दोनों कवियों ने अपनी-अपनी कविता में प्रथम-दर्शन का वर्णन किया है। परन्तु गोविन्ददास की वर्णन-शैली की जाँच-पड़ताल करने पर यह पता अच्छी तरह चल जाता है कि उन्होंने अपना पद-निर्माण विद्यापति के ही पद के आधार पर किया है। गोविन्ददास का 'नयन शर हानलि' विद्यापति के 'हृदये शेल दय गेल' की अनुच्छाया है। गोविन्ददास विद्यापति के 'एके तनु गोरा कनक कटोरा अतनु काँचला उपाम' को 'गौर वरण तनु नील पट ऊड़न कुच युग कनक कटोर' का रूप देते हैं। गोविन्ददास का 'ऊपर कुचक हार विराजित, युव जन चित्त चकोर' विद्यापति के 'हार हरल मन जनि बुझि ऐसन फाँस पसारल काम' का स्मरण दिलाता है।

यद्यपि विद्यापति के कृष्ण राधा के दर्शन-मात्र से ही मूर्च्छित नहीं हो जाते हैं फिर भी 'विद्यापति कह एतय से दुख रह हेरि हेरि न पुरल आशा' में वर्णित पुनः पुनः देखने की उत्कण्ठा अत्यन्त ही मार्मिक है। विद्यापति की कविता सुन्दर भाव-रत्नों से सुसज्जित है। यह भाव-सौष्ठव इसी मात्रा में गोविन्ददास की कविता में उपलब्ध नहीं होता। फिर भी इतना कहना ही पड़ता है कि गोविन्ददास की कविता भी चमत्कार पूर्ण है। गोविन्द दास का एक पद निम्नाङ्कित है। यथा—

दुर सञे नयने नयन जब हेरब; नियड़े रहबि शिर नाइ।
परशिते शिहरि करहिं कर बारबि, यतने रोइ निरमाइ॥
सुन्दरि अतए सिखाबिय तोय।
बिनहिं मान धने किऐ बहु वल्लभ, कबहु अपन वश होय॥
पुछइते गोरि चमकि मुख मोड़बि, हंसइते जनु तोहें हास।
करइते मिनति सूनि नहिं सूनवि, करबि आनहिं आन भास॥
पइइते चरण वारि दिठि पंकजे, पूजबि सो मुख चन्द।
गोविन्द दास कह याहि धैरज रह, ताहि से एत परबन्ध॥

अब पाठक जरा विद्यापति के भी एक गीत का अवलोकन करें। यथा—

प्रथमहिं अलक तिलक लेब साजि, चंचल लोचन काजरे आंजि॥
जायब बसने आँग लेब गोए, दुरहिं रहब तैं अरथित होए॥
मोरे बोले सजनी रहब लजाए, कुटिल नयने देब मदन जगाए॥
झांपब कुच दरसाओब कंत; दढ़ कए बांधब निविहुक अंत॥
मान कइए किछु दरसब भाव, रस राखब तैं पुन पुन आब॥

हम कि सिखाओब अओर से रंग, अपनहिं गुरु भए कहत अनंग ॥
भनहिं विद्यापति ई रस गाव, नागरि कामिनि भाव बुझाव ॥

दोनो ही पदों में एक ही विषय है–सखी-शिक्षा । दोनों में इसका विशद्-वर्णन अत्यन्त मार्मिकता और सुन्दरता से किया गया है। परन्तु विद्यापति के 'मान कइए किछु दरसब भाव, रस राखब तें पुन पुन आव' और 'हम कि सिखाओब अओर से रंग, अपनहिं गुरु भए कहत अनंग' में वर्णित प्रणय के मार्मिक रहस्य का प्रतिपादन सुन्दर हुआ है। ये पंक्तियाँ सहृदयों के हृदय में एक हलचल पैदा कर देती हैं और वे कल्पना-संसार के मधुर-अनुभवों में कुछ देर के लिये अपनापन खो बैठते हैं। यह *Suggestiveness* (भावव्यञ्जकता) गोविन्द दास के पद में नहीं मिलता। उन के पद में मन को बरबस कल्पना-संसार में खींच कर ले जाने वाले भाव नहीं हैं। फिर भी उन का पद्य सुन्दर है, स्थान स्थान पर मार्मिक है, और कई भावों का चित्रण तो ऐसा है कि वे चित्र-से खिंचे मालूम होते हैं। 'परशिते शिहरि करहिं कर बारवि, यतने रोइ निरमाई' और 'पुछइते गोरि चमकि मुख मोरवि' पढ़ने के साथ हमलोगों की आखों के सामने एक चित्त-सा नाचने लगता है। इन पदों में 'शिहरि' और 'चमकि' शब्दों का प्रयोग बहुत ही मार्मिक हुआ है। इन्हीं दोनों शब्दों ने एक अद्भुत भावमय चित्र उरेह डाला है।

तुलनात्मक समालोचना की दृष्टि से हम इन दोनों पद्यों के विषय में एक बात और कह देना चाहते हैं। विद्यापति

की कविता में स्वानुभूति की प्रगाढ़ता है। वे प्रणय-संसार के फूलों और काँटों से परिचित हैं। 'दुरहिं रहब तैं अरथित होयं' 'कुटिल नयने देब मदन जगाए' तथा 'रस राखब तें पुन पुन आव' ये शिक्षाएँ किसी प्रौढ़ अनुभवी रसज्ञ-शिरोमणि के मुख से ही सुनाई पड़ सकती हैं। विद्यापति गोविन्ददास की तरह अपनी नायिका को अधिक शिक्षा नहीं देते और न ऐसा करने की उन्हें आवश्यता जँचती है। इन्होंने अपनी नायिका को प्रणय-पाठशाला के कुछ प्रारम्भिक नियम बतला कर ही उस पाठशाला के गुरुदेव 'अनङ्ग' की एक मात्र शरण लेने की शिक्षा दे निश्चिन्त हो जाते हैं। उनकी निश्चिन्तता के दो कारण हैं। एक तो यह कि विद्यापति प्रेम-संसार के पहुँचे-हुए-पुजारी हैं। इनको इसके अन्तरतम रहस्य से पूर्ण परिचय है। ये यह अच्छी तरह जानते हैं कि किसी व्यक्ति विशेष के लिये प्रणय-विषयक पाठ का अधूरा होना ही संभव है। अतः, जिस गुरुवर की दीक्षा के विना आज तक कोई प्रणय की परीक्षा में पूरा नहीं उतर सका है, और जिसके मन्त्र अमोघ होते हैं, उसी गुरुदेव 'अनङ्ग' के पाद-पद्मों में शिक्षा के लिये विठा देना आपने सर्वोत्तम समझा। उनकी निश्चिन्तता का दूसरा कारण यह है—कि आप 'गुरुदेव' के स्वभाव से पूर्ण परिचित हैं। आप को इस में तिल मात्र भी सन्देह नहीं है कि प्रणय की पाठशाला में प्रवेश करने के साथ ही 'गुरुदेव' जिज्ञासु की पूरी शिक्षा-दीक्षा का भार अपने (अपनहिं) ऊपर लेलेते हैं। तभी तो आप प्रेम मार्ग

की साधना में पैर रखती हुई अपनी नायिका को यह ढाढस और विश्वास दिलाते हैं कि घबड़ाना नहीं—'अपनहिं गुरु भए कहत अनंग'। सचमुच विद्यापति ने तुलसीदास की 'आखर थोड़ अर्थ वहु तेरे' वाली सूक्ति को चरितार्थ कर दिखाया है। हमें तो ऐसा जँचता है कि रस-नैपुण्य एवं गम्भीर और प्रौढ भाव-प्रदर्शन में विद्यापति गुरु हैं और गोविन्ददास उनके शिष्य।

किन्तु शब्द-शिल्प में गोविन्ददास अपने गुरु विद्यापति से कहीं आगे वढ गये हैं। मिथिला भाषा पर उनका जो अद्भुत अधिकार देखने में आता है, वह किसी भी भाषा के कवि में प्रायः नहीं देख पड़ता। ऐसा कोई भी पद नहीं है जिसमें गोविन्ददास ने मैथिली की मधु-मधुरिमा का हमें रसास्वादन नहीं कराया है। अनुप्रास की वह मंदाकिनी गोविन्ददास को कवि-समाज में एक खास स्थान प्रदान करती है। आनुप्रासिक पद लिखने में गोविन्ददास वेजोड़ हैं, फिर भी, विशेषता तो यह है कि उन्होंने भावों में शिथिलता नहीं आने दी है। उनके अनुप्रास की एक छटा देखिये—

पदमिनि पुन परवोधनो तोय।
पीताम्वर पद-पंकज परिहरि पामरि पाँतर रोय॥
पुछइत पहिने पानि पलटायसि परिजन पर करि मान।
पिय परिवाद परसि परिहारसि पुर पाहुन पचवान॥
पिरितिक पाँति पाठे परिहाससि पहु परिणत नहिं मान।
पाहन पुतलि परखि पए पेखल पर पीड़न नहिं जान॥
पुरुषोत्तमक प्रेम परिरम्भन पुनवति पावए कोए।
प्राण-पियारि पदवि परिपालह गोविन्ददास कह तोए॥

इस प्रकार अनेक गीतों की रचना उन्होंने सम्पूर्णतः अनुप्रास पूर्ण भाषा में की है जो साहित्य-संसार के लिये एक अनोखी सामग्री है। गोविन्ददास के कव्य-कलाप की विशेष जानकारी के लिये मेरे 'गाविन्द गीतामृत' नामक ग्रन्थ की प्रतीक्षा करें।

विद्यापति और रामदास

रामदास हमलोगों के पूर्व परिचित कविराज गोविन्द दास के सौतेले भाई थे। आप महाराज सुन्दर ठाकुर के दरबारी कवि थे, और साथ ही संस्कृत एवं प्राकृत के एक अच्छे विद्वान् भी। आपकी 'आनन्द विजय नाटिका' से यह पता चलता है कि आप मैथिली भाषा में भी रचना करते थे। इस नाटिका की प्रस्तावना में एक संस्कृत का पद्य आया है जिससे यह ज्ञात होता है कि रामदास ने गोविन्द दास के पाद-पद्म में बैठ कर ही काव्य आदि शास्त्रों का अध्ययन किया था। उस पद्य का दो चरण इस प्रकार है—

श्री गोविन्दघनेन तेन गुरुणा कारुण्य पुण्याम्भसा।
सिक्तस्यामर शाखिनो नवरसं रामस्य रम्यं फलम् ॥

यद्यपि आप गोविन्ददास के शिष्य थे, फिर भी विद्यापति के व्यापक प्रभाव के स्पष्ट-चिन्ह आप की कविता में भी पाये जाते हैं। जिस मार्ग से गुरु जाय फिर शिष्य ही उसको क्यों छोड़े? आपने भी विद्यापति के भावों को अच्छी तरह अपनाया है। यथा—

विद्यापति—आनन लोलए वचन बोलए हँसि, अमिअ वरिस जनि शरद पुनिम ससि ॥

रामदास—मधुरसें आपन कएलन्हि हँसी, अमिय वरिस जनि शारद ससी

विद्या—काजर रंजित धवल नयन वर, भमर मिलल जनि विमल कमल पर।

राम—बाँके निहारलन्हि वदन हमरा, फुलल कमल जनि पड़ल भमरा॥

विद्या—गुरु नितम्ब भरे चलए न पारय, मांझहि खीन निमाई।

भांगि जाएत मनसिजे धरि राखलि, त्रिवलि लता अरुझाई॥

राम—भाँगि जाइति कुच भर परिनामे, तेँ दहुँ त्रिवलि गुणे बाँधल कामे

"आनन्द विजय नाटिका" में रामदास की जो कवितायें हैं, वे उच्च कोटि की नहीं। अतः आपके साथ विद्यापति की तुलनात्मक आलोचना हम व्यर्थ ही समझते हैं। परन्तु पाठकों के मनोरंजनार्थ रामदास और विद्यापति का एक एक पद उद्धृत है। इन दोनों पदों में एक ही भाव प्रतिपादित है। अतः पाठक सुगमता से निर्णय कर लेंगे कि किनका भाव-प्रतिपादन उत्कृष्ट हुआ है। यथा—

आज मधुपुर जाइतेँ, पथ भेटलि राधा।
मानस मीन तरङ्गिनी, विहि रचल अगाधा॥
कुन्तल शैवल लोचन, अलि मधु-मद भोरा।
आनन कमल अधर दल, कुच चकवा जोरा॥
बाहु मृडाल नाभि हृदि, सुजघन अवतारे।
किंकिनि कलरव कैतबें, जलचर परचारे॥
शोभए चारु उरू छलें, करि कर अभिरामे।
नागरि रूप पयोनिधी, भन रसमय रामे॥
कमलावति पति गुनमन्त, सुरतरु अवतारे।
रसबुझ सुन्दर नरपति, सभ नागर सारे॥ —रामदास

जइति देखिल पथ नागरि सजनि गे, आगरि सुबधि सेआनि।
कनकलता सनि सुन्दरि सजनि गे, विहि निरमाओल आनि॥
हस्ति गमन जकाँ चलइति सजनि गे, देखइति राजकुमारि।
जनिकर एहनि सोहागिनि सजनि गे, पाओल पदारथ चारि॥
नील बसन तन घेरलि सजनि गे, शिर देल चिकुर ससारि।
तापर भमरा पिवय रस सजनि गे, पइसल पांखि पसारि॥
केहरि सम कटि गुन अछि सजनि गे, लोचन अम्बुज धारि।
विद्यापति कवि गाओल सजनि गे, गुन पाओल अवधारि॥—विद्यापति

दोनों पद्यों में रास्ते में जाती हुई राधा के रूप का वर्णन है। रामदास 'मधुपुर-जाइतें पथ' और विद्यापति 'जाइति देखलि पथ' कहते हैं। रामदास के 'कुन्तल शैवल' के स्थान में हम विद्यापति में 'शिर देल चिकुर ससारि' पाते हैं। आँखों के विषय में रामदास 'लोचन अलि मधु-मद भोरा' और विद्यापति 'लोचन अम्बुज धारि' लिखते हैं।

इन दोनों पद्यों के विश्लेषण से यह पता चलता है कि रामदास ने राधा के अनेक अंगों का जो रूपक पयोनिधि से बाँधा है वह विद्यापति में नहीं है। परन्तु यह रूपक साहित्य संसार के लिये कोई नई चीज नहीं। रामदास का पद कालिदास रचित 'शृङ्गार तिलक' के निम्न श्लोक की अनुच्छाया ही प्रतीत होती है—

बाहु द्वौ च मृणालमास्य कमलं लावण्य लीला जलं।
श्रोणी तीर्थ-शिला च नेत्र शफरी धम्मिल्ल शैवालकम्॥
कान्तयाः स्तन चक्रवाक युगलं कन्दर्पवाणानलै-।
र्दग्धानामवगाहनाय विधिना रम्यं सरो निर्म्मितम्॥

विद्यापति और रमापति

कविवर पण्डित रमापति उपाध्याय महाराज नरेन्द्र सिंह के दरबारी कवि थे। आपका लिखा हुआ 'रुक्मिणी-हरण नाटक' मिलता है जो अभी तक अप्रकाशित है। एक-मात्र यह नाटक हीं विद्वन्मण्डली में रमापति के पाण्डित्य और उनकी प्रचुर कवित्व-शक्ति को प्रमाणित कर दिखलाने के लिये पर्याप्त है। आपका संस्कृत, प्राकृत और मैथिली पर आधि-पत्य था यह इस नाटक के मनन करने से स्पष्ट मालूम हो जाता है। आप मैथिली भाषा के एक अत्यन्त सफल कवि हो गये हैं। यह जान कर प्रत्येक साहित्य-प्रेमी को दुःख होगा कि आपका वह अमूल्य ग्रन्थ आज तक प्रकाशित नहीं हो सका है।

रमापति की कविता पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि आप पर भी विद्यापति का व्यापक प्रभाव पड़ा था। उदाहरणार्थ दोनों महाकवियों की कविताओं से कुछ अवतरण हम पाठकों के सामने रखते हैं। यथा—

विद्यापति—अमिअक लहरी बम अरविन्द, विद्रुम पल्लव फूलल कुन्द ॥

रमापति—अधर विनिन्दक विम्ब प्रवाल, कुन्द कोरक सम दशन विशाल

विद्या—तनु सुकुमार पयोधर गोरा, कनक-लता जनि सिरिफल जोरा ॥

रमा—कनक-लता विच युगल सिरीफल, उपर उदित हिमधामे ॥

विद्या—अहनिसि गरय नयन जल धार, खंजन मिलि उगिलल मोति हार ॥

रमा—अविरल लोचन गर जलधार, कुवलय दल जनु मुञ्च तुपार ॥

दोनों कवियों का एक एक पद उद्धृत है। यथा—

कुसुम बान विलास कानन, केस सुन्दर रेह।
निविल नीरद रुचिर दरसए, श्ररुण जनि निश देह॥
आजु देखु गजराज गति, वर जुवति त्रिभुवन सार।
जनि कामदेवक विजय वल्ली, बिहिल विहि संसार॥
सरद ससधर सरिस सुन्दर, वदन लोचन लोल।
विमल कंचन कमल चढि, जनि खेलु खंजन जोल॥
अधर पल्लव नव मनोहर, दसन दालिम जोति।
जनि विमल विद्रुम दल सुधारसें, सींचि धरु गजमोति॥
मत्त कोकिल बेनु, वीना नाद त्रिभुवन भास।
मधुर हासें पसाहि आनलि, करय बचन विलास॥
अमर भूधर सन पयोधर, महघ मोतिम हार।
जनि हेम-निर्म्मित सम्भुशेखर, गंग निर्म्मल धार॥
करभ कोमल कर सुशोभित, जंघ जुग्र आरम्भ।
मदन मल्ल वेश्राम कारने, गढल हाटक थम्भ॥
सुकवि एहो कण्ठहार गाओल, रूप सकल सरूप।
देवि लखिमा कन्त जानय, राज सिवसिंह भूप॥—विद्यापति

राज कुमारि देखल हमें, विधि वसें सखि संगे।
निज करे कुन्दि मनोभव, सिरिजल तसु अंगे॥
तड़ित उपर ससि तापर, जलधर अभिरामे।
से जनि मेदिनि संचरु, तओ पाव उपामे॥
कमल कोप मधु मातल, भए मधुकर भोरा।
मनसिज व्याध उड़ाओल, की खंजन जोरा॥

की दहुँ मुख ससि पिऊष, पिब युगल चकोरा।
तसु लोचन देखि मानस, संशय परु मोरा॥
पंकज कोरक निन्दक, तसु उरसिज काँती।
तैं जनि जल वसि अहोनिसि, तप कर भल भाँती॥
मध्य विनिन्दक केहरि, गिरि कन्दर गेला।
मृदु उर युग देखि करिवर, लज्जित सन भेला॥
थल पंकजरुह गंजित, तसु चरण निरेखी।
अपनहिं अवनत भए फुल, तैं बूझु विशेषी॥
गमने मराल बधू गन, तुलना नहिं पावे।
सुमति रमापति मने गुनि, रुकुमिनि रुप गावे॥ —रमापति

दोनों कविताओं में रूप-लावण्य का बहुत मनोहर वर्णन किया गया है। रमापति ने रुक्मिणी तथा विद्यापति ने राधा के सौन्दर्य्य का वर्णन किया है।

रमापति की कविता में कल्पना की सुन्दरता मनोमुग्धकारी है। आपका कहना है कि 'निज करे कुन्दि मनोभव सिरिजल तसु अंगे' अर्थात् कामदेव ने अपने हाथों से कुन्दी चला कर रुक्मिणी के रूप की रचना की है। जब रुक्मिणी के अवयवों की सुन्दरता पर स्वयं कुन्दी चला कर कन्दर्प ने रचना की है, तब उसकी 'निकाई' क्यों न फूट पड़े। यदि विद्युल्लता के ऊपर चन्द्रमा और फिर उसके ऊपर जलधर आरोहण कर पृथ्वी पर संचार करे तभी रुक्मिणी के शरीर की सुन्दरता की उपमा मिल सकेगी। 'मनसिज व्याध उड़ाओल की खंजन जोरा' एवं 'की दहुँ मुख शशि पिऊप पिव युगल

चकोरा' में अन्तर्निहित कल्पना बहुत ही मधुर है। परन्तु विद्यापति के पद्य का भी उत्कर्ष कम नहीं है। रमापति का 'निज करे कुन्दि मनोभव सिरिजल तसु अंगे' से विद्यापति का 'जनि कामदेवक विजय-वल्ली विहिल विहि संसार' किसी अंश में हल्का नहीं है। रमापति के 'मनसिज व्याध उड़ाओल की खंजन जोरा' की अपेक्षा विद्यापति का 'विमल कंचन कमल चढि जनु खेलु खंजन जोल' कहीं सुन्दर है। रमापति ने 'मनसिज' को व्याध बनाया है और उसके हाथ से युगल नयन रूपी खंजन का एक जोड़ा उड़वाया है। व्याध से मनसिज की उपमा तो अच्छी हुई है, परन्तु व्याध के हाथ से खंजन का जोड़ा उड़वाना अनावश्यक प्रतीत होता है; तथा इससे कविता में कोई विशेषता भी नहीं आती है। विशेषता तो तब आती जब व्याध कोई शिकारी पक्षी युव-जन चित्त-चकोर को पकड़ने के लिये उड़ाता। खंजन से आँख की उपमा, केवल उपमा की परम्परा गत परिपाटी का निर्वाह करने के लिये किया गया है। कवि रमापति इसमें कुछ 'अपना' नहीं दे सके। जब आपने 'मनसिज' को व्याध बनाया तब हम लोगों को यह आशा हुई थी कि कविवर रमापति अवश्य किसी नवीनता की सृष्टि करने जा रहे हैं। परन्तु उसके बाद का 'उड़ाओल की खंजन जोरा' वाला अंश पढकर हतोत्साह हो जाना पड़ा। अतः इस सूक्ष्म विश्लेषण के पश्चात् यह कहने के लिये हम बाध्य हो जाते हैं कि कविवर रमापति कविता-संसार को निज की कोई नई चीज़ देने के

लिये आगे तो बढे, परन्तु आगे बढने पर उनकी कल्पना-शक्ति शिथिल पड़ गई।

विद्यापति के 'विमल कञ्चन कमल चढि जनु खेल खंजन जोल' पद के भावों की परीक्षा करने पर यह जान पड़ता है कि उनकी खंजन से आँख की उपमा में भी कोई वैशिष्ट्य नहीं है। खंजन से आँख की उपमा एक पुरानी बात है। परन्तु 'खेल' शब्द वर्णित-भाव को सजीव बनाकर उसे मार्मिकता प्रदान करता है। विद्यापति कहते हैं कि राधा के युगल नेत्र उसके मुखारविन्द पर ऐसे दीख पड़ते हैं जैसे स्वच्छ स्वर्ण-कमल के ऊपर चढकर खंजन का एक जोड़ा खेल रहा हो। मेरी समझ में आँख का यह वर्णन अवश्य मार्मिक हुआ है। चंचलता खंजन का प्रकृति-सिद्ध गुण है, उसपर यदि वह खेलने में रत हो तो उसकी चंचलता कहाँ तक बढ जायगी इसका अनुमान मार्मिक पाठक स्वयं कर सकते हैं।

रमापति का 'पंकज कोरक निन्दक तसु उरसिज काँती, तैं जनि जलबसि अहोनिसि तप कर भल भाँती' और विद्यापति का 'अमर भूधर सन पयोधर महग्र मोतिम हार, जनि हेम निर्म्मित संभु शेखर गंग निर्म्मल धार' दोनों एक ही विषय का वर्णन है जो अपने अपने ढंग का सुन्दर है। रमापति के जंघ-वर्णन से विद्यापति का जंघ-वर्णन अधिक सुन्दर और मार्मिक हुआ है। विद्यापति ने बड़े ही चमत्कारिक ढंग से रमणी को मदन-मल्ल की व्यायामशाला बना कर उसके जंघे को 'बैठकी' करने के लिये सोने का खम्भा खड़ा कर दिया है!

विद्यापति और हर्षनाथ

कविवर हर्षनाथ झा महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह के राजकवि थे। आपके रचित 'उषाहरण' और 'माधवानन्द' दो नाटक हैं। प्रथम ग्रंथ तो आपने महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह को तथा दूसरा ग्रंथ उक्त महाराज के चचेरे भाई स्वर्गीय बाबू एकरदेश्वर सिंह को समर्पण किया था। आपके पद मधुर होते थे तथा आपके भाव भी स्थान-स्थान पर सुन्दर हैं। विद्यापति के व्यापक प्रभाव से आप भी अपने को बचा न सके। आप के भाव और भाषा पर विद्यापति की छाया स्पष्ट है। यथा—

विद्यापति—नाभि विवर सञो रोम लतावलि भुजग निसास पियासा।
नासा खगपति चंचु भरम भय कुच-गिरि संधि निवासा॥

हर्षनाथ—चललि रोमावलि भुजगि नाभि बिल लोचन खंजन त्रासे।
कुच-कंचन-गिरि निकट नुकाइलि नासा गरुड़ तरासे॥

विद्या—सगर सरीर कुसुम तुअ सिरिजल किए दहु हृदय पखाने।
हर्ष— सगर सरीर कुसुम सम तोर, ताहि उचित नहिं हृदय कठोर॥

विद्या—अरुण पुरुब दिसा बहलि सगर निसा गगन मगन भेल चन्दा।
मुदि गेलि कुमुदिनि तइओ तोहर धनि मूदल मुख अरविन्दा॥

हर्ष— दिवस विगत भेल रजनि उदय देल गगन निशाकर राज।
उड़ि गेल उडुगन तइओ ने परसन तुअ मुख मूनल आज॥

उद्धृत अवतरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हर्षनाथ अपने भाव और भाषा के लिये विद्यापति के ऋणी बन गये हैं।

अब हम दोनों कवियों का एक एक पद पाठकों के मनो-रञ्जनार्थ उद्धृत करते हैं।

ससन परसु खसु अम्बर रे, देखल धनि देह।
नव जलधर तर संचर रे, जनु बीजुरि रेह॥
आजु देखलि धनि जाइत रे, मोहि उपजल रंग।
कनकलता जनि संचर रे, महि निरअवलम्ब॥
ता पुन अपरुव देखल रे, कुच-युग अरविन्द।
विकसित नहिं किछु कारण रे, सोझा मुख चन्द॥
विद्यापति कवि गाओल रे, रस बुझ रस मंत।
देवसिंह नृप नागर रे, हाँसिनि देवि कन्त॥ —विद्यापति

आज देखल एक कमिनि रे, नव दामिनि देहा।
नील वसन लखि अवतरु रे, जनि जलद सन्देहा॥
विशद गिरिश नयनानल रे, जनि लज्जित चाने।
तसु मुख हेरि नहिं वर जन रे, सह निअ अपमाने॥
अमल कमल दल गंजन रे, लखि नयन विलासे।
जनि लज्जित भए खंजन रे, कर बिपिन निवासे॥
युव जन मानस हाटक रे, अनछुन कर चोरी।
तैं जनि कुच युग बान्हल रे, दृढ़ कंचुक डोरी॥
हर्षनाथ मन दय कह रे, नागरि अनुपामा।
पुरुव जनम तप देखल रे, लोचन अभिरामा॥—हर्षनाथ

दोनों पद्यों को पढ लेने के बाद कोई भी समालोचक कह सकता है कि हर्षनाथ की रचना विद्यापति के आधार पर ही हुई है। मिलाइये हर्षनाथ झा का—

"आज देखल एक कामिनि रे, नव दामिनि रेहा।
नील वसन लखि अवतरु रे, जनि जलद सन्देहा॥"

विद्यापति के—

"ससन परसु खसु अम्बर रे, देखल धनि देह।
नव जलधर तर संचर रे, जनु बिजुरी रेह॥"

का ही विश्रृङ्खल रूप है। विद्यापति के भाव-रत्न हर्षनाथ के पद में अस्तव्यस्त से दीखते हैं। विद्यापति की स्वर्ण की-सी कान्ति वाली नायिका के गौराङ्ग पर से हवा के झोंके से नीला 'अम्बर' खिसक पड़ता है। नील वसन अचानक गिर जाने से नायिका के शरीर की छटा विद्युल्लता के समान नेत्रों में चकाचौंध-सी पैदा कर देती है। विद्यापति की उपमा आँखों के सामने बादल के वक्षःस्थल को चीर कर बाहर फूट पड़ने वाली विद्युल्लता का चित्र लाकर उपस्थित कर देती है। परन्तु देखिये यही भाव-रत्न हर्षनाथ के द्वारा अपहरण के पश्चात् कैसा स्थान-भ्रष्ट एवं अस्तव्यस्त अवस्था में पड़ गया है। जहाँ विद्यापति नील अम्बर के भीतर से विद्युत् का फूट निकलना दिखलाते हैं वहाँ हर्षनाथ नील वसन रूपी जलद के भीतर ही अवतरित 'नव दामिनि रेहा' का दर्शन कराते हैं। बादलों के भीतर अवस्थित दामिनि को कोई देखता नहीं उसे तो लोग तभी देखते हैं जब वह बादल रूपी पट को हटा कर फूट पड़ती है।

इसके अतिरिक्त अन्य अनेक भावों का प्रदर्शन हर्षनाथ के पद में है जो विद्यापति के पद में नहीं मिलता है।

विद्यापति और अंग्रेजी कवि ।

कविता जीवन की अभिव्यक्ति है। जिस समाज का जीवन-श्रोत जिस दिशा में प्रवाहित होता रहता है, उस समाज की तत्कालीन कविता उसी पथ का अनुशरण करती है। प्राकृतिक एवं सामाजिक अवस्था का, देश और साहित्य के ऊपर, गहरा प्रभाव पड़ता है। अंग्रेजी साहित्य का आदर्श भारतीय साहित्य के आदर्श से भिन्न है। इस विभिन्नता का मूल-कारण हम उसी प्राकृतिक एवं सामाजिक परिस्थित को मानते हैं। इन दोनों समाजों के सामाजिक जीवन में जो स्वाभाविक वैषम्य है उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब दोनों समाज के साहित्य के ऊपर दिखाई पड़ रहा है। अंग्रेजी भाषा के कवियों का विषय-वर्णन करने का दृष्टि-कोण तथा उनकी वर्णन-शैली भारतीय कवियों से भिन्न है। इसलिए दोनों समाज के कवियों की कविताओं में भाव-प्रतिबिम्ब-भाव का अभाव-सा है। फिर भी, महान् कवियों के विशाल हृदय-मुकुर पर एक मात्र अपने देश अथवा समाज का ही नहीं; प्रत्युत् विस्तृत विश्व का, प्रतिबिम्ब पड़ता है। अतः यदि स्थान-स्थान पर उनके भाव मिलते पाये जाते हों तो इसमें आश्चर्य-चकित होने का कोई कारण नहीं। अंग्रेजी कवियों की कविताओं के अध्ययन के सिलसिले में हमें कुछ ऐसे भाव अवश्य मिले जो विद्यापति के भाव से मिलते-जुलते-से हैं। पाठकों के मनोरञ्जनार्थं कुछ ऐसे ही भावों का तुलनात्मक विचार हम उपस्थित करते हैं।

विद्यापति और शेक्सपियर

विश्वकवि शेक्सपियर को समस्त साहित्य-संसार जानता है। आप अंग्रेजी साहित्य–गगनाङ्गन के पूर्ण राका-शशि हैं। आप हृदय-साम्राज्य के एकछत्र सम्राट् और मनोविज्ञान के पारदर्शी विद्वान् गिने जाते हैं। आप कुशल कवि और उत्कृष्ट नाटककार थे। यद्यपि आपने स्फुट कविताओं की रचनायें की हैं, कुछ गीति-काव्य भी रचे हैं, तथापि आपकी यथार्थ ख्याति आपके नाटकों से है। आपने पात्रों का ऐसा चित्रण किया है कि वे सजीव-से जान पड़ते हैं। जिस तरह शेक्सपियर जीवन के सजीव चित्रण में सिद्ध हस्त थे उसी प्रकार विद्यापति प्रेम के क्रिया-कलाप तथा उस की आत्मा—सुन्दरता—के चित्रण में प्रवीण थे। शेक्सपियर की प्रसिद्ध *Venus and Adonis* नामक कविता में दो-एक भाव ऐसे मिले हैं जो विद्यापति के भाव से मिलते जुलते हैं। पाठकों के अवलोकनार्थ हम उन्हें आगे रखते हैं। एडोनिस की मृत्यु पर विनस विलाप करती हुई कह रही है।

Once more the engine of her thoughts began:
"O, fairest mover on this mortal round,
Would thou wert as I am, and I a man,
My heart all whole as thine, thy heart my wound;
For one sweet look thy help I would assure thee,
Though nothing but my body's bane would cure thee."

—शेक्सपियर

हरि मथुरा पुर गेल, आजु गोकुल शून भेल।
रोदति पिञ्जर शुके, धेनु धावइ मथुरा मुखे।
अव सोइ यमुना कूले, गोप गोपी नहिं वूले।
सायरे तेजव परान, आन जनमे होयव कान।
कानु होयव जव राधा, तव जानव विरहक वाधा।
विद्यापति कह नीत, तव रोदन होए समुचीत।—विद्यापति

दोनों महान् कवियों ने एक ही भाव का चित्रण किया है। दोनों नायिकाएँ वियोग-यातना को एक अरसे से सहती आ रही हैं। उनके प्रियतम उनकी सुधि क्यों नहीं लेते, आकर उनको संयोग-सुख से निहाल क्यों नहीं कर देते, इसकी उधेरबुन करती वे दोनों इस निर्णय पर पहुँचती हैं कि विरह वेदना की तीव्रता (टीस) कैसी होती है, इसे उनके प्रियतम अभी तक नहीं जान सके हैं। इसीलिए वे कहती हैं कि यदि उनके प्रियतम नारी होते और वे स्वयं प्रियतम होती तो उनके प्रियतमों को पता चलता कि विरह-वेदना क्या बला है। उन्हें पूरा विश्वास है कि एक बार के कटु अनुभव से ही उनके प्रियतम की आँखें खुल जायँगी और उन नायिकाओं को भविष्य में विरह-यातना नहीं भुगतनी होगी। दोनों महान् कवियों ने उत्कृष्ट प्रेम का प्रतिपादन किया है। परन्तु—

सायरे तेजव परान, आन जनमे होयव कान।
कानु होयव जव राधा, तव जानव विरहक वाधा।

इनमें जो वैशिष्ट्य है वह शेक्सपियर के इस पद में नहीं है—

Would thou wert as I am, and I a man,

My heart all whole as thine, thy heart my wound.

कारण इसका यह है कि शेक्सपियर की विनस जीते जी पुरुष में परिवर्त्तित हो जाना चाहती है और साथ ही यह भी चाहती है कि उसके प्रियतम इसी जन्म में स्त्री बनजायँ। विद्यापति की राधा को ऐसा होना सम्भव नहीं जान पड़ता। इसीलिए उसको इस भावना से सन्तोष नहीं हुआ। वह जानती है कि जिस कामना को लेकर कोई मरता है उस कामना की पूर्ति के लिये उसे जन्म ग्रहण करना पड़ता है। दूसरे, मरने पर वस्तु-स्थिति में अनेकों प्रकार के परिवर्त्तन हो सकते हैं। अतः वह कहती है कि वह सागर में धस कर प्राण त्याग करेगी। दूसरे जन्म में वह कृष्ण बनेगी, कृष्ण राधा बनेगा और जब कृष्ण का जन्म राधा हो कर होगा तब उसे मालूम होगा कि विरह की व्यथा कैसी होती है। इस विचार में राधा को सन्तोष की बहुत-कुछ सामग्री दिखाई पड़ती है। दूसरे, जहाँ शेक्सपियर की विनस कोई साधारण पुरुष में परिवर्त्तित होना चाहती है वहाँ विद्यापति की राधा स्वयं कृष्ण होना चाहती है। '*and I a man*' से 'होयब कान' में प्रेम की तल्लीनता है, एकान्तता है। राधा, कृष्ण-प्रेम में इतनी तल्लीन है कि उसकी भावना की परिधि का प्रत्येक विन्दु कृष्ण है। विद्यापति का यह उत्कर्ष शेक्सपियर की कविता में नहीं है।

शेक्सपियर की एक दूसरी कविता को देखिये—

"*O, where am I?" quoth she; "in earth or heaven,*
Or, n the ocean drench'd, or in the fire?
What hour is this? or morn or weary even?
Do I delight to die, or life desire?
But now I lived, and life was death's annoy;
But now I died, and death was lively joy."

इस भाव से कुछ-कुछ मिलता हुआ विद्यापति का पद इस प्रकार है—

एत दिन हृदय हरख छल आवे सब दुर गेल रे।
राँकक रतन हेड़ाएल जगतेओ सुन भेल रे।
विहि निरदय कोने दोसें दहुँ देल दुख मन मध रे।
मन कर गरल गरासिए पाप आतम बध रे।
जीवन लाग मरन सन मरन सोहावन रे।
मोर दुख के पतिआएत सुनह विरहि जन रे।
विद्यापति कह सुन्दरि मन धीरज धरु रे।
अचिर मिलत तोर प्रियतम मन दुख परिहरु रे।

दोनों पदों में एक ही भाव का चित्रण है। दोनों नायिकाएँ विरह की मर्मान्तिक वेदना को सहते-सहते अपने जीवन से ऊब गई हैं। दोनों को अपना जीवन दुःखमय और भार हो गया है। वे सोचती हैं कि यदि अवशिष्ट जीवन विरह की विकट वेदना से भरा ही रहेगा और संयोग-सुख की आशा अब नहीं है तो फिर प्रेम-धन के बिना इस अर्थ-रहित जीवन

को विसर्जित करने ही में सुख है। विरह-वेदना की तीव्रता इतनी बढ़ गई है कि उनके दुःख से जर्जर प्राण को मृत्यु—जो औरों के लिये महा भयङ्कर है—अत्यन्त सुखद तथा सुन्दर दिखलाई पड़ती है। दोनों कवियों के भाव तो एक हैं; परन्तु वर्णन-शैली पृथक् है।

शेक्सपियर की प्रेमोन्मादिनी विनस अपने प्राणाधार एडोनिस की मृत्यु पर विलाप कर रही है। वह विरह-वेदना सहते-सहते बड़ी व्याकुल हो गई है। उसे यह पता नहीं चलता कि वह कहाँ है, संसार के किस स्थान पर है। वह कहती है "*Where am I*" अर्थात् मैं कहाँ हूँ? मैं पृथ्वी पर हूँ अथवा स्वर्ग में? मैं समुद्र में डूब रही हूँ अथवा आग में जल रही हूँ? इतना ही नहीं, वह अपने प्रियतम से पुनर्मिलन की चिन्ता में ऐसी डूबी हुई है कि उसे पता नहीं चलता कि कौन-सा समय वीत रहा है—सुबह है अथवा शाम? ऐसा प्रतीत होता-मानो वाह्य संसार से उसका सम्बन्ध ही छूट गया है। वेदना इतनी वढ़ी हुई है कि वह प्रलाप की जननी हो गई है। संसार उसको कुछ-कुछ सूना-सा दिखाई पड़ने लगा है। शेक्सपियर की नायिका के मन में विरह-वेदना के इस तीव्रातिरेक में भी '*Do I delight to die or life desire?*' अर्थात् आनन्द मृत्यु में, है या जीवन धारण में, यह प्रश्न उठता है। अभी तक जीवन और मृत्यु का द्वन्द्व मचा हुआ है। हाँ, जब वह इस प्रश्न के विचार में आगे वढ़ती है तो उसकी वेदना तीव्रतम हो उठती है; संघर्ष का

अवसान होता है और इस प्रश्न का निर्णय "*Death was lively joy*" के पक्ष में होता है, अर्थात् उसे मृत्यु ही में आनन्द दीखता है। विद्यापति की नायिका के हृदय में ऐसे किसी द्वन्द्व का आभास-मात्र भी नहीं है। जीवन-धन खो जाने से प्रेम की भिखारिणी, रंकिनी राधा की अन्तर्वेदना इतनी असह्य हो उठी कि 'मरण सोहावन रे' इस निर्णय पर पहुँचने के लिये उसे किसी संघर्ष का सामना नहीं करना पड़ा है। यह निर्णय तो उसके लिये स्वयंसिद्ध-सा है। जहाँ शेक्सपियर की विनस के प्रलाप से यह अनुमान होता है, कि उसको संसार कुछ-कुछ सूना-सा दिखलाई पड़ता है, वहाँ विद्यापति की राधा साफ शब्दों में कहती है कि 'रतन' खोजाने से वह राँक (रंकिनी) ही न केवल बिलकुल रीती होगई है वरन् जगत् भी सूना हो गया है; कारण, रंकिनी राधा का वह 'रतन' ही ऐसा मूल्यवान् है।

विद्यापति का यह भाव-चित्रण शेक्सपियर से अधिक सुन्दर हुआ है। इसका कारण यह है कि विद्यापति की राधा को अपने प्रियतम की अनुपस्थिति में सब ओर सूना-ही-सूना दिखलाई पड़ता है और वह अपने को महाशून्य के बीच में पाती है। प्रियतम विहीन नारी-जीवन की उपमा महाशून्य से देनेवाले महाकवि विद्यापति धन्य हैं!

विद्यापति और शेली

शेली अंग्रेजी साहित्य के एक अत्यन्त उग्र क्रान्तिकारी कवि हो गये हैं। आप की कल्पना की ऊँची एवं सुन्दर

उड़ान देखकर साहित्यिकों को मुग्ध रह जाना पड़ता है। आपकी कल्पना स्वप्न-साम्राज्य में, नहीं, आकाश-मार्ग में, विचरण करती है। इसी से समालोचक आपको व्योमचारी कहते हैं। यह कहने में हमें तनिक भी संकोच नहीं कि आपकी कल्पना विद्यापति की कल्पना से अधिक व्यापिनी है। शेली की रचना विद्यापति की तरह शृङ्गार-प्रधान नहीं है, फिर भी स्थान-स्थान पर दोनों महान् कवियों की रचनाओं में कुछ ऐसे भाव पाये जाते हैं जो बिम्ब-प्रतिबिम्ब से हैं। यथा–

For pale with anguish is his cheek,
This breath comes fast, his eyes are dim,
Thy name is struggling ere he speak,
Weak is each trimbling limb ;
In mercy let him not endure
The misery of a fatal cure. —शेली

तोहर विरह वेदन बाउर सुन्दर माधव मोर
खने अचेतन खने सचेतन खने नाम धरु तोर॥
रामा हे तो बड़ कठिन देह।
गुन अपगुन न बुझि तेजलि जगत दुलह नेह॥
तोहर कहिनी कहइते जागय सुतय देखय तोय।
ए घर बाहिर धैरज नहिं धर पंथ निरखि रोय॥
कत परिबोधि न माने रहसि न कर भोजन पान।
काठ मूरति ऐसन अछय कवि विद्यापति भान॥

—विद्यापति

दोनों पद्यों में नायिका के विछोह से व्याकुल नायक की दयनीय दशा का चित्रण है। शेली के नायक वियोग की मानसिक यातना सहते-सहते ऐसे होगये हैं कि उनका कपोल पीला पड़ गया है, उनकी साँसें तेजी से चल रहीं हैं, उनकी नेत्र-ज्योति धीमी पड़ गई है। प्रियतमा का नाम भी वे कठिनता से ले सकते हैं। दुर्बलता के कारण उनके अंग-अंग काँप रहे हैं। परन्तु विद्यापति के कृष्ण विछोह की यातना तथा उसके घात-प्रतिघात सहते-सहते पागल हो गये हैं। वे सूख कर काठ-से हो रहे ह ; उनके दुर्बल जीवन-तन्तु के लिये विरह-यातना इतनी असह्य हो उठी है कि वे संज्ञा-हीन-से हो रहे हैं। उनके प्राण चेतनता और अचेतनता के बीच पड़े हुए चीख रहे हैं। अतः 'खने अचेतन खने सचेतन' कह कर विद्यापति ने कृष्ण की जिस कारुणिक अवस्था का वर्णन किया है वह शेली में नहीं है। हाँ, 'खने नाम धरु तोर' से '*Thy name is struggling ere he speak*' अधिक दयनीय दशा का द्योतक है; क्योंकि *Struggling* शब्द में जो शारीरिक दुर्वलता का कारुणिक चित्र है वह 'धरु' मे कदापि नहीं है।

Her voice did quiver as we parted,
Yet knew I not that heart was broken
From which it came, and I departed
Heeding not the words then spoken.
Misery—O misery,
This world is all too wide for thee. —शेली

रामा हे से किय बिसरल जाइ ।
करे धरि माथुर अनुमति मगइते ततहि पड़लि मुरछाइ ॥
किछु गद गद सरे लहु लहु आखरे जे किछु कहल वर रामा।
कठिन कलेवर तेञि चलि आओल चित्त रहल सोइ ठामा ॥–विद्यापति

दोनों की कविताओं में प्रवासी नायक की उक्ति है। प्रयाण के समय जब नायक ने बिदा माँगी तब उसकी नायिका कैसी दुःखाभिभूत हो उठी इसीका वर्णन दोनों पद्यों में किया गया है। शेली कहते हैं कि जब नायिका से नायक बिदा होने लगा तब नायिका का हृदय टूक-टूक हो गया और उसका स्वर काँपने लगा अर्थात् वह सिसक-सिसककर कुछ कहने लगी। शेली की नायिका की अवस्था, भावी वियोग को सामने देखकर, सचमुच बहुत कारुणिक हो गई है; परन्तु विद्यापति की तत्कालीन राधा का चित्रण शेली से कहीं अधिक करुणोत्पाक है। पहली बात तो यह है कि 'करे धरि माथुर अनुमति मगइते' में जो करुण भाव है वह '*as we parted*' में कतई नहीं है। प्रयाण के समय हाथ पकड़ कर बिदा माँगना निस्सीम प्रेम का तथा नायक की वियोग जनित भावी वेदना का द्योतक है। इतना ही नहीं, इस प्रेम तथा शोक-प्रदर्शन से यह आशा रहती है कि इससे नायिका को यत्किञ्चित सान्त्वना मिलेगी। अतः अत्यन्त आसन्न वियोग के पहले हाथ धरकर विदा माँगने में प्रेम का प्रदर्शन वड़ा ही करुणोत्पादक है। इससे विद्यापति की उत्कृष्ट कला-कुशलता का परिचय मिलता है। दूसरा

भाव जिसमें विद्यापति शेली से उत्कृष्ट जँचते हैं, वह यह है कि शेली भावी वियोग की व्यथा से व्याकुल नायिका के विषय में इतना ही कहते हैं कि '*Heart was broken*' अर्थात् उसका दिल टूट गया। इससे उस नायिका की आन्तरिक वेदना का आंशिक आभास मिलता है। परन्तु विद्यापति की नायिका के लिये भावी विरह की व्यथा इतनी असह्य हो उठी कि वह 'ततहि परलि मुरछाइ'। इसमें नायिका की आन्तरिक वेदना भीतर से उमड़कर बाहर भी फूट पड़ी है। जहाँ शेली की नायिका के लिये भावी-विरह कुछ अंशों तक सह्य है वहाँ विद्यापति की नायिका के लिये वह बिल्कुल असह्य है। अब रह गई '*Her voice did quiver*' की बात, सो इस भाव के प्रतिपादन में भी विद्यापति शेली से आगे हैं। इसका कारण यह है कि शेली इतना ही कहते हैं कि नायिका का स्वर काँप रहा था। परन्तु विद्यापति कहते हैं कि 'किछु गद गद सरे लहु लहु आखरे जे किछु कहल वर रामा' अर्थात् उसकी आवाज़ अत्यन्त धीमी पड़ गई थी तथा लड़खड़ा रही थी। गहरी चोट खाकर मूर्च्छित होने के बाद आवाज़ का धीमी पड़ जाना तथा लड़खड़ाना अत्यन्त स्वाभाविक है, तथा विद्या-पति की कला-कुशलता का प्रमाण है।

विद्यापति और कीट्स

कीट्स अंग्रेजी भाषा के एक अत्यन्त अल्पवयस्क महान् प्रतिभाशाली कवि थे। आपकी कविता के उत्कर्ष एवं महत्ता

की चर्चा करते हुए अंग्रेजी साहित्य के मान्य सफल समालोचक एवं कवि Matthew Arnold ने अपने प्रसिद्ध समालोचनात्मक ग्रन्थ 'Essays in Criticism' में लिखा है कि '*He is, he is with Shakespear*' अर्थात् आप, आप शेक्सपियर के समकक्ष हैं। आपका लिखा *Endymion* नामक एक महाकाव्य है। उस के दूसरे सर्ग की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार है—

\+ + + *but rather tie*
Large wings upon my shoulders, and point out
My love's far dwelling. + + +

विद्यापति की विरहाकुल राधा के हृदय में भी यही भावना उठती है। राधा कहती है—

पाखी यदि होइतहुँ पिया पास जइतहुँ दुख कहितहुँ तसु पास।
आनि देइ मोर पिउ राखे हमर जिउ के से करुणावान।

दोनों पदों में विरहाकुल प्रोषितपतिका के प्रिय-मिलन की उत्कट अभिलाषा का चित्रण है। दोनों नायिकाएँ चाहती हैं कि उड़कर अपने प्रियतम के पास पहुँच जाँय। उड़ने के लिये कीट्स की नायिका पर (*wings*) बँधवाना चाहती है और विद्यापति की राधा स्वयं पक्षी बनना चाहती है। कीट्स की नायिका यह नहीं सोंचती कि कितना भी बड़ा पर कोई बँधवाले, परन्तु वह पक्षी की तरह उड़ नहीं सकता। विद्यापति की नायिका जानती है कि कृत्रिम पंख से काम चलने का नहीं। वह चाहती है कि स्वयं पक्षी बन जाँय, क्योंकि वह देखती है कि पक्षी उन्मुक्त वायु के वक्षःस्थल

को चीरकर अपने लक्ष्य-स्थान तक पहुँच जाता है। इससे जान पड़ता है कि विद्यापति की नायिका के प्राण, प्रिय-मिलन के लिये, कोई ऐसा यान चाहते हैं, जो उन्हें प्रियतम के पास निस्सन्देह पहुँचा सके। वह ऐसी किसी चीज का आश्रय लेना चाहती है जिसकी वहन-क्षमता में सन्देह न हो; क्योंकि वह प्रिय-मिलन के लिये अत्यन्त व्याकुल है। इसीलिए "*rather tie large wings upon my shoulders*" अर्थात् मेरे कन्धे पर बड़ा-सा पर बाँध दो से 'पाखी यदि होइतहुँ' कहीं विदग्धत्तापूर्ण व्याकुलता का द्योतक है। हाँ, कीट्स का '*loves far dwelling*' अवश्य मार्मिक है।

अब हम कीट्स की Psyche (साइकी) नाम की कविता के कुछ चरण उद्धृत करते हैं—

Their arms embraced, and their pinions too;
Their lips touch'd not, but had not bade adieu,
As if disjoined by soft-handed slumber,
And ready still past kisses, to outnumber.

इस भाव के विम्ब-प्रतिविम्ब भाव हमलोग विद्यापति के निम्न लिखित गीत में पाते हैं—

सुरत समापि सुतल वर नागर पानि पयोधर आपी।
कनक सम्भु जनि पूजि पुजारी धएल सरोरुह झाँपी।
सखि हे माधव केलि विलासे।
मालति रमि अली नाइँ अगोरसि पुनु रति-रंगक आसे।

वदन मेराए धएलन्हि मुख मण्डल कमल मिलल जनि चन्दा।
भमर चकोर दुअओ अरसाएल पीबि अमिअ मकरन्दा।
भनइ अमीकर सुनइ मथुरापति राधा चरित अपारे।
राजा शिवसिंह रूपनराअन सुकवि भनथि कण्ठहारे। *

दोनों कवियों की कविताओं में सुरतान्त दृश्य का वर्णन है। सुरति-संभोग के पश्चात् अलसता एवं पुनः रसपान की अमिट प्यास का वर्णन दोनों पदों में उत्तम हुआ है। दोनों कवि इस विषय में एक ही निर्णय पर पहुँचे हैं, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं। हाँ, उसके चित्रण के लिये दोनों कवियों ने जिन-जिन भावों की सहायता ली है, उनमें कहीं-कहीं भिन्नता दिखाई पड़ती है। दोनों कवियों के भाव विश्लेषण से यह कहना पड़ता है कि विद्यापति के 'पानि पयोधर आपी' से कीट्स के *Their arms embraced* में कहीं अधिक तन्मयता है। "*ready still past kisses to outnumber*" तथा 'मालति रमि अलि नाइँ अगोरसि, पुनि रति रंगक आसे' में रसपान के पश्चात् फिर-फिर रसास्वाद की जो अभिलाषा अभिव्यञ्जित होती है वह विद्यापति की अपेक्षा कीट्स में अधिक है। '*past kisses to outnumber*' में जो जाग्रत आवेग है वह 'पुन रति-रंगक आसे' में करीब करीब म्रियमाण मालूम होता है। कीट्स के प्रेमी-प्रेमिका जितने प्रेम-विभोर दीख पड़ते हैं उतने विद्यापति के नहीं।

---

* लोचन की 'रागतरंगिणी' के अनुसार राजा शिवसिंह के मंत्री अमृतकर कायस्थ की यह रचना है।

फिर भी 'सुतल', 'अगोरसि', 'अरसापल' शब्द विद्यापति की कविता में वर्णित अलस-भाव को कीट्स की अलसता से अधिक प्रगाढ़ बना देते हैं। दोनों पद्यों की आलोचना के विषय में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि दोनों महान् कवियों ने जिस भावमय भाषा का उपयोग किया है, उससे अलसता, तृप्ति और तृप्ति से प्रादुर्भूत अतृप्ति टपक-सी रही है।

कीट्स की Isabella नाम की कविता के दो चरण नीचे दिये जाते हैं। कवि इसाबेला के प्रति Lorenzo (लोरेंजो) के प्रेम का वर्णन करते हुए कह रहा है—

He might not in house, field, or garden stir,
But her full shape would all his seeing fill;

ठीक इसी तरह की बात राधा के प्रति कृष्ण के प्रेम का वर्णन करती हुई दूती राधा से कहती है—

आसाजे मन्दिरे निशि गमावय सुखे न सूत सयान।
जखने जतए जाहि निहारए ताहि ताहि तोहि भान॥

कीट्स का भाव यह है कि भले ही नायक घर अथवा फुलवारी में न घूमे; परन्तु उसकी आँखें जितनी चीजों पर पड़ती हैं सभी नायिका की पूरी आकृति से भरी हैं। विद्यापति भी यही कहते हैं। आपका कहना है कि मिलन की आशा में ही नायक की रात कटती है। इसीसे उन्हें रात में सुख की नींद नहीं आती। आशा की मृग-मरीचिका के कारण नायक जिस-जिस स्थान पर जिस-किसीको देख लेता है उसीमें उसको नायिका ही प्रतीत होती है। दोनों कवियों

का मुख्य भाव एक ही है। केवल उस भाव का वर्णन भिन्न-भिन्न रूप से किया गया है। इसी भाव में अमरुक कवि ने क्या सुन्दर चमत्कार ला दिया है, अवलोकन करें—

प्रासादे सा दिशि विदिशि सा पृष्टतः सा पुरः सा।
पर्य्यङ्के सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य।
हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा-सा।
सा-सा-सा-सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः॥

विद्यापति और मिसेज़ ब्राउनिङ्ग

मिसेज़ ब्राउनिङ्ग एक अत्यन्त प्रतिभाशालिनी कवियित्री हो गई हैं जिनकी सुन्दर भावपूर्ण कविता साहित्य का श्रृङ्गार है। रोसीटी ने '*unparalleled poetess*' अर्थात् अद्वितीय कवियित्री कहकर इनकी प्रशंसा की है। आपके पति कविवर रौबर्ट ब्राउनिङ्ग भी अंग्रेजी साहित्य के जगमगाते रत्न थे। रौबर्ट ब्राउनिङ्ग के लिये यह परम सौभाग्य की बात थी—जैसा कि संसार में दुर्लभ है—कि आपको मिसेज़ ब्राउनिङ्ग की सी परम विदुषी और प्रथम श्रेणी की कवियित्री स्त्री रूप में मिली। मिसेज़ ब्राउनिङ्ग का भाग्य भी अत्यन्त सराहनीय है क्योंकि उन्होने अपने प्रियतम की गोद में ही प्राण विसर्जन किये। मिसेज़ ब्राउनिङ्ग की श्रृङ्गारिक रचनाएँ अत्यन्त सुन्दर हैं, उनके कुछ भाव विद्यापति के भाव से मिलते जुलते हैं। The Romaunt of Margret में मिसेज़ ब्राउनिङ्ग की एक कविता इस प्रकार है—

The night is her hair,
And giveth shade to shade ;
And the pale moonlight on her forehead white
Like a spirit's hand is laid.

इसी भाव का विद्यापति-रचित एक गीत इस प्रकार है—

चिकुर निकर तम सम पुनु आनन पुनिम ससी।
नयन पङ्कज के पतिआओब एक ठाम रहु बसी॥
आजे मोञे देखलि वारा।
लुबुध मानस चालक मञन कर की परकारा॥

मिसेज़ ब्राउनिङ्ग के दो चरणों में जो भाव है, उसको विद्यापति ने केवल 'चिकुर निकर तम सम' में व्यक्त किया है। मिसेज़ ब्राउनिङ्ग के तीसरे चरण का भाव विद्यापति के 'आनन पुनिम ससी' में कहीं उत्तमता पूर्वक व्यक्त हुआ है। क्योंकि मुख की कान्ति की उपमा मिसेज ब्राउनिङ्ग *'pale moonlight'* या धूमिल-चद्रिका और विद्यापति 'पुनिम ससी' से देते हैं। धूमिल-चन्द्रिका और 'पुनिम ससी' में कितना अन्तर है, मर्मज्ञ पाठक स्वयं निर्णय करें।

मिसेज़ ब्राउनिङ्ग ने चौसर की Queen Annelida and False Arcite नामक कविता का आधुनिक रूप देती हुई Queen Annelida का विरह-वर्णन निम्नाङ्कित पद में कितना सुन्दर किया है—

She weepeth, waileth, swooneth piteously ;
She falleth on the earth, dead as stone ;

Her graceful limbs are cramped convulsively ;
She speaketh out wild, as her wits were gone.
No colour, but an aspen paleness—none—
Touched cheek or lips; and no word shook their white,
But "Mercy, cruel heart! mine own Arcite!"

विद्यापति ने भी सखी के द्वारा राधा की विरहावस्था के वर्णन में इसी भाव का प्रतिपादन किया है। राधा की सखी कृष्ण से कहती है—

नदि बह नयनक नीर, पड़लि रहए तहि तीर॥
सब खन भरम गेआन, आन पुछिअ कह आन॥
माधव अनुदिने खिनि भेल राहि, चौदसि चान्दहु चाहि॥
केओ सखि रहलि उपेखि, केओ सिर धुनि धुनि देखि॥
केओ सखि परिखइ श्वास, मने धउलिहु तुअ पास॥
विद्यापति कवि भानि, एत सुनि सारङ्ग पानि॥
हरखि चलल हरि गेह, सुमरिए पुरुब सिनेह॥

दोनों पद्यों में विरह-विदग्धा नायिका का वर्णन है। विद्यापति के वर्णन में विरह की व्याकुलता जिस मात्रा में पाई जाती है, उसी मात्रा में मिसेज़ ब्राउनिङ्ग की कविता में नहीं; परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि उनकी कविता निकृष्ट है। हाँ, '*weepeth, waileth and swooneth pitiously*' से 'नादि वह नयनक नीर, पड़लि रहए तहि तोर' सुन्दर है। '*Her graceful limbs are cramped convulsively*' अर्थात् उसके सुकुमार अंग प्रत्यंग की मरोर की व्यथा में जो

भाव ब्राउनिङ्ग ने व्यक्त किया है वह विद्यापति ने नहीं। '*She speaketh out wild as her wits were gone*' में जिस विरह-जन्य-प्रलाप का वर्णन है, उसी प्रलाप के वर्णन को विद्यापति ने 'सब खन भरम गेयान, आन पुछिये कह आन' में व्यक्त किया है। जिस अवस्था का वर्णन मिसेज़ ब्राउनिङ्ग *aspen paleness* कह कर करती हैं, उसे विद्यापति ने 'चौदसि चान्दहु' लिखकर व्यक्त किया है।

मिसेज़ ब्राउनिङ्ग ने अपनी Catarina to Comoens नामक कविता में एक स्थान पर लिखा है—

On the door you will not enter,
I have gazed too long–adieu!
Hope withdraws her peradventure—
Death is near me and not you!
Come, O lover,
Close and cover
These poor eyes, you called, I ween,
"Sweetest eyes were ever seen."

विद्यापति के इस भाव का एक पद इसी ग्रन्थ में अन्यत्र पृ० ११० में एक वार उद्धृत हो चुका है। फिर उसको यहाँ उद्धृत करना व्यर्थ प्रतीत होता है। पाठक वर्ग कृपया वहीं देखने का कष्ट करें।

दोनों विरहाकुल नायिकाएँ, अपने-अपने प्रियतम की चिर-दिन से प्रतीक्षा करती हुई, उस सीमा पर पहुँच गई हैं, जब चिर प्रतीक्षा निराशा में परिणत होने लगती है और आशा-

तन्तु टूटते ही ऐसा मालूम पड़ने लगता है कि अब प्राण-पखेरू उड़ जायँगे। विद्यापति ने इस अवस्था का वर्णन मिसेज़ ब्राउनिङ्ग की अपेक्षा कहीं सुन्दर और मार्मिक किया है। मिसेज़ ब्राउनिङ्ग की नायिका एक लम्बे अरसे से किवाड़ की ओर देख रही है। पर विद्यापति की नायिका के 'लोचन धाय' कर थक-से जाते हैं। इसलिए '*I have gazed too long*' से 'लोचन धाए फेधाएल' कहीं सुन्दर है। '*Death is near me and not you*' पढ़ने से मृत्यु जितनी सन्निकट विदित होती है, उससे कम 'शिव शिव जिवओ न जाय आसे अरुझाएल रे' में नहीं है। पर 'आसे अरुझाएल' कहकर विद्यापति ने उत्कृष्ट कला को दर्शाया है। विद्यापति की राधा के प्राण निकलने में कुछ भी बाधा नहीं है। वे केवल आशा में इस बुरी तरह उलझे हुए हैं कि हजार प्रयत्न करने पर भी राधा उन्हें सुलझाकर त्याग देने में समर्थ नहीं होती। विरह-विदग्ध प्राणों को आशा की इस उलझन में उलझाकर रखने में कवि ने सचमुच कलाबाजी और मर्मज्ञता का परिचय दिया है।

विद्यापति और बायरन

बायरन अंग्रेजी भाषा के एक प्रसिद्ध कवि हो गये हैं। अंग्रेजी साहित्य में एक युग ऐसा आया था जब बायरन की लोक-प्रियता के कारण अंग्रेजी के महान्-से-महान् कवि फीके पड़ गये थे। शृङ्गारिक कविता-रचना में आप कुशल थे। विद्यापति की तरह आप की भी कुछ कविताएँ अश्लील कही जाती हैं, फिर भी, आपकी रचना चाव के साथ पढ़ी जाती है।

वायरन की शृङ्गारिक रचनाओं में Don Juan नामक काव्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसी काव्य के दूसरे सर्ग में एक जगह उन्होंने यह पद लिखा है—

They look upon each other, and their eyes
Gleam in the moonlight; and her white arm clasps
Round Juan's head, and his around her lies
Half buried in the tresses which it grasps;
She sits upon his knee, and drinks his sighs,
He hers, until they end in broken gasps;
And thus they form a group that's quite antique,
Half naked, loving, natural and Greek. *

इसके कुछ भाव विद्यापति के निम्नोद्धृत पद में हमें मिलते हैं—

चिर दिने से विहि भेल अनुकूल रे, दुहु मुख हेरइते दुहु से आकुल रे॥
बाहु पसारिया दुहे दुहुँ धरु रे, दुहु अधरामृते दुहु मुख भरु रे॥
दुहु तनु काँपइ मदन उछल रे, कि कि कि करि किङ्किणी रुचल रे॥
जतहि स्मित नव वदन मिलल रे, दुहु पुलकावलि ते लहु लहु रे॥
रसे मातल दुहु वसन खसल रे, विद्यापति कह रससिन्धु उछलल रे॥

दोनों कवियों के भाव एक हैं। चिर-वियोग के पश्चात् प्रेम-विभोर हो नायक-नायिका के सुखद-सम्मिलन का वर्णन दोनों पदों में बहुत सुन्दर और सरस है। दोनों पदों में प्रेम

* Like a naked bride,
Glowing at once with love and loveliness,
Blushes and trembles at its own excess: —Shelley

की प्रगाढ़ता उस सीमा तक पहुँच चुकी है जिसके अनन्तर तल्लीनता और तल्लीनता के पश्चात् आत्म-विस्मृति है। विद्यापति की कविता में एक और अत्यन्त सुन्दर भाव है। जहाँ बायरन प्रेम में आत्म-विस्मृति की यत्किंचित् छाया देखते हैं वहाँ विद्यापति 'रसे मातल' पद में आत्मा और परमात्मा के बीच में जितने व्यवधान और बाधाएँ हैं सब के दूर हो जाने से उनके एकीकरण को और तत्पश्चात् 'रससिन्धु' में पूर्णलय को प्रत्यक्ष देखते हैं। रससिन्धु में पूर्णलय का चित्रण कर दर्शन के निगूढ़ (*Abstract*) तत्व को प्रत्यक्ष (*Concrete*) करा देना विद्यापति का काम है जिसका बायरन में अभाव है। अन्तिम चरण के द्वारा विद्यापति ने मानव-प्रेम का आध्यात्मिक मूल्य समझाया है। यहाँ तो रवीन्द्र का 'प्राणेर मिलन मागे देहेर मिलन' की ही स्पष्ट व्याख्या है।

चिरदिन की तपस्याएँ, जीवन की युग-युग की आराधनाएँ आज सफल हैं। चिर-वियोग के पश्चात् आत्मा और परमात्मा का सुखद्-संयोग हुआ है। प्रकृति और पुरुष के पुर्ण-मिलन की लीलाओं की झाँकी दिखा, फिर लीला संवरण करा अन्त में दोनों का एकीकरण होकर परमानन्द के अनन्त-समुद्र में पूर्णलय हो जाना किस सुन्दरता पूर्वक विद्यापति ने चित्रित कर दिया है, पाठक अवलोकन करें। बायरन की तो बात ही छोड़ दीजिये, अंग्रेजी के कोई भी कवि,—हम दावे के साथ कह सकते हैं कि—शेक्सपियर और मिल्टन भी—मानव-प्रेम के निगूढ़ एवं अन्तरतम रहस्य का ऐसा सुन्दर अथच

कल्याणकर उद्घाटन और प्रतिपादन नहीं कर सके हैं। विद्यापति के वे समालोचक, जो उनकी कविता में शरीर का अंश अधिक पाते हैं, इस गीत को शान्त चित्त से पढ़ें और मनन करें। ऊपर से देखने पर तो निश्चय ही इसमें भी शरीर का अंश अधिक दिखाई पड़ता है, परन्तु 'नेरे नैनन ह्वै' यदि कोई देखे तो उसे साफ पता चल जायगा कि यह जीवन ही महा-मिलन-मन्दिर है, इसी शरीर के भीतर आत्मा और परमात्मा का संयोगजन्य परमानन्द लहरा रहा है। इस पद में आत्मा और परमात्मा का पारस्परिक आत्म-समर्पण है, पूर्ण-मिलन है, लय है। इस पूर्णलय में दुःख, दैन्य, लज्जा, वाधा सब तिरोभूत हैं। इस अवस्था में सब कुछ सुन्दर-ही-सुन्दर है, आनन्द-ही-आनन्द है।

> लाज मुक्त वास मुक्त दूटि नग्न प्राण।
> तोमाते आमाते होइ असीम सुन्दर।—रवीन्द्र—पूर्ण-मिलन

यदि अब भी किसी समालोचक को विद्यापति की कविता में अश्लीलता दिखाई पड़े तब हम यही कहेंगे कि हमलोग अन्धकार में टटोल रहे हैं।

वायरन के एक दूसरे पद को देखिये—

> *I dreamt last night our love return'd,*
> *And, sooth to say, that very dream*
> *Was sweeter in its phantasy,*
> *Than if for other hearts I burn'd*
> *For eyes that ne'er like thine could beam*
> *In rapture's wild reality.* —बायरन

सपने आएल सखि मझु पिया पासें, तखनुक कि कहब हृदय हुलासे ॥
न देखिअ धनु गुन न देखु सन्धाने, चौदिस परए कुसुम शर बाने ॥
बङ्क विलोचन विकसित थोरा, चाँद उगल जनि समुद्र हिलोरा ॥
उठलि चेहाए आलिङ्गन वेरी, रहलि लजाए सूनि सेज हेरी ॥
भनहिं विद्यापति सुनह सपने, जत देखलह तत पुरतोह मने ॥

—विद्यापति

दोनों कविताओं में वियोगिनी नायिकाओं का प्रियतम से स्वप्न-दर्शन का वर्णन है। *'I dreamt last night our love return'd'* में जो भाव है ठीक वही भाव 'सपने आएल सखि मझु पिया पासे' में है। *'And, sooth to say, that very dream Was sweeter in its phantasy'* तथा 'तखनुक की कहब हृदय हुलासे' में एक ही भाव का प्रतिपादन है। यद्यपि 'हुलास' में जो उल्लास भरा हुआ है, वह *'sweeter'* में नहीं है। इसके अतिरिक्त 'बङ्क विलोचन विकसित थोरा, चान्द उगल जनु समुद्र हिलोरा' में जिस चित्र को विद्यापति ने चित्रित किया है वह बायरन के *'For eyes that ne'er like thine could beam In rapture's wild reality'* में नहीं है।

बायरन और विद्यापति का एक एक पद और अवलोकन करें–

When we two parted
In silence and tears,
Half broken-hearted
To sever for years,

Pale grew thy cheek and cold,
Colder thy kiss;
Truly that hour foretold
Sorrow to this. —वायरन

विछोह विकल भेल दुहुक परान, गर गर अन्तर झरए नयान।
दुहु मने मनसिज जागि रहू, तिल विसरन नहँ केहु काहू।
निशवदे सूतल नीन्द नहिं भाय, वियोग बियाधि विथारल गाय।
दुहुक दुसह नेह दुहु भल जान, दुहु जन मिलने मधथ पचवान।
कवि शेखर जान यह रस रंग, परवस प्रेम सतत नइ भंग। —विद्यापति

दोनों कविताओं में वियोग का वर्णन है। दोनों को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह पता चलता है कि यद्यपि दोनों कवियों की रचनाएँ सुन्दर और करुण भाव से भरी हुई हैं, फिर भी विद्यापति की रचना वायरन से सुन्दर है। इसका कारण यह है कि '*When we two parted, In silence and tears*' में वायरन ने केवल नायिका के वाह्य जगत् को दिखलाया है; परन्तु विद्यापति जब इसी भाव को 'विछोह विकल भेल दुहुक परान, गर गर अन्तर झरए नयान' कह कर वर्णन करते हैं तब ऐसा मालूम पड़ता है कि कवि ने हम लोगों को नायिका के वाह्य जगत् का पर्यवेक्षण करा अन्तर्जगत् के अन्तस्तल तक पहुँचा दिया है। इस पद के पढ़ने के साथ ही ऐसा प्रतीत होता है कि हम लोग इन स्थूल चक्षुओं से वियोग के घात-प्रतिघात से मर्माहत नायिका के हृदय को गल-गलकर आँखों की राह आँसू बनकर निकलते देख

रहे हैं तथा उसके हृदय में मचा हुआ हा-हाकार हम लोगों के सामने साकार साश्रु नयन खड़ा है। बायरन ने भी *"Half broken-hearted"* कहकर अन्तर्जगत् का कुछ वर्णन तो किया है; परन्तु वह अत्यन्त ही अस्पष्ट है। इसी भाव को, इसी वेदना के चित्र को कलाकार विद्यापति 'विछोह विकल भेल दुहुक परान' कहकर बिल्कुल स्पष्ट और मूक अन्तर्वेदना का सूचक बना देते हैं। इसके अतिरिक्त कलाकार विद्यापति को जैसा चित्र खींचना था, ठीक उसके उपयुक्त रंग का आपने व्यवहार किया है। देखिये, 'विकल' और 'परान' मूक अव्यक्त वेदना को किस सुन्दरता पूर्वक चित्रित कर रहे हैं। *'Half-broken'* से 'विकल' तथा *'Hearted'* से 'परान' कहीं सुन्दर है।

विद्यापति और बर्न्स

रौबर्ट बर्न्स स्काटलैण्ड के एक महान् गीति-कविताकार हो गये हैं। अंग्रेजी साहित्य-संसार में आपकी कविता की अच्छी प्रशंसा है। आपने मानव-प्रेम का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। आप विद्यापति ही की तरह अत्यन्त लोक-प्रिय कवि हैं। अपने देश के राजा से रंक तक, मजदूर से किसान तक सभी वर्ग के लोगों में विद्यापति ही के समान कविवर बर्न्स की कविता का प्रचुर प्रचार है। आप की एक कविता का प्रारम्भ इस प्रकार है—

Jockey's ta'en the parting kiss,
O'er the mountains he is gane;

And with him is a' my bliss,
Nought but griefs with me remain.

इसी भाव का विद्योपति का एक गीत नीचे उद्धृत है—

हरि गेल मधुपुर हम कुल बाला, विपथे पड़ल जैसे मालतिक माला ॥
नयनक निन्द गेल वयनक हास, सुख गेल पिया संग दुख मोर पास ॥

दोनों कविताओं में एक ही भाव का प्रतिपादन किया गया है। प्रियतम के प्रयाण के पश्चात् दोनों नायिकाएँ अपने सुख मय जीवन में समुपस्थित गम्भीर व्याघात का अनुभव कर व्याकुल हो रही हैं। बर्न्स ने—

Jokey's ta'en the parting kiss
O'er the mountains he is gane ;

कहकर जो भाव व्यक्त किया है वही भाव विद्यापति के 'हरि गेल मधुपुर' में भी है; परन्तु बर्न्स ने *'parting kiss'* कहकर विदाकालीन जिस मार्मिक दृश्य का खाका खींचा है वह विद्यापति में नहीं है। *'parting kiss'* (विदा काल के इस चुम्बन) की जितनी दाद दी जाय, थोड़ी है।

बर्न्स के इन दो पदों

And with him is a' my bliss,
Naught but griefs with me remain

में जो भाव है ठीक वही भाव 'सुख गेल पिया संग दुख मोर पास' में है। *'Naught but griefs'*–द्वारा जो असर बर्न्स ने अपने पद में ला दिया है, वह विद्यापति में नहीं। किन्तु प्रियतम के विदा हो जाने से नायिका की अवस्था की उपमा

'विपथे पड़ल जैसे मालतिक माला' द्वारा देकर जो कारुणिक चित्र का चित्रण विद्यापति ने किया है, वह बर्न्स में नहीं है।

बर्न्स की दूसरी कविता 'On the seas and far away' की दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

All I can—I weep and pray,
For his weal that's far away.

विद्यापति के दो चरण भी इसी भाव के हैं। यथा—

माधव हमर रटल दुर देश, केओ न कहइ सखि कुशल सन्देश ॥
युग युग जिवथु बसथु लख कोस, हमर अभाग हुनक कोन दोस ॥*

बर्न्स की नायिका विरहजन्य निस्सहायता का अनुभव कर सब प्रकार से लाचार है। वह प्रियतम के विरह में रोती है और दूरस्थित प्रियतम के कल्याण के लिये ईश्वर से प्रार्थना करती है। यही भाव विद्यापति की कविता में है। बर्न्स के पद्य में नैराश्य और विरह-व्यथा को सहते हुए भी प्रियतम के लिये मंगल-कामना है जो अत्यन्त सुन्दर है; परन्तु विद्यापति के 'युग युग जिवथु बसथु लख कोस, हमर अभाग हुनक कोन दोस' में यो दोनों भाव तो हैं ही, साथ ही इनके अतिरिक्त इसमें आत्म-बलिदान का भाव भी अन्तर्हित है, जो बर्न्स की कविता में नहीं है। यह सभी जानते हैं कि कुल-कामिनी के लिये विरह और वह भी चिर विरह कितना दुखदाई होता

---

* बंगाल की एक कवियित्री स्वर्णकुमारी देवी की काकली सुनिये—
ज्वले प्राण यातनाय, ज्वलूक से चति नाहीं।
से आमार सुखे थाक, नाहीं अन्य कोन साध ॥

है। राधा इस असह्य दुःख को सहती हुई भी इसका दोष अपने पति को नहीं देती, वरन् यही कहती है कि यह तो हमारे करम का दोष है। भले ही, हम विरह की ज्वाला में जल भुन कर खाक हो जाँय परन्तु वह जहाँ भी रहें युग-युग जीवें। विद्यापति की राधा यदि व्याकुल है तो केवल अपने प्राणाधार के 'कुशल सन्देश' के लिये। राधा के इस त्याग में जो सात्विकता है वह बर्न्स की कविता में नहीं है।

कविवर अयोध्या सिंह उपाध्याय ने विद्यापति के इसी भाव को 'प्रिय प्रवास' में इस प्रकार व्यक्त किया है—

प्यारे आवें सुवयन कहें प्यार से गोद लेवें।
ठंढे होवें नयन-दुख हों दूर मैं मोद पाऊँ।
ये भी हैं भाव मम उर के और ये भाव भी हैं।
प्यारे जीवें जग हित करें गेह चाहे न आवें।

तुलनात्मक-आलोचना को अब हम यहाँ समाप्त करते हैं। संस्कृत, बंगला, हिन्दी, मैथिली तथा अंग्रेजी इन पाँच भाषाओं के प्रमुख कवियों की कविताओं से विद्यापति के पदों की तुलना हमने की है। इस तुलना का तात्पर्य्य यह कदापि नहीं कि इन भाषाओं के सभी प्रमुख कविओं से विद्यापति बढ़े-चढ़े हैं। इसका मुख्य तात्पर्य्य हमारा यही है कि साहित्य-समीक्षक देखें कि विश्वकवियों ने जिन भावों को व्यक्त किया है, हमारे विद्यापति ने भी उन्हीके टक्कर के भावों को अपने पदों में सन्निविष्ट किया है। कविता की प्रधान सम्पत्ति भाव है। भाव के बल पर ही कोई महाकवि, कवि-सम्राट्, या विश्व-

कवि का गौरव प्राप्त कर सकता है। इन पाँच भाषाओं के चोटी के कवियों के साथ विद्यापति की तुलना करने का मुख्य तात्पर्य्य यही है कि जिन भाव-सम्पत्ति के बल पर वे कवि-गण, महाकवि या विश्वकवि की उपाधि से विभूषित किये जाते हैं उसी बूते पर हमारे विद्यापति महाकवि या विश्व-कवि क्यों नहीं हो सकते? यदि उन भाषाओं के प्रमुख कवियों में तथा विद्यापति में एक ही समानधर्म—भाव-वैभव—विद्यमान है तब विद्यापति क्यों न उन महाकवियों के साथ समान सम्मान के पात्र माने जाँय? अपने भाव-वैभव के पुण्य-प्रताप से कालिदास, चण्डीदास, तुलसीदास, शेक्स-पियर आदि विश्वकवियों के साथ ही विद्यापति का भी न्याय्य स्थान है इसमें तनिक भी तारतम्य का अवसर नहीं।

Undoubtedly it is very difficult task to be alternately witness and judge; to feel strongly, and yet to analyse cooly; to love every feature in a familiar face, and yet to decide calmly upon its intrinsic ugliness or beauty. To be an adequate critic is almost to be a contradiction in terms; to be susceptible to a force, and yet free from its influence; to be moving with the stream, and yet to be standing on the bank.

—Leslie Stephen.

काव्य-सौष्ठव

Poets are all who love, who feel great truths,
And tell them; and the truth of truth is love.

—BAILEY

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव
वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं
विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु

—ध्वन्यालोक

Poetry is the record of the best and happiest
moments of the best and happiest minds.

—SHELLEY

काव्य क्या है, इसकी सर्वमान्य एक परिभाषा करने में मनुष्य-मस्तिष्क असमर्थ रहा है। वायु को मुट्ठी में बन्द करने के समान परिभाषा के कठोर शिकंजे में इसे कसना असम्भव ही रहा है। परन्तु इतना सभी स्वीकार करेंगे कि मानवता के साथ कविता का शाश्वत सम्बन्ध है। मनुष्य के दो ऐसे प्रधान अङ्ग हैं जो अन्य जीव-जन्तुओं से कुछ वैशिष्ट्य रखते हैं। वे हृदय और मस्तिष्क हैं। हृदय का सम्बल भाव है, और मस्तिष्क की भित्ति बुद्धि। बुद्धि से विज्ञान और भाव से कविता का उत्थान है। विज्ञान का जन्मस्थान मस्तिष्क है और कविता की जन्मभूमि हृदय है।

कविता की परिभाषा गढ़ने की दुश्चेष्टा को छोड़ हमलोगों को देखना चाहिये कि कविता में वास्तविक साधारण और शाश्वत गुण क्या हैं? 'कविता एक ललित कला है' इस विषय में सभी विद्वान् विवेचक एकमत हैं। ललित कला का मुख्य तात्पर्य्य भावोद्वेग से आनन्दोद्रेक करना है। उपयोगिता से उसे कम सरोकार है। सुकुमार कलाकारों को भावात्मक एवं वाह्य विषयात्मक सौन्दर्य्य के चित्रण से ही अधिक प्रयोजन रहता है और उस सौन्दर्य्य का अक्षय्य भंडार ईश्वर, मनुष्य और प्रकृति है।

सत्य का अनुसन्धान ही मनुष्य का युग-युग से चरम प्रयत्न रहता आया है। वैज्ञानिक अथवा कवि, दार्शनिक अथवा धर्मज्ञ सत्य के अन्वेषण में ही अपनी शक्ति का सदुप-योग करते हैं। किन्तु उनके अन्वेषण के मार्ग भिन्न हैं। जहाँ वैज्ञानिक वास्तविक सत्य को युक्तिवाद अर्थात् तर्क-शक्ति से पाने का प्रयत्न करते हैं चाहे वह सत्य भले ही कुत्सित, अरुचिकर एवं असुन्दर ही क्यों न हो, वहाँ कवि सौन्दर्य्य का ही दूरबीन लगा कर सत्य का अनुसन्धान करते हैं। जहाँ तक सौन्दर्य्य का विश्लेषण कर सत्य का उद्घाटन करना है वहाँ तक कवि की कला है। वैज्ञानिक युक्तिवाद द्वारा असुन्दर सत्य को उद्भासित करना उनका कार्य्य नहीं। जहाँ वैज्ञानिक तर्क का आश्रय लेते हैं वहाँ कवि अपनी हृदय-बेधी कल्पना का सहारा लेते हैं। जो कुछ सुन्दर है, मधुर है और जो रागात्मक अनुभूति द्वारा भावों का संचार करता है, वही कविता का उद्देश्य है।

कविता सौन्दर्य्य-साम्राज्य की स्वामिनी है और उसका विस्तार वहिर्जगत् एवं अन्तर्जगत् दोनों में है। यद्यपि दोनों जगत् में निगूढ़ सम्बन्ध है, परन्तु दोनों की प्रकृति एक-सी नहीं। वाह्य प्रकृति जहाँ कारणसापेक्ष्य, नियम निबद्ध और अपरिवर्तनशील है, वहाँ अन्तःप्रकृति स्वच्छन्द है। जो कवि नियम-निबद्ध वाह्य सौन्दर्य्य वा वहिःप्रकृति का भावात्मक वर्णन करते हैं वे भी अवश्य कवि हैं; परन्तु जो वाह्य सौन्दर्य्य के साथ-साथ अन्तर्जगत् के विचित्र चित्रण में सिद्धहस्त होते

हैं वे ही महाकवि हैं। परन्तु इतना स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वाह्य अनुभूति जितना ही प्रवल होती है, आन्तरिक सत्वा-बोध भी उतना ही उत्कृष्ट हो उठता है।

कविता हृदय की उपज है, मस्तिष्क की नहीं। रागात्मक भावुकता ही कविता को जन्म देती है। भाव की विह्वलता में वाह्य आडम्बर आप-से-आप लुप्त हो जाते हैं। ऐसे वहुत समालोचक हैं जो गठन, रूप, अलंकार, व्याकरण आदि की निर्दोषिता का ही काव्य में अन्वेषण करते हैं, परन्तु इन विषयों को प्रौढ़ समालोचक गौण समझते हैं। कविता की यथार्थ सम्पत्ति वे भाव ही को मानते हैं यद्यपि उन विषयों की सर्वथा उपेक्षा नहीं करते। हमारे विद्यापति भाव-प्रधान कवि हैं। इनकी कविता में अन्तः सौन्दर्य्य तथा वाह्य सौन्दर्य्य का मणि-काञ्चन सम्मिश्रण है, किन्तु वाह्य सौन्दर्य्य की अपेक्षा इनकी अनुभूति अन्तः सौन्दर्य्य के वर्णन में ही अधिक प्रत्यक्ष हुई है जिसे लोग भ्रम-वश विपरीत ही मानते आ रहे हैं।

कवि-कुल-कोकिल विद्यापति के काव्य-चमत्कार की चर्चा करने के पूर्व इतना निवेदन कर देना हम आवश्यक समझते हैं कि यद्यपि उन्होंने अन्यान्य रसों की कविता में भी कवित्व-शक्ति का परिचय दिया है, तथापि उसकी पराकाष्ठा राधा-कृष्ण सम्बन्धी शृङ्गारपूर्ण गीतों में ही हुई है। इसलिए यहाँ पर पदावली-साहित्य का अनुशीलन करते हुए हम विद्यापति के काव्य-सौष्ठव की चर्चा करेंगे। विद्यापति की पदावली में काव्य का कसीदा नहीं, भाव का वैभव है। हाँ, जहाँ कहीं

अनायास काव्य का कसीदा बन गया है, वह कल्पना की उर्वरता के कारण ही हुआ है, कुछ कवि के परिश्रम से नहीं।

पदावली की कविता शृङ्गार-रस से शराबोर है। यही कारण है कि इसपर अनेक अवांछनीय लांछन लगाये गये हैं, जिनका निराकरण हम पहले ही ग्रन्थ के आदि भाग में कर चुके हैं। सब रसों में शृङ्गार को रसराज मानने की भूल—यदि इसे भूल कहने का साहस करें—कुछ विद्यापति ने ही नहीं की है, प्रत्युत इस अपराध में संसार के प्रायः सभी महाकवि गिरफ्तार किये जा सकते हैं। और की बात जाने दीजिये, हमारे प्रातःस्मरणीय वेदव्यास भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। शृङ्गार की प्रशंसा में नाट्य-शास्त्र-कर्त्ता भरत मुनि ने तो यहाँ तक कहा है—'यत्किञ्चित् लोके मेध्यं सुन्दरं तत् सर्व्वं शृङ्गार रसेनोपमीयते'

अब उक्त नाट्याचार्य्य के शब्दों में मेध्य (पवित्र) और सुन्दर के उपमानभूत शृङ्गार की दृष्टि से विद्यापति के काव्य की यदि विशुद्ध साहित्यिक समालोचना की जाय तो मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि विद्यापति का स्थान किसी भी भाषा के कवि से पीछे नहीं है। इसकी यत्किञ्चित् तुलनात्मक चर्चा हम पीछे कर भी चुके हैं। यहाँ विद्यापति के काव्य-सौष्ठव की एक झलक दिखाते हुए हम यह प्रमाणित करेंगे कि वे किस प्रकार यथार्थ में विश्वकवि के स्थान पाने के पूर्ण अधिकारी हैं। हमारा यह भी विश्वास है कि कोई भी पक्ष-पात-रहित समालोचक इसका समर्थन किये बिना न रहेगा।

तालपत्र

पर

विद्यापति के हस्तलिखित श्रीमद् भागवत का अर्द्ध पृष्ठ (ल०सं० ३०९)।

हम कह आये हैं कि सृष्टि-मात्र का आधार आदिरस है और उसकी उत्पत्ति अनुराग (रति) रूपी स्थायी भाव से होती है। स्त्रीपुं-भाव में ही उस अनुराग का आलम्बन होता है। जिस हेतु चर-अचर में इसका एकच्छत्र साम्राज्य है, इसलिए वह रसराज भी कहलाता है। अब देखना यह है कि उस रसराज का आविर्भाव एवं प्रेमांकुर का उद्गम कब होता है? शैशवावस्था का अन्त और किशोरावस्था का आरम्भ मानव जीवन में उस वैभव-शाली दिन—रसराज के अविर्भाव—का उषःकाल है। उस अपूर्व अरुणोदय में प्रेम-प्रभाकर अभी-अभी क्षितिज-विन्दु के ऊपर नहीं आया है। केवल उदय-स्थल पर उसकी लालिमा का आभास मात्र है; तथापि यह निश्चय होता है कि अब रात्रि का शेष हो गया है। इस अवर्णनीय मधुर-अवस्था को भारतीय काव्य-शास्त्र में वयः-सन्धि कहते हैं। अनेक शृङ्गारिक कवियों ने वयः-सन्धि का वर्णन अपने-अपने ढ़ंग से सुन्दर किया है। महाकवि विद्या-पति ने भी उसी कवि-मर्यादा का पालन करते हुए इसी संधि-काल को रसावतार का श्रीगणेश समझ कर राधा के रूप-लावण्य-वर्णनार्थ अपनी निपुण लेखनी उठाई है—

शैशव यौवन दरसन भेल, दुहु दल बले दन्द परि गेल ॥
कबहुँ बाँधए कच कबहुँ बिथारि, कबहुँ झाँपए अंग कबहुँ उघारि ॥
अति थिर नयन अथिर किछु भेल, उरज उदय थल लालिम देल ॥
चरण चंचल चित चंचल भान, जागल मनसिज मुदित नयान ॥

वाचक-वृन्द! आपने वयःसन्धि के अनेक चमत्कारिक

वर्णन भिन्न-भिन्न कवियों के काव्यों में देखे होंगे, किन्तु विद्यापति के पद को पढ़िये और उसके भाव-वैशिष्ट्य पर भी ध्यान दीजिये।

कितने तुले हुए शब्द हैं! नवांकुरित-यौवना का क्या ही स्वाभाविक सुन्दर चित्र है! 'चरण चंचल चित चंचल भान' में अनुप्रास के चारु चमत्कार के साथ-साथ चंचलता मानो थिरकती नाच रही हो। परन्तु सब से भावपूर्ण अन्तिम चरण है। इस पद का समस्त सौन्दर्य अङ्गूठी के नगीने की तरह केवल 'मुदित' शब्द में जड़ा हुआ है।

दुर्भाग्यवश इस शब्द के अर्थ करने में टीकाकारों ने अनर्थ किया है। श्रीयुत नगेन्द्रनाथ गुप्त, श्रीयुत ब्रजनन्दन सहाय तथा श्रीयुत राम वृक्ष शर्म्मा 'बेनीपुरी' आदि बहुत से टीकाकारों ने इसका अर्थ 'प्रमुदित' किया है, जो यहाँ पर सर्वथा अर्थ का अनर्थ है। विचार करने का विषय है कि यदि मनसिज महाराज पूर्ण रूप से जाग उठे हैं एवं नायिका की आँखों में युवती के समान हाव-भाव का विकास हो गया है तो फिर वयःसन्धि का वर्णन ही क्या हुआ? पूर्ण यौवना होने में कसर ही क्या रही? सत्य एवं स्वाभाविक बात तो यह है कि प्रातःकाल में कोई जगते ही आँखें नहीं खोलता। सभी को पूर्ण संज्ञा लाभ करने में किंचित् समय लगता ही है। कितनी बार आँखें खुलकर बन्द हो जाती हैं। मर्मज्ञ कवि ने 'मुदित' शब्द में उन्हीं भावों को मूँद रक्खा है। यही एक शब्द समस्त पद की कुंजी है। वयः-सन्धि वर्णन में कल्पना की

ऐसी सुन्दर उड़ान कदाचित् ही कहीं अन्यत्र मिले। रसज्ञ विद्यापति ने यौवन की उदय-लालिमा देने के साथ उनके सहचर मनसिज को जगाया तो अवश्य, परन्तु पूर्णोदय में विलम्ब जान आलस्य के मारे मनसिज अपनी आँखें मूँदे ही रहे। उषाकालीन निद्रा-भङ्ग होने का क्या ही अनुरूप वर्णन है! उषाकाल से नायिका का अनजान रूपक कितना सुन्दर उतरा है, मर्मज्ञ पाठक इसका विचार करें।

उदय की लालिमा में जहाँ प्रकृति अपना शृङ्गार कर रही है, वहाँ यौवन-प्रभात में विद्यापति की नायिका क्या करती दीखती है, जरा नीचे नजर कीजिये—

मुकुर लेइ अब करति सिंगार, सखि पुछइ कैसे सुरत विहार।
निरंजने उरज हेरइ कत बेरि, हँसइत अपन पयोधर हेरि ॥*

सम्पूर्ण वर्णन स्वाभाविकता से पूर्ण है। 'सखि पुछइ कैसे सुरत विहार' में बालिका की सरलता के साथ-साथ यौवन किस प्रकार आँखमिचौनी खेल रहा है, अवलोकन करें। अन्तिम दो चरणों में विद्यापति ने क्या ही सुन्दर चित्र उरेह डाला है; बालिका के मधुर अधरोष्ठ पर अठखेलियाँ खेलते हास्य का मूल्य कौन आँक सकता है! फिर—

खने खन नयन कोन अनुसरई, खने खन वसन धूलि तनु भरई ॥
खने खन दशन छटा छुट हास, खने खन अधर आगु गहु वास ॥

---

* The bosom swelled lightly with its full youth;
The countenance was such as might select
Some artist that his skill should never die,
Imaging forth such perfect purity.

—Shelley.

चउँकि चलए खने खन चलु मन्द, मनमथ पाठ पहिल अनुबन्ध ॥
हृदयज मुकुलि हेरि हेरि थोर, खने आँचर देइ खने होय भोर ॥

बहुधा कहा जाता है कि विद्यापति उपमालंकार के आचार्य हैं और हम भी इसे स्वीकार करते हैं। उपमा अलंकार का प्राचुर्य्य तो उनके गीतों में है ही, किन्तु वे स्वभावोक्ति वर्णन में भी वैसे ही सिद्धहस्त थे। इसकी बानगी इन पदों में भली भाँति दीख पड़ती है। यदि क्षण भर सुन्दरी युवतीजनोचित क्रिया प्रदर्शित करती है तो अगले ही क्षण बालिकाजनोचित क्रिया-कलाप में संलग्न हो जाती है। यदि कभी कटाक्ष करना प्रारम्भ करती है तो कभी भोली बालिका के समान धूल में लोट-लोटकर खेलने लगती है। यदि एक क्षण बालिका की तरह खिल-खिलाकर हँस पड़ती है तो दूसरे ही क्षण लज्जा से स्मित-भरे अधर को कपड़े से छिपा लेती है। कभी चौंक कर चंचलता पूर्वक चलती है और क्षण भर के बाद युवती-सुलभ लज्जा से मन्द मन्द विचरने लगती है।

'मनमथ पाठ पहिल अनुबन्ध' कितने अनूठे भाव से भरा है, ध्यान दीजिये। पाठ के प्रारम्भ में लोग 'स्वल्पारम्भा क्षेमकराः' मानते हैं। उस नियम का निर्वाह विद्यापति ने किस प्रकार किया है, स्पष्ट है। दूसरी बात यह है कि पाठशाला में जो विद्यार्थी पहले पहल प्रवेश करता है, वह उत्कण्ठा के साथ एक क्षण पाठ की ओर ध्यान देता है, तो दूसरे क्षण खेलने में मग्न हो जाता है। गुरुराज मन्मथ ने

प्रेम की पाठशाला में अपने शिष्य से पाठ का अनुबन्ध अर्थात् श्रीगणेश किस प्रकार कराया है, वह उपर्युक्त पद में स्पष्ट अङ्कित है। पाठ तो सर्वथा नवीन ही चाहिये। 'हृदयंज मुकुलि' सोलहो आना नवीन पाठ है; जिसको नायिका रह रह कर अवलोकन कर रही है। क्षण में नवयौवन के पाठ की ओर देखती है और क्षण ही में उसे भूल जाती है। 'मनमथ पाठ पहिल अनुबन्ध' की छटा ही कुछ दूसरी है। एक उर्दू कवि का मकतबे इश्क का भी मुलाहिजा फरमाइये—

इश्क के मकतब में मेरी आज बिस्मिल्लाह है।
मुँह से कहता हूँ अलिफ दिल से निकलती आह है॥

एक पद और अवलोकन कीजिये और यौवन के क्रम-विकास का दृश्य देखते चलिये—

पहिल बदरि कुच पुन नवरङ्ग, दिने-दिने बाढ़य पिड़य अनङ्ग।
से पुनि भए गेल बीजक पोर, अब कुच बाढ़ल सिरिफल जोर।

पद में बदरि (बेर) नवरंग (नारंगी) बीजक पोर (बड़ा नींबू) तथा सिरिफल (बेल) शब्द ऐसे प्रतीत होते हैं, मानों वयस रूपी सीढ़ी की पटरियाँ हों अथवा मानव जीवन के सर्वेयर कवि ने युवावस्था के पथ पर क्रोश-प्रदर्शक पत्थर (*mile-stones*) लगा रक्खे हों, साथ ही 'पिड़य' शब्द से अनंग की कसक की जो मृदुल मीठी पीड़ा का आभास मिलता है उससे कवि की प्रतिभा का परिचय स्पष्ट प्रतीत होता है।

ज्यों-ज्यों राधा की अवस्था का विकास होता जाता है त्यों-त्यों उसके स्वभाव में परिवर्तन होते जाते हैं।

केलिक रभस जब सुने आने, अनतय हेरि ततहि दइ काने।*
इथे यदि केओ करए परचारि, काँदन माँखि हाँसि दए गारि।

'काँदन माँखि हाँसि दए गारि' में कवि ने चित्र उतार लिया है। वयः सन्धि का वर्णन बड़ी मार्मिकता से किया है। जहां रोना बालिका का स्वाभाविक धर्म है वहां मृदु मुसकान में गाली (उपराग) देना नव युवती का समयोचित क्रिया-कलाप है।

इन दो-चार उदाहरणों से पाठकों की समझ में आ गया होगा कि विद्यापति ने वयःसन्धि के वर्णन में स्वाभाविकता का मार्मिक चित्र किस प्रकार उरेहा है। इस प्रसंग में राय बहादुर दिनेश चन्द्र सेन जी का कथन अक्षरशः सत्य है—

"विद्यापतिर वर्णित राधिका-कतगुलि चित्र पटेर समष्टि।....एइ लेखागुलि तुलिते आंका छबिर मत। सुन्दरीर नाना भङ्गीर छवि देखिया कवि आलो चित्र तुलियाछेन। तुलिर आँका वर्ण मुछिया याय, किन्तु लेखनीर आँका छवि मोछे ना।"

राधा के भुवन-मोहन लावण्य के एक से एक सुन्दर पद विद्यापति ने लिखे हैं, जिनमें उनकी सुन्दरता अक्षर-अक्षर से निखर रही है। कहाँ तक कहा जाय, राधा का अलौकिक रूप लावण्य कवि के लिये पहेली बन गया है। इस पहेली को समझाने के लिये नाना प्रकार की कल्पना करता हुआ वह कहता है—

---

* अन्यैः प्रवर्तितां शश्वत् सावधाना च तत् कथाम्।
शृणोत्यन्यत्र दत्ताक्षी प्रिये बालानुरागिणी॥ —साहित्य दर्पण

अमिअक लहरी वम अरविन्द, विद्रुम पल्लव फूलल कुन्द ॥
निरवि निरवि मोजे पुनु-पुनु हेरु, दमन लता पर देखल सुमेरु ॥
साँच कहओ मोजे साखि अनंग, चन्द्रक मण्डल यमुना तरंग ॥
कोमल कनक केयासुति पात, मसि लए मदने लिखल निज बात ॥*
पढ़हि न पारिय आखर पाँति, हेरइत पुलकित हो तनु काँति ॥
भनहि विद्यापति कहओ बुझाए, अरथ असम्भव के पतियाए ॥

उस सुन्दरी के कमल मुख से अमृत की लहरें उछल रही हैं। मूँगे के पल्लव (अधर) पर कुन्द के फूल (दाँत) खिल रहे हैं। स्थिरता पूर्वक बार-बार देखने पर मालूम होता है कि मानों द्रोण लता पर सुमेरु (कुच) हों। चन्द्रमण्डल (मोती की माला) में यमुना की तरंगें (त्रिवली) लहरा रही हैं। कोमल कनक लता रूपी राधा के अंग प्रत्यंग रूप पत्ते पर कामदेव ने अपना संदेश स्याही (रोम) से लिख दिया है—अर्थात् नायिका के रोम-रोम में कामदेव का संदेश भरा है। उस संदेश के अक्षरों की पंक्तियाँ पढ़ी नहीं जा सकतीं तथापि उस संदेश को देखते ही अंग पुलकित हो उठता है। हमारे विद्यापति कहते हैं कि इसपर कोई विश्वास नहीं कर सकता, परन्तु कामदेव के इस लिखित संदेश का अर्थ करना सर्वथा असम्भव है—अर्थात् नायिका की सुन्दरता सचमुच एक पहेली है!

---

* किमस्य लोम्नां कपटेन कोटिभिर्विधिर्नलेखाभिरजीगणद्गुणान् ।
न रोमकूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषण शून्य विन्दवः ॥
—श्री हर्ष

यदि इस प्रकार की अलौकिक सुन्दरता की झाँकी मात्र मन को मोहित कर शरीर में अवसाद उत्पन्न करे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। राधा को देखते ही कृष्ण ने अपने प्राण निछावर कर दिये, दर्शन-सुख से वंचित हो जाने पर कृष्ण कितना व्याकुल हो उठे हैं, इसका अवलोकन कीजिये—

मुख दरसने सुख पाओला रस विलसि न भेला।
सरदक चाँद सोहाओना उगितहिं अथ गेला।

\+ + + +

गुन अनुभवे मन मोहला अवसादल देहा।
दुलभ लोभ फल पाओला आवे प्राण संदेहा।

शरत् कालीन चन्द्रमा के उगते ही तुरत अस्त हो जाने से 'रस विलसि न भेला' में दर्शन से वंचित होने की जो नैराश्य-पूर्ण वेदना है एवं दुर्लभ लोभ के कारण प्राणान्त की जो आशंका उपस्थित हो गई है, वह मार्मिकता से खाली नहीं! हमारे उर्दू कवि सौदा ने भी क्या ही ठीक कहा है—

भर नज़र तुमको न देखा कभू डरते डरते।
हसरतें जी की रहीं जी ही में मरते मरते॥

अब कृष्ण विचित्र परिस्थिति में पड़ गये हैं। नयन-बाण ने उन्हें अपना शिकार बना डाला है। प्रेम के निराले पथ का पथिक बन कर, वे पश्चात्ताप कर रहे हैं। वे कहते हैं सुनिये—

किए मझु दिठि पडलि शशि वयना, निमिख निवारि रहल दुहु नयना॥
दारुण वंक विलोकन थोर, काल होए किए उपजल मोर॥
मानस रहल पयोधर लागि, अन्तरे रहल मनोभव जागि॥

श्रवण रहल श्रछि सुनइते राव, चलइते चाहि चरण नहि जाव ॥ *
श्राशा पाश न तेजइ श्रंग, विद्यापति कहे प्रेम तरंग ॥

भुवनमोहनी राधा के हास्य एवं चितवन से विमोहित हो व्याकुल कृष्ण उसका पता पाने के लिये कितना उत्कंठित जान पड़ते हैं, अवलोकन कीजिये—

श्रलखिते हमे हेरि विहुसलि थोर, जनि रयनि भेल चाँद उजोर ॥
कुटिल कटाच्छ लाट पड़ि गेल, मधुकर-डम्बर श्रम्बरे देल ॥
काहिक सुन्दरि के ताहि जान, श्राकुल कए गेलि हमर प्रान ॥
लीला कमले भ्रमर धरु वारि, चमकि चललि गोरि चकित निहारि ॥

+ + + +

भनहि विधापति दुहु मन जागु, बिसम कुसुम सर काहु जुनु लागु ॥

'बिसम कुसुम सर काहु जनु लागु' कितना व्यापक सत्य है। प्रेम-पथ में जो कुश और कांटे हैं, वेदना और व्याकुलता है उसकी विकटता का आभास यह छोटा-सा पद करा देता है। 'चमकि चललि गोरि चकित निहारि' में अनुप्रास की छटा के साथ-साथ श्रंग्रेजी साहित्य के *Onomatopoeia* नामक अलंकार का कितना सुन्दर उदाहरण है !

राधा के विना कृष्ण की अवस्था कैसी हो रही है, उनको कितनी वेचैनी है इसका अनुमान इन्हीं दो-चार पंक्तियों से पाठक लगा सकते है—

---

* My ear is open like a greedy shark,
To catch the tunings of a voice divine.
Ah! who can e'er forget so fair a being?
Who can forget her half retiring sweets? —Keats.

गद् गद् भाखि कहइ वर कान, राहि दरश बिनु निकसे परान ॥
जब नहिं हेरब तकर से मुख, तब जिउ भार धरब कोन सुख ॥
तुअ बिनु आन इथे नहिं कोइ, बिसरए चाह बिसरि नहिं होइ ॥

अब कृष्ण की उस असह्य व्याकुलता को सखी किस मार्मिक ढंग से अन्योक्ति द्वारा सूचित करती है, उसका अवलोकन कीजिये—

कंटक माझ कुसुम परगास, भमर विकल नहि पावए पास ॥
भमरा भेल घुरए सब ठाम, तोहि बिनु मालति नहि बिसराम ॥
रसमति मालति पुनु पुनु देखि, पिबए चाह मधु जीव उपेखि ॥
ओ मधुजीवी तोजे मधु रासि, साँचि धरसि मधु मने न लजासि ॥
अपनेहु मने गुनि बुझ अवगाहि, तसु दूषन बध लागत काहि ॥
भनइ विद्यापति तौं पए जीव, अधर सुधारस जौं पए पीव ॥

आपने कृष्ण की प्रारम्भिक विरह-व्यथा के छन्द सुन लिये अब कुसुम-कोमला राधिका के हृदय की अन्तर्वेदना के गीत सुनिये। यद्यपि दोनों एक ही रोग के रोगी हैं; फिर भी इतना अन्तर अवश्य है कि जहाँ कृष्ण स्वच्छन्द हैं वहाँ राधा ललनोचित लोक-लज्जा से विवश है। सखी के द्वारा कृष्ण की व्याकुलता का समाचार पा कर हठात् वह कह उठती है।

कान्ह हेरब छल मने बड़ साध, कानु हेरइते भेल एत परमाद ॥
तव धरि अबोधि मुगुधि हम नारि, कि कहि कि सुनि किछु बुझइ न पारि ॥
साओन घन सम झरु दु नयान, अविरत धसधस करए परान ॥
काँ लागि सजनी दरसन भेल, रभसे अपन जिउ पर हाथे देल ॥
न जानिए किए करु मोहन चोर, हेरइते प्राण हरि लए गेल मोर ॥
एत सब आदर गेल दरसाइ, यत बिसरिय तत बिसर न जाइ ॥

जिस भुवन-मन-मोहन कृष्ण को देखने की बड़ी उत्कण्ठा थी उनको देखते ही कैसी विपत् सिर पर आ पड़ी! जब तक उन्हें देखा नहीं था तब तक मैं नितान्त अबोध बालिका थी-प्रेम की छाया से अछूती थी। किन्तु अब दर्शन मात्र से ही प्राण व्याकुल हो उठे–नेत्र श्रावण के मेघ बन गये। दर्शन क्या हुए, प्राण बरबस सौंपने पड़े। मोहन पक्के चोर निकले, मेरे प्राण चुरा कर चम्पत हो गये। फिर भी यह क्या बात है कि उस चोर को मैं भूलना तो चाहती हूँ, पर भूल नहीं पाती। बड़ी विवशता है!

ऐसी बेबसी रहने पर भी राधिका ने किस चातुरी से अपने प्रेम को निगूढ बना रक्खा है। गुरुजन के संकोच और अनुराग के रोच में वह किस प्रकार खरी निकलती है!

कि कहब हे सखि इह दुख ओर, बाँसि निशास गरले तनु भोर ॥
हठ सजे पैसए श्रवणक माँझ, तैखने बिगलित तनु मन लाज ॥
विपुल पुलके परिपूरए देह, नयने न हेरि हेरए जनु केह ॥
गुरुजन समुखहि भाव तरंग, यतनहि बसने झाँपि सब अंग ॥
लहु लहु चरणे चलिए गृह माँझ, दैब विहि आजु राखल लाज ॥

मन को मोहने के लिये मनमोहन की मधुर बाँसुरी ब्रह्मास्त्र ही समझिये। श्रुति-पथ के स्पर्श मात्र से लज्जा विदा हो जाती है। सात्विक भावोदय से शरीर पुलकित हो उठता है। गुरुजन भाँप न लें इसलिए उधर पलकें भी उठने मे असमर्थ हैं। अतः उसने वस्त्रों से ढाँपने में जिस प्रस्थानशील लज्जा को अनायास फँसा रक्खा है उसमें विधि की बहादुरी नहीं, नागरी की ही चतुराई है।

राधा की इस अद्भुत व्याकुलता की वार्ता सखी कृष्ण को इस प्रकार दे रही है—

तुहु मनमोहन कि कहब तोय, मुगुधिनि रमनी तुअ लागि रोय ॥
निशि दिशि जागि जपय तुअ नाम, थर थर काँपि पड़ए सोइ ठाम ॥
यामिनि आध अधिक जब होय, विगलित लाज उठए तब रोय ॥
सखि गन यत परबोधए ताय, तापिनि तापे ततहि तति ताय ॥

राधा प्रियतम के प्रेम में इतनी व्याकुल और साथ ही लोकलज्जा से इतनी भीत है कि दिन में रो कर भी अपने हृदय की पीड़ा को वह हलकी नहीं कर पाती। डर है कि कहीं कोई सुन न ले। इसी से आधी रात से कुछ ऊपर ही उसे रोने का अवसर मिलता है। उस समय उसकी एकान्त सखी उसे जितनी सान्त्वना देती है, विछोह की ज्वाला उतनी ही धधक उठती है। और विशेषताएँ तो हैं ही, लाजवन्ती को भी अपनी लज्जा के सामने लजानेवाली राधा के हृदय की व्यथा का चित्र इन पदों में कितना साफ उतरा है!

'विपुल पुलक परिपूरए देह, नयने न हेरि हेरए जनु केह' तथा 'यामिनि आध अधिक जब होय, विगलित लाज उठए तब रोय' में विद्यापति ने लज्जा की पराकाष्ठा दिखलायी है!

कृष्ण को जहाँ दर्शन की उत्कण्ठा मात्र है; वहाँ राधा को उत्कण्ठा के साथ-साथ लोकापवाद का भी बहुत बड़ा भय है। इस अन्तर्द्वन्द्व से राधा किस प्रकार क्षण-क्षण क्षीण हो रही है इसका स्पष्ट अवलोकन कीजिये—

माधव कि कहब से विपरीते।
तनु भेल जरजर भाविनि अन्तर चित्त रहल तसु भीते॥
निरस कमल मुख करे अवलम्बइ सखि माझे बैसलि गोइ।
नयनक नीर थीर नहि बान्धइ पङ्क कएल महि रोइ॥
मरमक बोल बयने नहि बोलत तनु भेल कुहु शशि खीना।
अवनि उपर धनि उठए न पारइ धयलि भुजा धरि दीना॥
तपत कनया जनि काजर भेल तनु अति भेल विरह हुतासे।
कवि विद्यापति मने अभिलापत कान्ह चलह तसु पासे॥

अस्तु; यह प्रेम पारस्परिक था, राधा एवं कृष्ण के हृदय में प्रथम दर्शन के पश्चात् प्रेम केवल अंकुरित ही नहीं, पल्लवित भी हो उठा। दोनों एक दूसरे के दर्शनों के लिये व्याकुल हुए। किन्तु राधा को एक बड़ी बाधा उपस्थित है! प्रियतम के पास जाने में स्वभावतः लोक-लज्जा घेर खड़ी होती है। गुरुजनों के भय से सशंकित एवं लज्जा से अस्तव्यस्त राधिका को उसकी अंतरंग सखी किस युक्ति से प्रोत्साहित कर रही है उसका भी चमत्कार देखते चलिये—

जीवन चाहि यौवन बड़ रंग, तब यौवन जब सुपुरुष संग॥
सुपुरुष प्रेम कबहुँ नहि छाड़, दिन दिने चाँद-कला सम बाढ़॥
तुहुँ से नागरि कानु रस कन्द, बड़ पुने रसवती मिळे रसवन्त॥
तुहुँ यदि कहसि करिय अनुसंग, चोरि पिरीति होए लाख गुण रंग॥
सुपुरुप ऐसन नहि जग माँझ, अते ताहे अनुरत बरज समाज॥
भनहि विद्यापति इथे नहि लाज, रुप गुणवतिक इह बड़ काज॥

यदि सखी उसको ढाढ़स दिला कृष्ण से सम्मिलन के

लिये ले जाना चाहती, तो वह सखी के पैरों पर गिर कर प्रार्थना करती है—

परिहर ए सखि तोहे परनाम, हम नहिं जाएब से पिया ठाम।
बचनक चातुरि हम किछु नहि जान, इङ्गित न बुझिए न जानिए मान।

राधा को इस प्रकार असमंजस में पड़ी देख कर सखी दिलासा दे रही है—

परिहर मने किछु न कर तरास, साधस नहि कर चल पिया पास॥
दुर कर दुरमति कहलम तोय, बिनु दुखे सुख कबहुँ नहिं होय॥
तिल आध दुख जनम भरि सुख, इथे लागि धनि की होए विमुख॥
तिला एक मूनि रहु दु नयान, रोगि करए जनि औपध पान॥

इस पद से रसिकता टपकती हुई मालूम पड़ती है। 'विनु दुख सुख कबहु नहिं होय' एवं 'रोगि करए जनि औषध पान' की लोकोक्तियों की फबन का कहना ही क्या।

बालिका को वयस्का सखी कैसी विदग्ध अनुभूति-भरी शिक्षा दे रही है, पाठक पढ़ने की कृपा करें—

प्रथमहिं सुन्दरि कुटिल कटाख, जिव जोखे नागर दे दस लाख॥
केओ दए हास सुधा सम नीक, जइसन परहोक तइसन बीक॥
सुन सुन्दरि हे नव मदन पसार, जनु गोपह आओब बनिजार॥
रोस दरसि रस राखब गोए, धयले रतने अधिक मूल होए॥
भलहि न हृदय बुझाओब नाह, आरति गाहक महग बेसाह॥
भनहि विद्यापति सुनह सयानि, सुहित वचन राखब हिय आनि॥

एक और देखिये—

बड़ कौसल तुअ राधे, किनिल कन्हाइ लोचन आधे॥
ऋतुपति हटबए नहि परमादी, मनमथ मधथ उचित मूल वादी॥

द्विजकुल सेवक मसि मकरन्दा, काँप भमर पद साखी चन्दा ॥
वहि रति रंग लिखापन माने, श्रीशिवसिंह सरस कवि भाने ॥

प्रथम पद में गोप्य रत्न की बहुमूल्यता, और उसे आर्त ग्राहक पाने पर विक्रय की महर्घता बड़े मार्के की है। दूसरे पद में कवि ने एक आकर्षक भाव भर दिया है। आधी चितवन में ही मोहन को खरीदना अत्यन्त सुन्दर हुआ है। रूपक का निर्वाह कितने भावपूर्ण ढंग से कवि ने किया है, देखिये। इन पदों से यह स्पष्ट है कि विद्यापति बहुश्रुत एवं निगूढ़ निरीक्षक थे। उन्हें अर्थशास्त्र का ज्ञान था, दूकानदारी की जानकारी थी, यह पदों से स्पष्ट है।

विद्यापति का यह विचार था कि मर्य्यादा पुरस्सर किसी प्रेमी से प्रेम करना चाहिये। उसे ही वे नागरी समझते हैं जो मान के साथ-साथ प्रेम का निर्वाह कर सके। देखिये निम्न पद में सखी-शिक्षा कितनी विदग्धता पूर्वक दी गई है—

हमर वचन सुन साजनि, मान करवि आदर जानि ।
जब किछु पिया पूछब तोय, अवनत मुख रहवि गोय ॥
जब परिहरि चलए चाहि, कुटिल नयने हेरवि ताहि ।
जब किछु आदर देखह थोर, झापि देखाओवि कुच ओर ॥
जब करे धरि निकट आनि, उहू उहू कए कहवि बानि ।
वचन कहवि काँदन माँखि, मान करवि आदर राखि ॥
भनइ विद्यापति सोइ से नारि; मानक पिरित राखए पारि ॥

विद्यापति ने अपनी पदावली में केवल राधिका को ही प्रथम-मिलन की ऐसी सखी द्वारा शिक्षा नहीं दिलाई है

प्रत्युत नायक को भी उसी तरह प्रेम का पाठ पढ़ाया है। इस प्रसंग का एक पद उद्धृत है।

सुन सुन सुन्दर कन्हाई, तोहें सौंपलि धनि राई॥
कमलिनि कोमल कलेवर, तुहुँ से भूखल मधुकर॥
सहजे करवि मधु पान, भूलह जनि पंचवान॥
परबोधि पयोधर परसिह, कुञ्जर जनि सरोरुह॥
गहनते मोतिम हारा, छले परसब कुच भारा॥
न बुझए रतिरस रंग, खने अनुमति खने भंग॥
सिरिस कुसुम जिनि तनु, थोरि सहबि फुल धनु॥
विद्यापति कवि गाव, दुतिक मिनति तुअ पाव॥

विदग्धतापूर्ण अनुभूति मूलक शिक्षा की विलक्षणता अक्षर-अक्षर में भरी हुई है। यह सखी की शिक्षा नहीं, प्रेम का पाठ है। यहाँ विद्यापति की दूती की चातुरी महाकवि भवभूति के 'मालती माधव नाटक' में चित्रित सन्यासिनी के चरित्र की याद दिलाती है या वात्स्यायन सूत्रों की अथवा वर्त्तमानकाल के कामशास्त्री मिस मैरी स्टोप्स या फानडे फेल्डे जैसों की किताबों की।

इस प्रकार की शिक्षा-दीक्षा मिलने पर भी राधा का संकोच दूर न हुआ। वह लोकापवाद से इतनी भीत है कि कोई शिक्षा सहसा कारगर नहीं होती। फिर भी युक्ति से यह कह सुनकर कि 'काहे डरसि सखि चलु हम संग, माधव नहि परसव तुअ अंग' दूती राधा को वाग्-जाल में फँसाकर क्रीड़ा-स्थल में पुनः ले चली है।

राधा सहेट तक आई तो सही, परन्तु प्रियतम के समक्ष अपने लघु प्राणों को अर्पण करने में संकोच एवं भय के कारण उनके पास जाने से रुक गई। इसपर दूती की फटकार सुनिये—

सयन सीम रहि आवे, दुरकर से सब सकल सुभावे ॥
मुख अवनत तेज लाजे, कत महि लीखसि चरन वेयाजे ॥
रामा रह पिया पासे, अभिनव संगम तेजह तरासे ॥
पिया सञो पहिलुकि मेली, होउ कमल के अलि केली ॥
तरतम तजे कर दूरे, छैल इछहि छोड़ह मोर चीरे ॥

जब बाला देखती है कि अब सखियाँ मानने को नहीं तो बेचारी निराश हो करुण क्रन्दन करने लगती है, किन्तु सखी की चातुरी का कहना ही क्या? समझा-बुझाकर प्रियतम के पास आखिर पहुँचा ही देती है!

आहे सखि आहे सखि लै जनु जाहे, हम अति बालिक आकुल नाहे ॥
बोल भरोस दए गेलि लिआय, पहुक पलंग पर देलि बइसाय ॥
गोट गोट सखि सभ गेलि बहराय, बरज केवार पहु देलन्हि लगाय ॥
तेहि अवसर पहु जागल कंते, चीर सँभारलि जिउ भेल अंते ॥
नहिं नहिं करए नयन ढर लोरे, काँच कमल भमरा झिकझोरे ॥
जइसे डगमग नलनीक नीरे, तइसे डगमग धनिक सरीरे ॥
भनहि विद्यापति सुनु कविराजे, आगि जारि पुन आगिक काजे ॥

इन पदों में प्रथम समागम का कितना सजीव चित्र विद्यापति ने खींचा है! अनुनय-विनय के द्वारा केलि-गृह में लाना, प्रियतम के प्रथम प्रेमालिंगन के डर से भीत होना, रोना, सखी का वस्त्र पकड़ना एवं पद-नख से पृथ्वी पर

लिखना तथा प्रियतम के स्पर्श से ही 'नहीं-नहीं' करना आदि कामिनियों के सुहागरात के स्वाभाविक क्रिया-कलाप हैं। ऊपर के पद में 'काँच कमल भमरा भिकभोरे' जइसे डगमग" धनिक शरीरे' आदि कितनी सुन्दर और सजीव उपमाएँ हैं! 'काँच कमल भमरा भिकभोरे' कितना मार्मिक है! यह पद विहारीलाल के दोहे के एक चरण 'अली कली ही से बिन्ध्यो' का सहसा स्मरण करा देता है। एक पद और देखिये—

जखने लेल हरि कंचुअ अछोड़ि, कते परिजुगति कएल अंग मोड़ि॥
तखनुकि कहिनी कहहि न जाए, लाजे सुमुखि धनि रहलि लजाए॥
करे न मिझाय दूर जर दीप, लाजे न मरए नारि कठजीव॥+
आँकम कठिन सहए के पार, कोमल हृदय उखड़ि गेल हार॥
भनइ विद्यापति तखनुक भान, केओ ने कहल सखि होएत विहान॥

संयोग-शृङ्गार का यह साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। वर्तमान रुचि के अनुसार इस प्रकार के पद में आप अश्लीलता भले ही निकालें, किन्तु इन गीतों में काव्य का चमत्कार नहीं है-यह नहीं कहा जा सकता।

एक अंग्रेजी साहित्य-समालोचक का कथन है कि "*The beauty of poetry is to paint the human life*

\+ नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र विम्बाधराणाम्।
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु॥
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्।
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः॥

—कालिदास (मेघदूत)

truly" मनुष्य-जीवन का वास्तविक चित्र-चित्रण करना ही काव्य की सुन्दरता है। यदि इस दृष्टिकोण से ऐसे पदों की विवेचना की जाय तो उनमें वर्णित विषय सर्वथा सत्य और समुचित ही प्रतीत होंगे।

इन पदों की मधुरिमा के आगे अश्लीलता नगण्य मालूम पड़ती है। क्या जगन्नाथ और भुवनेश्वर आदि के मन्दिरों के नाना भावव्यंजक चित्रों के अन्दर कुछ अश्लील चित्रावली देखकर उनके कलाकारों के अद्भुत शिल्प की सराहना हृदय से नहीं करनी पड़ती है? उसी तरह कलाकार विद्यापति के पदों में इस प्रकार के भाव कुछ उघरे हुए होने पर भी कलापूर्ण ही कहे जायँगे।

अभिसार-वर्णन

अभिसार प्रेम-परीक्षा की एक कसौटी है। इससे प्रियतम के प्रति प्रेमोद्वेग के साथ-साथ जीवन की उपेक्षा या बलिदान का परिचय प्राप्त होता है। प्रेम की धारा में किसी प्रकार की रुकावट आ जाने से किस तरह प्रेम-प्रवाह में व्याकुल-वेग-तीव्र उच्छृङ्खलता होती है तथा किस प्रकार अपने प्राणों को हथेली पर रखकर उनके साथ खेलने की मस्ती आती है, इसका उदाहरण अभिसार ही में मिलता है। इसीलिए शृंगारी कवियों ने अभिसार का वर्णन बहुत ही मार्मिक ढंग से किया है।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि विद्यापति का

अभिसार के प्रति क्या भाव है? विद्यापति का अभिसार साहित्य-शास्त्र-वर्णित भौतिक अभिसार तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत उसका लक्ष्य विशेष कर आध्यात्मिक एकता है। कृष्ण के प्रति सभी प्रकार के अभिसार को विद्यापति सिद्धि-दायक समझते हैं। उनके अनुसार प्रेम की साधना अभि-सार के साधन से सिद्ध होती है। यथा—

सबहि सुन्दरि साहस सार, तेहि तेजि के करए पार।
सकल अभिसार सिद्धिदायक, रूपे अभिनव कुसुमसायक॥

यह जानते हुए भी कि अभिसार प्रेम का सिद्धिदायक मंत्र है, कुल-कामिनी राधा लोक-लज्जा के भय से मंत्र-सिद्धि के पथ पर अग्रसर होने में शंकित हो रही है। एक ओर नूतन अनुराग का उद्वेग है तो दूसरी ओर कुल के उपहास का भय। इसी प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व से राधा का हृदय जर्जर हो रहा है। देखिये—

ओ भरे लागल नव सिनेहा, ए भरे कुलक गारि।
सकल प्रेम सम्भारि न होयते, हठे विनासति नारि॥

फिर—

एक दिस कान्ह अओका दिस, सवितत वंश विशाला।
दुइ पथ चढ़लि नितम्बिनि सँसय पडु कुलबाला॥

जिस प्रकार व्याध के डर से भीत हरिणी चारों ओर चौंकती हुई बचने का उपाय सोचती है, उसी प्रकार बेचारी राधा इस द्वन्द्व से बचने के उपायों को शून्य दिशाओं में खोजती है—

अगमने प्रेम गमने कुल जाएत चिन्ता पङ्क लागलि करिनी।
मञे अबला दह दिस भमि झाँखओ जनि व्याध डरे भिरु हरिनी॥

प्रेमोद्विग्ना राधा लोकापवाद से इतनी कंपित है कि अन्तरङ्ग सखी के द्वारा प्रियतम के पास पत्र भेजने में भी उसे यह भय हो रहा है कि कहीं कोई उसे पत्र ले जाते देख न ले? इसलिए वह चंद्रमा से अनुनय-विनय करती है कि हे चंद्रमा, आज रात में तुम उदित न होना। प्रियतम के पास पत्र भेजना है। केवल लोकापवाद के कारण वह श्रावण से अभिसार करने की बात सोचती है—

चन्दा जनु उग आजुकि राती, पिया के लिखिए पठाउबि पाँती॥
साओन सँ हम करब पिरीती, जत अभिमत अभिसारक रीती॥

कहाँ तो राधा ने यह लिख भेजा कि श्रावण से अभिसार प्रारम्भ करूँगी, परन्तु वर्षा काल की रात में भी बिजली चमकने का डर उसे हो आया। कहीं उस प्रकाश में कोई उसे देख न ले? फिर भी प्रणय की प्रतिज्ञा-पूर्त्ति की चिन्ता में वह यह सोचती है कि 'आशा दए नहिं करिए निरासे, 'भल न कएल मोञे देल विसवास'।

विश्वास देने के कारण प्रियतम कृष्ण अवश्य संकेत गृह में आकर उपस्थित हुए होंगे। वर्षा की इस भयावनी रात में घोर वृष्टि हो रही है, दशो दिशाएँ काली से पुती हुई हैं। अब क्या करना चाहिये? समय अभिसार के लिये उत्तेजित कर रहा है। कृष्ण को निमन्त्रित कर निराश करना भी ठीक नहीं है। उनके स्मरण से प्राण व्याकुल हो रहे हैं।

प्रज्वलित अग्नि के समान बिजली चमक रही है। वज्रपात-का भयंकर शब्द हो रहा है। अब घर में रहा भी नहीं जाता—

झर झर बरिस सघन जल धार, दश दिश सबहुँ भेल अन्धियार ॥
ए सखि किये करब परकार, अब जनु बारए हरि अभिसार ॥

+ + + +

कैसने संकेत बञ्चब कान, सुमरइ जर जर अथिर परान ॥
झलकइ दामिनि दहन समान, झन झन शबद कुलिस झनझान ॥
घर महँ रहइत रहइ न पार, कि करब ई सब बिधिन बिथार ॥

प्रतिज्ञा-भङ्ग से राधा संकोच में पड़ेगी। वह जानती है कि प्रेम-पथ में आपदाएँ हैं-बाधा, विघ्न और व्याघात हैं। किन्तु इससे क्या? यश, अयश विपदा और बाधा सब को अङ्गीकृत करती हुई राधा कहती है कि क्या प्रेम के कारण चन्द्रमा अपने अंक में हरिण को धरकर राहु का ग्रास सहन नहीं करता। अब जो होना हो, हो, इस समय यह एकान्त जीवन दुस्सह हो रहा है। लोकापवाद के कारण जीवन के श्रेष्ठ मुहूर्त अकारण नष्ट हो रहे हैं। ऐसी हालत में अभि-सार न करना अनर्थ है—

रयनि काजर बम भीम भुअङ्गम कुलिस परए दुरवार।
गरज तरज मन रोसे वरिस घन संसअ पड़ अभिसार ॥
सजनी बचन छड़इते मोहि लाज।
जे होएत से होअओ वरु सबे हमे अङ्गि करु साहस मन देल आज ॥*

---

* एकलि याओब, तुझ अभिसारे।
याक पिया तुँहुँ कि भय ताहारे।
भय बाधा सब अभय मूरति धरि पन्थ देखाओव मोर। —रवीन्द्र

अपन अहित लेख कहइते परतेख हृदयक न पाइअ ओल।
चान्द हरिन वह राहु कवल सइ प्रेम पराभव थोल॥
चरन वेधिल फनि हित कए मानलि धनि नेपुर न करए रोल।
सुमुखि पुछओ तोहि सरुप कहसि मोहि सिनेह कत दुर ओल॥

राधा का यह पूछना कि हे सखी, सत्य कहो, प्रेम का पंथ कितना लंबा है-प्रेम के लिये क्या क्या सहना होता है! यह प्रश्न कैसा दुखपूर्ण है। वह सोचती है कि कृष्ण मेरी बातों पर विश्वास कर मुझ से आगे ही निकुञ्ज वन चले गये होंगे। ऐसे विकट समय में वे अकेले किस व्याकुलता से मेरा मार्ग देखते होंगे? प्रेम में यह 'न नु नच' अब व्यर्थ है। प्रेम-पथ पर चलने में अगर जीवन भी काँटा बने तो उसे अलग फेंककर ही चैन लेना उचित है—

गगने अब घन मेह दारुण सघन दामिनि झलकई।
कुलिस पातन शबद झन झन पवन खरतर बलगई।
सजनी आजु दुर दिन भेल।
कन्त हमरि नितान्त अगुसरि सँकेत कुञ्जहि गेल।
तरल जलधर बरिखे झर झर गरजे घन घन घोर।
साम नागर एकले कैसने पंथ हेरइ मोर।
सुमरि मझु तनु अवश भेल जनु अथिर थर थर काँप।
ई मझु गुरु जन नयन दारुण घोर तिमिरहि झाँप।
तोरिते चल अब किये विचारह जिवन मझु अगुसार।
कविशेषर वचने अभिसर किये से विघिन बिचार।

कबीरदास भी इससे सहमत हैं—"जब लगि मरने से डरे, तब लगि प्रेमी नाहिं, बड़ी दूर हैं प्रेम घर, समुझि लेहु मन

माँहि"। जीवन की बाजी लगाकर राधा अभिसार को निकलती है। घनघोर वर्षा हो रही है। नितम्बिनी राधिका चिकने पथ पर फिसल-फिसल पड़ती है जैसे पूर्व जन्म के कर्म के भार से साधक साधना के पिच्छल रास्ते पर बारबार फिसल पड़ता हो। बिजली के प्रकाश में जलधारा को ही टेककर राधा उठना चाहती है, किन्तु निराधार के अवलम्बन से जो गति होनी चाहिये वही गति उसकी भी होती है।

निअ मन्दिर सों पद दुइ चारि, घन हन बरिस मही भरि वारि॥
पथ पीछर बड़ गुरुअ-नितम्ब, खस कत बेरि नहीं अवलम्ब॥
बिजुरि छटा दरसावए मेघ, उठय चाह जलधारक थेघ॥

राधा एवं कृष्ण का प्रेम 'सागरः सागरोपमः' है। इधर राधा को कृष्ण की चिन्ता है तो उधर कृष्ण को भी राधा के आने में विलम्ब देखकर अनेक प्रकार की आशंकाएँ हो रही हैं जो निम्न पद से प्रत्यक्ष है। राधिका को अभिसार के लिये क्यों उत्तेजित किया? प्रलयकालीन वर्षा हो रही है, रास्ता दूर है, यमुना की भयानक उत्ताल तरंगों में जब राधा प्रेम की आर्त्तता के कारण प्रवेश करेगी तो तैरकर किनारे भी नहीं पहुँच सकती है; वह उसी में डूब जायगी। जब बिजली की कड़क से मुझे भय हो रहा है तब राधा की क्या अवस्था होगी? ऐसी भयावनी रात में यदि राधा घर लौट जाती तो बड़ा अच्छा था। पद पढ़िये—

बरसि पयोधर धार, दूर पथ गमन कठिन अभिसार॥
जमुन भयाउनि नीरे, आरति धसति पाउति नहि तीरे॥
बिजुरी तरंगे डराई, तौं भल कर जौं पलटि घर जाई॥

जब राधा विघ्न-बाधाओं का अतिक्रमण कर निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाती है तब विलम्ब के कारण सशंक रहती है। सखी उस दोष के लिये क्षमा माँगती है। विलम्ब का कारण हृदय थाम कर सुनिये—

पन्थ पिछर निसि काजर काँति, पाँतेरे भै गेल दिगभँराति ॥
चरने बेढ़ल अहि तें नहि सङ्क, सुन्दरि हृदय नूपूर पुर पङ्क ॥
कि कहब माधव पिरीति तोहारि, तुय अभिसार न जीए वर नारि ॥
वराह महिस मृग पाले पलाय, देखि अनुरागिनि बाघ डराय ॥
फनि मनि दीप भरमे देइ फुक, कत बेरि लागल नागिनि मुखे मुख ॥
कह कविरञ्जन करह सन्तोस, आजुक विलम्ब गमने नहिं दोस ॥

इससे बढ़कर प्रेम की साधना क्या हो सकती है? राधा प्रेम की मदिरा पीकर इस प्रकार बेसुध है कि पैर में केवल सर्प के लिपटने का ही अनुभव नहीं करती, वरंच विषधर सर्प की मणि को दीपक के भ्रम में फूँककर बुताने की भी चेष्टा करती है। बुताने की इस चेष्टा में (नाग नहीं) नागिनी के मुँह से मुँह टकराने पर भी वह कुछ नहीं समझ पाती है। इससे बढ़कर उद्भ्रान्त प्रेम का दृष्टान्त क्या हो सकता है?

मान-वर्णन

प्रणयी एवं प्रणयिनी की प्रेम-लीला में मान का एक प्रमुख स्थान है। प्रेम के अस्त्रागार में मान एक महास्त्र है। यह दू-धारी तलवार है। इसकी चोट प्रहार करनेवाले एवं जिस पर प्रहार किया जाता है, दोनों पर एक-सी पड़ती है।

वैष्णव-साहित्य में मान एक विचित्र अर्थ का द्योतक है। यह जीवात्मा के पाप के कारण परमात्मा की बाह्य अप्रसन्नता का अथवा परमात्मा की माया के कारण जीवात्मा की निराशा और रोष का द्योतक है। यहाँ पर विद्यापति के मान-वर्णन की यत्किंचित चर्चा की जाती है।

अनेक यातनाएँ झेल कर और संकट का समुद्र पारकर राधा संकेत-गृह में पहुँची है। प्राणाधार को वहाँ न पाकर व्याकुलता के साथ प्रतीक्षा में जब निराश हो गई तब अभिसार की ओर उन्मुख करनेवाली सखी की भर्त्सना तो की ही; साथ ही अपने आराध्य प्रियतम को भी खरी-खोटी सुनाने से बाज न आई। उपालम्भ पढ़िये—

सखि हे बूझल कान्ह गोआरे।
पितड़क टार काज दहु कओन लह ऊपर चकमक सारे॥

हम तों कएल मन गेलहि होयत भल हम छ्ल सुपुरुप भाने।
तोहरे वचन सखि कएल आँखि देखि अमिय भरमे विप पाने॥

पसुक संगे हुनि जनम गमाओल से कि बुझथि रति-रंगे।
मधु यामिनि मोरि आजे निफले गेल गोप गमारक संगे॥

तोहरे वचने कूप धस जोरल तैं हमें गेलिहु अवाटे।
चन्दन भरमे सिमर आलिङ्गल सालि रहल हिय काँटे॥

भनइ विद्यापति हरि वहु वल्लभ कयल वहुत अपमाने।
राजा शिवसिंह रूपनारायन लखिमापति रस जाने॥

पुनश्च—

गाए चरावए गोकुल वास, गोपक संगम कर परिहास॥

अपनहिं गोप गरुअ की काज, गुपुतहि वोलसि मोहि वड़ि लाज॥

वस बृथान सालि दुइ गाए, तन्हि की विलसब नागरि पाए ॥

राधा निराश होकर घर लौटती है। प्रेम में विफलता क्रोध को उभाड़नेवाली होती है। उधर कृष्ण दूसरी हृदयाराध्या प्रेमिका के साथ सारी रात गँवाकर प्रातः-काल राधा के समक्ष उपस्थित होते हैं। कुंज-भवन की अनुपस्थिति के कारण बतलाकर सफाई देते हुए वाक्य-चातुरी से राधा को मनाना चाहते हैं। किन्तु खण्डिता नायिका का जैसा तीव्र व्यङ्ग्य होना चाहिये, राधिका उसी स्वर में कहती है—

ततहि जाह हरि न करह लाथ, रश्रनि गमोलह जन्हिके साथ ॥
कुच कुंकुमे माखल हिय तोर, जनि अनुरागे रांगि करु गोर ॥
आनक भूषण तोर कलङ्क, वड़ेओ भेद मन्देओ परसंग ॥

पुनश्च—

वचने नुकावह बेकतेओ काजे, तोहें हँसि हेरह हमे वड़ि लाजे ॥

आपके हृदय में जो कुकुंम लगा हुआ है, वह कुकुंम नहीं, किन्तु किसी सुन्दरी ने अपने प्रेमालिङ्गन-द्वारा अनुराग में रँगकर आप को गौराङ्ग वना दिया है। दूसरे का भूषण आपके लिये कलंक हो रहा है। आप हँस-हँसकर मेरी ओर देखते हैं, परन्तु आपकी करतूत पर हमें बड़ी लज्जा हो रही है।

राधा का उपहास कितना हृदय स्पर्शी है। इस प्रसंग का एक पद और देखिये—

नयनक काजर अधरें चोराओल नयन अधर कहु रागे।
बदलल बसन नुकाओब कत खन तिला एक कैतब लागे।

इन उपालम्भों के उत्तर में कृष्ण क्या सफाई देते हैं, सुनिये—

सुन सुन सुन्दरि कर अवधान, बिनु अपराधे कहसि काहे आन ॥
पुजलों पशुपति यामिनि जागि, गमन बिलम्बन भेल ताहि लागि ॥
लागल मृगमद कुंकुम दाग, उचारइत मंत्र अधरे नहिं राग ॥
रजनि उजागरि लोचन भोर, ताहि लागि तुहु मोहे बोलासि चोर ॥
नव कविशेखर कि कहय तोय, शपथ करह तब परतीत होय ॥

पर यह बनावटी सफाई भी काम न आई। दोष को छिपाने में वाक्चातुरी का दिवाला ही निकल गया। अन्त में दूसरा कोई उपाय न देख कर शपथ पर आ तुले—

ए धनि मानिनि करह सञात।
तुअ कुच हेमघट हार भुजंगिनि ताक उपर धर हात ॥
तोहें छाड़ि हम यदि परश कर कोय, तुय हार नागिनि काटब मोय ॥
हमर बचने यदि नहिं परतीत, बूझि करह शाति जे होए उचीत ॥
भुज पाशे बान्धि जघन पर तारि, पयोधर पाथर हिय देह भारि ॥
उरु कारागारे बाँधि राख दिन राति, विद्यापति कह उचित इह शाति ॥

शपथ का ताँता वन्ध गया, पर भर्त्सना जारी ही रही। एक मीठी फटकार उसकी सखी भी विना वताये न रही—

सुनु सुनु माधव निरदय देह, धिक रहु ऐसन तोहर सिनेह ॥
काहे कहल तुहु संकेत बात, यामिनि बञ्चलि आनहि साथ ॥
कपट नेह करि राहिक पास, आन रमनि सञो करह विलास ॥
के कह रसिक शेखर वर कान, तुहुँ सम मुरख जगत नहि आन ॥
मानिक तेजि काचे अभिलास, सुधासिन्धु तेजि खारे पियास ॥
चीर सिन्धु तेजि कूपे विलास, छिये छिये तोहर राभस भय भास ॥
विद्यापति कवि चम्पति भान, राहि न हेरब तोहर बयान ॥

कैसी सुन्दर फटकार है ! कौन कहता है कि तुम रसिकों में सर्वश्रेष्ठ हो ! तुम्हारे समान मूर्ख इस दुनिया में दूसरा नहीं! मणि को छोड़ काच पर लुभा जाते हो। सुधासिन्धु को छोड़ कर खारे समुद्र में अपनी प्यास बुझाते हो। क्षीर-समुद्र को छोड़ कूप के जल में ही आनन्द पाते हो। छी ! छी ! तुम्हारी इस प्रकार की क्रिया को धिक्कार है !

एक ओर सखी कृष्ण को जितनी ही भर्त्सना करती है तो लगे हाथों, दूसरी ओर राधा को भी अनेक प्रकार समझा-बुझा कर मनाती है। राधा के समक्ष कृष्ण को खरीखोटी सुनाने में सखी आगे का काम बना रही है। उसमें सखी की नीति लक्षित होती है। पद का रसास्वादन कीजिये—

भागे मिलय इह साम रसवन्त, भागे मिलय इह समय बसन्त ॥
भागे मिलय इह प्रेम संघाति, भागे मिलय इह सुखमय राति ॥
आजु यदि मानिनि तेजवि कन्त, जनम गमाओबि रोइ एकन्त ॥

पुनः—
मधुर मधुर पिक रव भरु तरु तरु सब करु करु लतिका सङ्ग ।
ऐसन सोहाओन सुरति समय वन पुनमति रच रतिरंग ॥
दखिन पवन वह सितल सबहुँ तह मलयज रज लए आव ।
कओन जुवति मन मनसिज नहि हन सबे कर रस परथाव ॥
हरि हरि कोन परि रहइ हृदय धरि, हरि परिहरि एहि राति ।
देखि सुपहु नति रति रंग न करति कओन कलावति जाति ॥
विद्यापति कह सुन्दर सब तह कर परसन मन आज ।
शुभ गुनि सुबदनि मिलह रसिक मनि पुन बले सुपहु समाज ॥

परन्तु उस प्रकार की बहस से राधा के मानस-सागर के मान-ज्वार को घटते न देख कृष्ण स्वयं अनुनय-विनय करने लगे। देखिये उनकी लल्लोचप्पो की बातें—

सरदक ससधर सम मुख मण्डल काँइ झपावसि बासे।
अलपेओ हास सुधारस बरिसओ छाड़ओ नयन पिआसे॥
मानिनि अपनहि मने अनुमान, रुसइते आनहु बोल अगेयान॥

फिर—

बदन सरोरुह हासे नुकओलह तें आकुल मन मोरा।
उदितेओ चन्दा अँमिय न मुञ्चए की पिबि जिउत चकोरा॥
मानिनि देह पलटि दिठि गेला।
सगरि रअनि जदि कोपहि गमओलह केलि रभस कोन बेला॥

एक और सुनिये—

मानिनि! अरुन पुरब दिसा बहलि सगरि निसा गगन मगन भेल चन्दा।
मुदि गेलि कुमुदिनि तइअओ तोहर धनि मूदल मुख अरविन्दा॥
चान बदन कुवलय दुहु लोचन अधर मधुरि निरमाने।
सगर सरीर कुसुमे तुअ सिरजल किय दहु हृदय पखाने॥

इतने पर भी राधा प्रसन्न नहीं होती है। कृष्ण घबरा उठते हैं। राधा के चरण छूना चाहते हैं, लेकिन उतना भी साहस नहीं होता। अन्त में हाथ जोड़ अलग खड़े-खड़े उसके मुँह की ओर देखने लगते हैं। विद्यापति के शब्दों में—

परसइते चरण साहस ने होए, कर जोडि ठाढ बदन पुन जोए।

राधा को अपना अपमान याद है। वह मानों सदय होना जानती ही नहीं। कृष्ण हारकर राधा के पास से

विदा होते-होते प्रेमोन्माद में भ्रमर को सम्बोधन कर कह उठते हैं—

अरे अरे भमरा तोजे हित हमरा बँउसि आनह गजगामिनि रे।
आजुकि रूसलि कालि जञो बँउसबि तीति होइति मधु जामिनि रे॥

जब कृष्ण निराश लौट चले तब राधा को मान काँटे की तरह खलने लगा। अब तो कृष्ण की दूती ही अनेक प्रकार से राधा को समझा-बुझा रही है—

एहि महि आध अथिर जीवन जउबन अलप काल।
इथी जत जत न विलसिअ से रह हृदय साल॥
तोर धन धनि तोरहि रहत निधन होएत आन।
दानक धरम तरोहिं होएत कवि विद्यापति भान॥

फिर—

विरह सिन्धु मँह डुबइते आछय तुय कुच कुम्भ नख देइ।
तुहु धनि गुणवति उधार गोकुलपति त्रिभुवन भरि यश लेइ॥

यहाँ मान की बात अलग रखिये। सखी-वाक्य में एक विचित्र चमत्कार आ गया है। जो कृष्ण कभी ब्रजवासियों को डूबते समय नख पर गोवर्द्धन धारण कर बचा पाये थे, वही अब डूब रहे हैं; और उनका उद्धार उसी ब्रजबाला के हाथ आ पड़ा है। क्या चमत्कार है! 'उधार गोकुल पति' की मार्मिकता सहृदय-हृदय-संवेद्य है।

आखिर राधा प्रेम की प्रतिमा ठहरी। प्रियतम के प्रेम को कब तक रोक सकती? इस प्रकार सखी-द्वारा सम्बोधित होने पर प्रेम से पगली राधा स्वयं प्राणाधार के पास दौड़ जाती है।

गगन गरज मेघा जामिनि घोर, रतनहु लागि न संचरु चोर।
एहना तेजि अएलाहुँ निअ गेह, अपनहु न देखिअ अपनुक देह॥
तिला एक माधव परिहर मान, तुअ लागि संसय परल परान॥

विद्यापति ने साहित्य-संसार में अभिनव भाव का प्रादुर्भाव किया है। नायिका के मान का वर्णन सर्वत्र मिलता है, लेकिन नायक के मान का वर्णन क्वचित् ही कहीं मिले। अतएव कवि ने कृष्ण के मान का वर्णन कर साहित्य-संसार में एक नवीन सिद्धान्त स्थापित किया।

अस्तु, अब कृष्ण भी अपने अपमान की ही याद कर मान कर बैठे। वे मनाये नहीं मानते। अन्त में राधा हारकर लौट आती है। फिर वह पट बदलता है, कृष्ण को दुःखानुभव होता है और वह स्त्री का वेश-विन्यास वनाकर राधा के पास जाते हैं। यथा—

अछलौं हम अति मानिनि होइ, भाङ्गल नागर नागरि होइ॥
कि कहव हे सखि आजुक रंग, कानु आओल तहिं दूतिक संग॥
से तनु सरस परस जव भेल, मानक गरव रसातल गेल॥
नासा परसि रहल हम धन्द, विद्यापति कह भांगल दन्द॥

इस प्रकार मान का गढ़ तोड़ा गया! सरस स्पर्श होते ही, प्रेम का प्रादुर्भाव एवं सात्विक भाव का संचार होना स्वाभाविक ही है। प्रेम के प्रावल्य में मान कितनी देर ठहर सकता? अब सम्मिलन-सुख का द्वार पुनः खुला। दोनों प्रेमावेग में निमग्न हो रहे—

दुहुक संयुत चिकुर फूजल, दुहुक दुहु वलावल बूझल ॥
दुहुक अधर दसन लागल, दुहुक मदन चैागुन जागल ॥
दुअओ अधर करए पान, दुहुक कण्ठ आलिङ्गन दान ॥
दुअओ केलि समे समं फेली, सुरति सुखे विभावरि गेली ॥
दुअओ सअन चेत न चीर, दुअओ पिआसल पीवए नीर ॥
भने विद्यापति संसअ गेल, दुहुक मदने लिखन देल ॥

राधा की प्रेम-साधना इतनी अधिक उत्कृष्ट हो चली है कि वह प्रेम की ही प्रतिमूर्ति प्रतोत होती है। और कहाँ तक कहा जाय 'जुग अवसान' (प्रलय) में भी अब कवि राधा के प्रणय का हो चित्र देखता है। पद पढ़िये—

सखि हे कि कहय किछु नहि फूरे।
सपन कि परतेक कहय न पारिय किय नियर किय दूरे ॥
तड़ित लता तले जलद समारल आँतरे सुरसरि धारा।
तरल तिमिर शशि सूर गरासल चैादिश खसि पडु तारा ॥
अम्बर खसल धराधर उलटल धरणी डगमग डोले।
खरतर वेग समीरण सञ्चरु चञ्चरि गण करु रोले ॥
प्रणय पयोधि जले तन झाँपल ई नहि युग अवसाने।
के विपरीत कथा पतियाएत कवि विद्यापति भाने ॥

विद्यापति की कल्पना की बात ही क्या? सौन्दर्य्य के उपासक के इस गीत में कल्पना की ऊँची उड़ान की भूरि भूरि प्रशंसा करनी ही पड़ती है। इस पद में श्लेष का कितना सुन्दर चमत्कार है। प्रलय में भी प्रणय के चित्र को देखने और दिखाने वाले एक मात्र कवि विश्व में विद्यापति ही हैं।

विरह-वर्णन

विरह प्रेम-साम्राज्य का अत्यन्त मूल्यवान् रत्न है अथवा उसे वह कसौटी समझिये जिसपर प्रेम सुवर्ण की परीक्षा होती है। इसकी अधिकता में प्रियतम और प्रेमी को एक दूसरे के प्रति सच्चा भावावेश और तन्मयता होती है। इसलिए वैष्णव-साहित्य की मधुर भावोपासना में विरह को संयोग-प्रेम से भी अधिक महत्त्व दिया गया है। कहा भी है—

"सङ्गम-विरह-विकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्याः।
मिलने सैव यदेका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे॥"

बात ठीक है, संगम में प्रेम परितृप्त होकर निश्चेष्ट रहता है, किन्तु विरह में वही उद्दाम होकर हृदय के अन्तराल में नित्य नव-नव प्राण संचार करता है। संगम में राधा-माधव केवल पुरःस्थिति प्रेममूर्ति की उपासना करते हैं। किन्तु विरह की तन्मयता में वही माधव राधा को कुञ्ज-कुञ्ज में, तृण-तृण में ढूँढ़ते उसे व्यापक रूप प्रदान करते हैं। साकेत की सीता के लिये राम किसी अन्तरंग से भी उसकी खोज करते नहीं देखे जाते किन्तु पञ्चवटी में वे ही विरह-विकल हो कर तरु-गुल्मों से उसका पता पूछने लगते हैं।

विरह-मणि के जौहरी कवियों में विद्यापति कितने पारखी हैं, हम इस अंश में यही दिखलाने की चेष्टा करेंगे। कृष्ण प्रवासोन्मुख हैं। प्राणाधार परदेश जाएँगे। यह सुनते ही राधिका के अन्तस्तल में लज्जा एवं प्रेम का द्वन्द्व

मच जाता है। कुल-कामिनी राधा स्वयं प्रियतम को मना करना अनुचित समझ कर, अपनी सखी से कहती है कि तुम प्रियतम को उचित उपदेश दो। यह विदेश जाने का समय नहीं है। दुर्जन दुःख समझने वाले नहीं होते। तुम मेरी अन्तरंगिणी हो इसलिए तुम्हीं उनके पास जाकर निवेदन करो कि कुछ दिन और रहें। मैंने जैसा कर्म किया होगा वैसा ही फल पाऊँगी। किन्तु पर-निन्दा से रक्षा करें, नहीं तो क्यों मेरी हत्या के भागी होंगे। जिसी समय वे चलने का विचार करेंगे, उसी समय आग में शरीर को मैं होम दूँगी। पद पढ़िये—

सखि हे बालमु जितव विदेशे।
हमें कुल कामिनि कहइते अनुचित तोंहहि दे हुनि उपदेशे॥
ई न विदेशक वेलि।
दुरजन हमर दुख न अनुमापव तें तोंहे पिया गेल इलि॥
किछु दिन करथु निवासे।
हमे पूजल जे सेहे पए भुञ्जव राखथु पर उपहासे॥
होएताह किये वध भागी।
जहि खने हुनि मन जाएब चिन्तव हमहु मरब धसि आगी॥
विद्यापति कवि भाने।
राजा शिवसिंह रूपनरायण लखिमा देवि रमाने॥

पद में 'जितव' शब्द अनूठे भाव का द्योतक है। वर्षों पूर्व मैथिलानी अशकुन सूचक 'जेता' न कहकर 'जितव' का व्यवहार करती थी। "बालमु जितव विदेश" से यह व्यङ्ग

होता है कि वे विदेशस्थ शत्रु को बल पूर्वक परास्त करेंगे अथवा अपने सौन्दर्य से विदेश की रमणियों के प्रेम पर विजय प्राप्त करेंगे। कारण, मैथिली में 'जितब' शब्द का अर्थ 'जीतेंगे' भी होता है। मथुरा के प्रस्थान के समय 'जितब' शब्द का चयन कितना भावव्यञ्जक है, अनुमान कीजिये।

अपनी सखी से जब काम न चला तब अगत्या राधा स्वयं कृष्ण से निवेदन कर रही है—

माधव तोंहें जनु जाह विदेशे॥
हमरो रंग रभस लए जएवह लएवह कौन सन्देशे॥
बनहि गमन करु होएत दोसर मति विसरि जाएब पति मोरा॥
हीरा मणि माणिक एको नहि माँगब फेर माँगब पहु तोरा॥

रसज्ञ पाठक! जरा ऊपर की पंक्तियाँ दुहराते चलिये। राधा के प्रेम का अलौकिक रसास्वाद मिलेगा। कृष्ण के विदेश जाने से राधा रोकती है। साथ ही यह भी कहती कि तुम तो मेरे सब-कुछ 'रंग रभस' हास-परिहास—लेते जाओगे किन्तु बदले में कुछ दे सकोगे? आदान का प्रदान भी तो चाहिये। परन्तु तुमसे बढ़कर मेरे लिये इस संसार में कोई दूसरा भी सन्देस (सौगात) हो सकता है यह तो मैं नहीं जानती। राधा के विदेश को 'वन' कहने में भी एक मार्मिकता है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि कहीं वन में योगी सन्यासी कृष्ण को शिष्य के रूप में मुड़ न लें और मन फिर जाने से वे मुझे भूल न जाँय। अतः बड़ी अनुनय-विनय से वह एक ही वस्तु की फिर फिर याचना करती है यथा 'फेर

माँगव पहु तोरा'। राधा की इस याचना में निःस्वार्थ प्रेम की प्रगाढ़ता कितनी सुन्दर उतरी है! संसार की सारी निधियाँ राधा एक कृष्ण पर ही न्योछावर करती है। इन पंक्तियों में स्वकीया की प्रेम-विह्वलता एवं स्वामी के समक्ष संसार की तुच्छता के चित्र-चित्रण में कवि कितना कृतकार्य हुआ है, उसे सहृदय रसिक ही परखें।

इस प्रकार राधा भावी वियोग-जन्य असह्य वेदना पर इंगित करती हुई विदेश यात्रा को स्थगित करने के लिये कृष्ण से अनुनय करती है। गमनोन्मुख कृष्ण को देख राधा रो उठती है। फिर भी, विदा की अनुमति कृष्ण माँग ही बैठते हैं। सुनते ही राधा 'हरि हरि' कहती हुई मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है। ऐसी परिस्थिति देखकर कृष्ण घबड़ा कर राधा का प्रबोध करते हैं। इन सब भावों के घात-प्रतिघात का पूर्ण चित्र विद्यापति आगे उपस्थित करते हैं, देखिये—

> कानु मुख हेरइते भावनि रमनी, फुकरइ रोअत झरझर नयनी॥
> अनुमति माँगिते वर विधु वदनी, हरि हरि शवदे मुरछि पडु धरनी॥
> आकुल कत परबोधइ कान, अब नहि मथुरा करव पयान॥
> इह वर शवद पैसल जब श्रवने, तब विरहिनि धनि पाओल चेतने॥
> निज करे धरि दुहु कानुक हाथ, जतने धरलि धनि अपना माथ॥
> बुझिये कहय वर नागर कान, हम नहि मथुरा करव पयान॥
> जब धनि पाओल इह अशोयास, बैठलि पुनु तब छोड़ि निशास॥
> राइ परबोधि कए चलत मुरारि, विद्यापति इह कहइ न पारि॥

परन्तु कृष्ण रुखाई कर ही बैठे। राधा के शिर पर हाथ रख कर नहीं जाने की जो प्रतिज्ञा उन्होंने की थी उसे वे भूल गये।

जब राधा निश्चिन्त-सी शय्या पर सोई हुई थी, कृष्ण एकाएक चुप चाप चल पड़े। अब राधा की नीन्द टूटती है। अपने को सूनी सेज पर अकेली पाकर जो करुण विलाप वह करती है उसे हृदय थाम कर सुनिये—

एक शयन सखि सूतल रे, आछल बलमु निशि मोर।
न जानल कति खन तेजि गेल रे, बिछुरल चकेवा जोर।
शून सेज हिय शालय रे, पिया बिनु घर मोञे आजि।
विनति करउँ सहिलोलिन रे, मोहि देह अगिहर साजि।

विश्वास देकर कृष्ण के चले जाने पर राधा की विकलता का कोई पारावार न रहा। अपने को महाशून्य में पाकर राधा सखियों से केवल एक प्रार्थना करती है कि हे सखी, अब चिता रच दो। जो आग सब पदार्थ को भस्म कर देती है वही मेरे शरीर के साथ-साथ मेरी आन्तरिक पीड़ा को भी भस्म कर दे। 'मोहि देह अगिहर साजि' में 'अगिहर' शब्द का चयन भी मार्मिकता से खाली नहीं है।

सुबह होते ही गोकुल-मणि कृष्ण के मथुरा प्रस्थान की वार्ता गोकुल में बिजली की भाँति फैल गई। समस्त गोकुल शोकाकुल हो उठा। चारों ओर कातर करुणा का चीत्कार! सब की आँखों से आँसुओं का प्रवाह! सर्वत्र सन्नाटा!

अब मथुरा पुर माधव गेल, गोकुल माणिक के हरि लेल॥
गोकुले उछलल करुणाक रोल, नयनक जले देख बहय हिलोल॥ †

---

† ....those tears will run
Soon in large rivers down the lifted face
And leave the vision clear for stars and suns.
—Mrs. Browning.

शून भेल मन्दिर शून भेल नगरी, शून भेल दश दिश शून भेल सगरी ॥

पुनश्च—

हरि मथुरा पुर गेल, आजु गोकुल शून भेल।
रोदति पिञ्जर शुके, धेनु धावइ मथुरा मुखे।
अब सोइ जमुना कूले, गोप गोपी नहिं बूले।

कृष्ण-प्रेम के वह केन्द्र थे-जिनका विरह सर्वत्र व्याप्त हो गया। यदि एक ओर नर-नारियाँ रो रही हैं तो दूसरी ओर पिंजरे के सुग्गे विलाप कर रहे हैं। गायें अलग ही व्याकुल हो मथुरा की ओर दौड़ रही हैं। जिस यमुना के किनारे आनन्दोत्सव एवं आमोद-प्रमोद की धूम मची रहती थी, वहाँ पर अब किसी का आना-जाना भी नहीं होता। चारों ओर महा श्मशान की सी शून्यता है!

जब मुझे प्रियतम ने परित्याग कर दिया तब शृङ्गार की क्या आवश्यकता रही? शृङ्गार की सभी सामग्रियों को यमुना में प्रवाह कर दो। सीमंत का सिंदूर भी पोछ डालो, कारण 'पिया बिनु सबहिं निराश रे'।

संख कर चूड़ बसन कर दूर तोड़ह गजमोति हार रे।
पिया यदि तेजल कि काज शृङ्गारे यमुना सलिले सब डार रे।
सीथक सिंदुर पोछि कर दूर पिया बिनु सबहिं निराश रे।

एक दिन था, जब राधा, कृष्ण-चकोर की, चाँदनी हो रही थी, उनके प्रेम-भ्रमर की कोमल कमलिनी बनी थी। पर आज की दुनिया ही बदल गई है! भाव ही बदल गया है! राधा कहती हैं की अब मैं क्या सन्ध्या की तारिका हो गई

हूँ, जिसे देखना भी अशुभजनक समझा जाता है, या भादो के चौठ-चाँद-सा हमारा मुख अमंगलजनक हो उठा है जिसे कृष्ण देखना भी नहीं चाहते हैं। शरीर जल जाने पर प्राण अलग हो जाते हैं। परन्तु विरहाग्नि में दग्ध राधा के शरीर से प्राण-पखेरू उड़े नहीं, यह जितना आश्चर्य है, कृष्ण-प्राणा राधा के लिये उतना ही लज्जाजनक भी है।

की हम साँझक एकसरि तारा भादव चौठिक शशी।
इथि दुहु माँझ कओन मोर आनन जे पहु हँसि न हेरसी।

एक और—

करिये यतन यत विफल होए तत न पाइअ तोहर समाजे।
विरह दहन दह तइओ जीव रह सब तँह ई बड़ि लाजे। *

राधा को विरहोद्विग्न देखकर उसे सखियाँ अनेक प्रकार से समझाती हैं। वे कहती हैं, कृष्ण अवश्य आयँगे। किन्तु राधा को रूखे आश्वासन से कुछ शान्ति नहीं होती, उसके हृदय में कितनी व्याकुलता एवं छटपटी है, सुनिये—

सजनी के कह आओब मधाई।
विरह पयोधि पार पुन पाओब, मझु मन नहि पतिआई॥
एखन-तखन करि दिवस गमाओल, दिवस दिवस करि मासा।
मास मास करि बरस गमाओल छोड़लूँ जीवनक आशा॥
बरस बरस कए समय गमाओल खोयलूँ ए तनु आसे।

---

* कालिदास की रति अपने विलाप में कहती है—
मदनेन विना कृता रतिः क्षणमात्रं किल जीवितेतिमे।
वचनीयमिदं व्यवस्थितं रमण त्वामनुयामि यद्यपि॥

यदि कोई धन रहते हुए उसका उपभोग नहीं करता तो धन के चले जाने पर उसके मन में विशेष पश्चात्ताप होता है। उसी प्रकार जीवन में यौवन के रहते हुए यदि उसके उपभोग से कोई वंचित रहता है तो यौवन-धन नष्ट हो जाने पर पश्चात्ताप के सिवा और कुछ हाथ नहीं आता। जीवन में यौवन बड़ा ही निर्दय है एक बार चले जाने पर फिर लौट कर आने का वह नाम ही नहीं लेता।

धन अछइतें जे नहि भोगए ता मन हो पछताव।
जउबन जीवने बड़ निरापन गेले पलटि न आव॥

एक उर्दू कवि ने भी सोलहो आने ठीक कहा है—

जो जाकर न आये वह जवानी देखी।
जो आकर न जाये वह बुढ़ापा देखा॥

राधा सोचती है कि 'जउबन गेले जुवति पिरितिक की फल पाओत कंत' इसलिए इस बात को लेकर राधा अपनी प्रार्थना प्रियतम के पास इन शब्दों में भेजती है—

कहब पथिक पिया मन दए रे जौवन बले चलि जाए।
जओ आविए तैइओ न आओब जाओ विजयी ऋतुराज॥

इस गीत के 'यौवन बले चलि जाए' से जो विवशता टपक रही है उसके लिये जितनी दाद दी जाय कम है।

राधा के लिये विधाता वाम हो रहे हैं। प्रियतम-विहीन जीवन सब सुषमाओं से हीन है। कवि-कोकिल के पीयूष-विनिन्दक काकली में व्यथा की प्रतिध्वनि सुनिये—

सरसिज विनु सर सर विनु सरसिज की सरसिज बिनु सूरे।
जौवन विनु तन तन विनु जौवन की जौवन पिय दूरे ॥*
सखि हे मोर बड़ दैव विरोधी।
मदन वेदन बड़ पिया मोर बोल छड़ अबहुँ देह परबोधी ॥
चौदिश भ्रमर भम कुसुमे कुसुमे रम नीरसि माँजरि पिबई।
मन्द पवन बह पिक कुहु कुहु कह सुनि विरहिनि कइसे जीवई ॥

इस पद की माधुरी वर्णनातीत है। सर, सरसिज और सूर की उपमा क्रमशः सुन्दर शरीर, युवावस्था और प्रेमाराध्य से देकर विद्यापति ने वस्तुतः इस पद को अमूल्य बना दिया है। इसकी प्रत्येक पंक्ति से राधा के उत्कट प्रेम की जो सुधा-धारा वह रही है वह सहृदय हृदय को आप्लावित किये विना नहीं रहती। पद की मधुरिमा बरबस मन को मोह लेती है।

विरह में वसन्त को कवियों ने दुस्सह कहा है। ठीक भी है, पर चतुरा राधा उसका उपाय कर लेगी। कोयल को खदेड़ कर भगा देगी, और भ्रमर को कर-कंकण की रुन-झुन से वर्जन करेगी; किन्तु जब धवलागिरि पर घटा उमड़-घुमड़कर घिर आयेगी, बरसाती बयार विरह की आग को प्रज्वलित करने लगेगी, तव?

खेदव मोजे कोकिल अलि कुल बारव कर कंकन झमकाई।
जखने जलदे धवलागिरि बरिसब तखनुक कओन उपाई ॥

वर्षा के नाम से राधा व्याकुल हो उठती है। वह अपने को पावस के प्रकोप से वचने में सर्वथा असमर्थ पाती है।

* ....Oh! What without our youth
Would love be! What would youth be without love!
—Byron.

क्योंकि "बरसा बरिअ बसन्तहुँ चाहि" अर्थात् वसन्त से भी अधिक ज्वाला वह पावस में ही अनुभव करती है। राधा सखी से कहती है कि प्रियतम से जाकर निवेदन करो कि विरहिणी के लिये वर्षाऋतु बड़ी विषम होती है—

कहब समाद बालमु सखि मोर, सब तहँ समय जलद बड़ घोर।
एके अबला हे कुपुत पचबान, मरम लखए कर सर सन्धान॥

पुन:—

कहब कलावति कन्त हमार, बारिस परदेश बसाय गमार॥
सब परदेसिआ एके सोभाव, गए परदेश पलटि नहि आव॥

दोनों पद रस से शराबोर हैं। 'बारिस परदेश बसय गमार' में मार्मिकता के संग संग कृष्ण के प्रति कैसा मधुर व्यंग्य है! फिर 'सब परदेसिया एके सोभाव, गए परदेश पलटि नहि आव' में विद्यापति ने निखिल विश्व की विरहिणियों की वेदना को मानो व्यक्त कर दिया है। राधा आत्यन्तिक विरह-दुःख में वैयक्तिक कष्ट की कटु अनुभूति से विश्वव्यापी दुःख का अनुभव करने लगी है तभी तो वह कहती है कि "केओ जनु अनुभव जग जन विरह पराभव रे," एवं "नाह विछोह काहु जनु होय"।

पावसकालीन विरहोद्वेग के एक-से-एक उत्तम पद पदावली में पाये जाते हैं। विस्तार-भय से उन सब पर प्रकाश डालना असम्भव है। विरह की पदावली को जितनी बार पढ़िये, करुणा की लहर में जितनी डुबकियाँ दीजिये, हृदय एक अलौकिक आनन्द से आप्लावित हो जायगा। दुःखाभिभूत

राधा का करुण-क्रन्दन कितना हृदयविदारक एवं करुणोत्पादक है, सुनिये—

हे सखि हमर दुखक नहि ओर।
ई भर बादर माह भादर शून्य मन्दिर मोर॥
झम्पि धन गरजन्ति सन्तति भूवन भरि बरिखन्तिया।
कन्त पाहुन काम दारुण सघने खर शर हन्तिया॥
कुलिश कत शत पात मोदित मयुर नाचत मातिया।
मत्त दादुरि डाके डाहुकि फाटि जातय छातिया॥
तिमिर दिग भरि घोर यामिनि अथिर विजुरिक पाँतिया।
विद्यापति कह कैसे गमाओब, हरि बिना दिन रातिया॥ ❀

गीत का अर्थ स्पष्ट है। पद के अक्षर-अक्षर से भग्न हृदय का हाहाकार प्रतिध्वनित हो रहा है। आह की आग ज्वालामुखी की तरह एकबार ही निकल पड़ी है। एक ओर प्रकृति में उल्लास अठखेलियाँ खेल रहा है, तो दूसरी ओर विषम नैराश्य का नग्न नृत्य हो रहा है। आनन्द और निराशा का सम्मिश्रण कितनी बारीकी के साथ सन्निहित है, अनुभव कीजिये। बादल आकाश के मैदान में आनन्दातिरेक से गरजते-बरसते सम्पूर्ण संसार को जल से डुबो रहा है, मयूर मत्त होकर नाच रहा है। प्रमत्त दादुर आनन्द से कोलाहल कर रहा है। चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार है। ऐसी अन्धेरी रात में बिजली केलि-क्रीड़ा से

❀ तुमि यदि ना दाओ देखा, करो आमाय हेला।
केमन करे काटबे आमार एमन बादल बेला॥ —रवीन्द्र

चंचल हो रही है; परन्तु इस भरे भादव में 'शून्य मन्दिर मोर' एकमात्र मेरा ही घर सूना है। 'भरा गृहे शून्य आमी तोमा विहने'—रवीन्द्र (गीताञ्जलि)।

प्रेमी एवं रसज्ञ पाठक! आनन्द उपभोग के सभी साधन रहते हुए भी "शून्य मन्दिर मोर" की ओर कुछ ध्यान दीजिये। समस्त पद में व्याप्त 'शून्य मन्दिर मोर' के कारुणिक भाव को कौन व्यक्त कर सकता है? इसकी मार्मिकता एवं गूढ़ भाव-व्यंजना पर कवीन्द्र रवीन्द्र रीझे हुए हैं और इस पद की प्रशंसा में उन्होंने कवि की दिल खोल कर अर्हणा की है। इस प्रसंग में वैष्णव पदावली के पारंगत विद्वान् स्वर्गीय सतीश चन्द्र-राय क्या कहते हैं, उसे भी कुछ सुनते चलिये—'विद्यापतिर "ए सखि हमारि दुखेर नहि ओर" इत्यादि बहु पदे बहिः प्रकृति ओ अन्तः प्रकृतिर ये अपूर्व्व मणि-कांचन-योग संघटित हइयाछे, उहार तुलनास्थल विश्व साहित्यओ बड़ अधिक मिले ना' [पद कल्पतरु ५ वां भाग पृ० १७०]

विद्यापति की राधा कुल-ललना है। वह कृष्ण के प्रेम में जितनी बाधा, जितनी यातना और जितनी व्यथा सहती जाती है, प्रेम का सोना उतना ही तप कर चमकता जाता है, प्रेम की मात्रा चन्द्रकला की तरह बढ़ती ही जाती है। विरह के इस दुस्सह दुःख को सहन करती हुई राधा स्वप्न में भी कृष्ण के प्रति कटूक्ति नहीं कहती। कुवाच्य कहना वह जानती ही नहीं। विरह दुःख का दोष अपने प्रियतम के गले नहीं मढ़ कर उसे भी वह अपने ही कर्म का दोष

समझती है। 'अप्पन कर्मक दोष' तथा 'की करत नाह दैव भेल बाम'। इसी भाव को निम्न पद में कितनी व्याकुलता से व्यक्त किया गया है—

नागर हमर रहल दुर देश, केश्रो नहि कह सखि कुशल सन्देस ॥
ए सखि काहि कहब अपतोस, हमर अभाग पिया नहि दोस ॥
पिया बिसरल सखि पुरुब पिरीति, जखन कपाल वाम सभ विपरीत ॥
मरमक वेदन मरमहिं जान, आनक दुःख आन नहि जान ॥
भनइ विद्यापति न पुरल काम, की करति नागरि जाहि विधि वाम ॥

विद्यापति की विरहिणी, राधा के साथ एक बार कालिदास की विरहिणी सीता का भी विलाप सुनते चलें—

कल्याण बुद्धेरथवा तवायं न कामचारोमयि शङ्कनीयः।
ममैव जन्मान्तर पातकानां विपाक निस्फूर्जथुर प्रसह्यः ॥

पूर्व जन्म के पाप एवं विधाता पर सब दोषों को मढ़ती हुई प्रियतम-प्राणा-राधिका का प्रेम विरह-पुट में तप कर इस प्रकार विशुद्ध हो गया है कि वह अब दृढ़ता पूर्वक दैवका उपहास करती है। ठीक है, प्रेम की महिमा के समक्ष विधि की विडम्बना का क्या विसात? पद पढ़िये—

कोन गुन पहु परवश भेल सजनी, बुझलि तनिक भल मन्द।
मनमथ मन मथ तनि विनु सजनी; देह दहय निसि चन्द ॥
कहश्रो पिसुन शत अवगुन सजनी, तनि सम मोहि नहि आन।
कतेक यतन सों मेटिय सजनी, मेटय न रेख पखान ॥
जे दुरजन कटु भाषय सजनी, हरिन न तेज हिमधाम ।
जइश्रो तरनि जल शोषय सजनी, कमल न तेजय पाँक ॥
जे जन रतल जाहि सों सजनी, कि करत बिहि भए बाँक ।

जो एक वार किसी सुजन के प्रेम-पाश में आवद्ध हो गया, उसका विधाता वाम ही होकर क्या कर सकता है ? पत्थर में आलिखित चित्र, कितना भी यत्न किया जाय, क्या मिट सकता है ? क्या राहु द्वारा ग्रसित होने पर भी चन्द्रमा अपने अंकस्थ हरिण को छोड़ देता है ? यद्यपि सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणों से पंक को सुखा डालता है तो क्या कमल पंक को छोड़ देता है ? कदापि नहीं, भले ही लोग कृष्ण की लाख निन्दा करें; परन्तु हमारे लिये तो वे ही एक जीवनाधार हैं।

इस प्रकार प्रेम की दृढ़ता रहते हुए भी राधा को कृष्ण के दर्शन की लालसा विह्वल वना देती है। वह कहती है कि यदि मुझे पत्ती वनाने की शक्ति होती तो मैं उड़ कर अपने प्रियतम के पास पहुँच जाती। अपना दैन्य-दुःख सुना आती! किन्तु हा हन्त! इसका कोई चारा ही नहीं!! प्रियतम को लाकर मेरे प्राण की पिपासा को वुझाने वाला संसार में कोई नहीं दीख पड़ता। इस प्रसंग की पंक्ति पृ० १८४ में देखिये।

अच्छा, इधर तो राधिका जागृत अवस्था में विरह की मरुभूमि में मूर्छित होती रही है; किन्तु क्या कोई दूसरा उपाय है, जिससे एक त्तण के लिये भी उसके व्याकुल प्राण को 'ओएसिस' के समान शान्त्वना की कोई जगह मिले ? स्वप्न में प्रियतम की झाँकी तो उसे मिलती होगी—निरवच्छिन दुःख-प्रवाह में वहती हुई राधा एक तिनके का सहारा पाकर भी तो एक साँस लेती होगी। किन्तु हन्त! वह भी असम्भव हो गया है। विधाता ने स्वप्न-लोक भी उसके लिये

दुर्लभ बना दिया। विद्यापति की राधा कहती है—

सपनहु संगम पाओल रंग बढ़ाओल रे।
से मोर बिहि विघटाओल निन्दओ हेराएल रे॥

नीन्द आवे कहाँ से ? वह तो प्रियतम के साथ ही विदेश-यात्रा को निकल गई।

सपनेहु तिला एक तन्हि सओ रंगे, निन्द विदेसल तन्हि पिया संगे।*

एक उर्दू कवि के कलाम का मुलाहिजा फरमाइये—

निंद को भी नींद आजाती है हिज्रे-यार में।
देख कर वेख्वाव हमको आप सो जाती है नींद॥

राधा की ऐसी अवस्था देखकर सखियाँ नलिनी दल की शय्या एवं चन्दन आदि का उपचार करती हैं जिससे किसी तरह निन्द आ जाय! किन्तु राधा कहती है—

की करत चन्दने की अरविन्दे, विरह विसर जओ सूतिअ निन्दे।
अवधु सखी जन न वुझय आधि, आन औषध कर आन वेयाधि।

राधा का प्रेमोत्कर्ष वर्णनातीत है। उसे प्रियतम की रट अविछिन्न लगी हुई है। प्रियतम को विरह में भुला दे, विरह की याद न सताये तभी तो उसे नींद आये। किन्तु यह सम्भव कहाँ?

राधा को अब कोई लालसा नहीं रह गई है। यदि कोई लालसा है, तो केवल प्रियतम की एक झांकी की। वह कहती है कि कृष्ण जहाँ रहते हैं, वहीं जाकर रहें; किन्तु एक वार वे दर्शन तो दे जायँ—

ओतहि रहथु गए फेरि, हे सखि दरसन देथु एक वेरि॥

---

*......................neither change of place,
Nor time, nor skill, nor remedy, could give her
Senses to sleep—the power seem'd gone for ever. —Byron.

प्रियतम के दर्शनों के लिये राधा उद्भ्रान्त है। वह यह नहीं समझती है कि प्रियतम को क्षण मात्र के लिये भी लौटा लाने की प्रार्थना किससे करें, किससे नहीं करें। वह भ्रमर को सम्बोधित कर अपने हृदय की आह से ही प्रार्थना की कड़ियाँ जोड़ती है—

पिया सओ कहब भमर वर पलटि आओब सेहे देश।
आए देखब निज भाविनि तओ वरु जाएब बिदेश॥
शैशव समय बहिए गेल जउवने तनु लेल बास।
ततहूँ तोरित चलि जाएब पुरए रहति मोरि आस॥

राधा के एकान्त विरह में प्रेम के साथ-साथ त्याग का उत्कर्ष भी छोर तक पहुँचा हुआ है। राधा के त्याग का उत्कर्ष वर्णनातीत है। खास कर जब वह कहती है—

मोहि वरु अतनु अतनु कए छाड़थु से सुखे भूजथु राजे।

पुनः—साजनि जीवथु सए पचास,

सहसे रमनि रयनि खेपथु मोराहु तन्हिके आस।

ऊपर के चरणों में नैराश्य-पूर्ण त्याग-मय जीवन का जो भावोच्छ्वास है, प्रियतम के कल्याण की जो कामना है, एवं निरवलम्ब का जो कातर क्रन्दन है, उनका अनुमान सहृदय-हृदय-संवेद्य है।

द्रौपदी के चीर के समान विरह की अवधि बढ़ती ही जाती है। त्याग की इतनी मात्रा रहते हुए भी प्रेमाधिक्य से राधा अधिकाधिक विह्वल हो रही है। उसे न शारीरिक चैन है, और न मानसिक शान्ति। निभृत मन के अतल तल की

व्याकुल-व्यथा सहस्र धारायें होकर बह रही हैं। करुणा की तरंग में एक डुबकी लगा लीजिये—

अंकुर तपन तापे यदि जारब कि करब वारिद मेहे।
ई नव यौवन विरहे गमाओव कि करब से पिया नेहे॥
हरि हरि के इह दैव दुराशा।
सिन्धु निकटे यदि कण्ठ सुखाएब के दुर करब पियासा॥ *
चन्दन तरु जब सौरभ छोड़ब शशधर बरिखब आगि।
चिन्तामणि जब निज गुण छोड़ब की मोर करम अभागि॥
श्रावण महँ घन विन्दु न बरिखब सुरतरु बाँझ कि छन्दे।
गिरिधर सेवि ठाम नहिं पाएब विद्यापति रहु धन्धे॥

उपर्युत पद व्याख्या की वस्तु नहीं। इस पद में कवि ने व्याकुल हाहाकार का साकार चित्र बना डाला है। छन्द की मन्थर गति भङ्गिमा एवं कातर-क्रन्दन की कारुणिकता वर्णनातीत है!

अब देखिये स्त्री-सुलभ शकुन का विचार। कालिदास की यक्षिणी 'त्वंहि तस्य प्रियेति' कहकर पति के विरह को उद्दीप्त करती है, किन्तु यहाँ काक की भाषा से प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा और आकुलता को नव जीवन दिया गया है—

काक भाष निज भापह रे, पिय आओत मोरा।
चीर खीर भोजन देव रे, भरि कनक कटोरा॥

फिर—

सोने चंचु बँधाए देव मोजे वाएस जजो पिया आओत आज रे।

---

* Water, water, every where.
Not a drop to drink. —Coleridge.

इन्हो भावों पर कवि 'तोष' का एक सुन्दर कवित्त देखिये-

पैजनी गढ़ाइ चोंच सोने से मढ़ाइ दैहौं
कर पर लाइ पर रुचिर सो सुधरि हौं।
कहैं कवि'तोष' छिन अटक न लै हौं कवौं
कंचन कटोरे अटा खीर भरि धरि हौं॥
ऐरे कारे काग तेरे सगुन संजोग आजु
मेरे पति आवैं तौ वचन ते न टरि हौं।
करती करार तौन पहिले करूँगी सबे
आपनो पिया को फिर पीछे अंक भरि हौं॥

विरहाकुल राधा के दर्शनों की उत्कट लालसा की पूर्त्ति जब नहीं होती तब निराश होकर वह कातर स्वर से कहती है-

जगत जनमि सखि हम सनि, नहि धनि दोसर करम हीनि॥
हरि संग कएल रभस जत, विसलेखे चिप सन भेल तत॥
निरवधि विरह पयोनिधि, कतहु मरन नहि देल विधि॥

विरह में संयोग सुख का स्मरण भी विषवत् हो रहा है। हा! अवधि रहित विरह-पयोधि में विधाता ने मृत्यु का विधान भी नहीं बनाया!

अभी तक इसी बात की चर्चा की गई है कि विरह-विधुरा-राधा की आन्तरिक व्याकुलता की मात्रा किस कोटि की है। अब हम यह बतलाना चाहते हैं कि विरह की व्याकुलता का चित्र सखी किस तरह उतारती है। देखिये—

पहर पहर युग यामिनि यामिनि जगइते रे।
मुरछि परय महि माँझ साँझ शशि उगइत रे।

राधा को एक क्षण का भी विरह अब एक युग सा प्रतीत होता है। चन्द्रमा का उदय होते ही अब वह मूर्च्छिता हो जाती है।

इधर राधा दिन-प्रति-दिन क्षीण होती जाती है और उधर शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा बढ़ता जाता है। मालूम होता है कि राधा की आभा से ही चन्द्रमा शनैः-शनैः कलापूर्ण हो रहा है। कल पूर्णिमा होनेवाली है अतएव सखी को आशंका है कि जीवनकला का कोष बिल्कुल रिक्त न हो जाय क्योंकि राधा की सम्पूर्ण आभा पूर्णचन्द्र में जाकर केन्द्रीभूत हो जायगी और राधा का जीवन निःशेष हो जायगा।

जखन सुनल सखि हिमकर नाम, तैखन मुरछि पड़लि सोई ठाम॥

काल्हि पुनिम शशि कइसे जिउ धरती, चान्द छटा धनि टूटहिं परती॥ +

मृणाल तन्तु के समान राधा क्षीण हो गई है। सखी साहस करने पर भी छूने से डरती है कि कहीं स्पर्शमात्र से वह टूट न पड़े। इसलिए विरह-ज्वाला की शान्ति के लिये जब कोई नील कमल से हवा करना चाहती है तब उसे हृदय में यह डर होता है कि कहीं वायु-वेग में विरहिणी उड़ न जाय।

नील नलिनि लए जब कर वाए, हृदय रहए भय उड़ि जनु जाए।

ऐसी अवस्था में राधा मूर्च्छित हो जाती है। सखियों को

+ इसी भाव का एक संस्कृत श्लोक है—

यावद् यावद् भवति कलया पूर्णकायः शशाङ्क-
स्तावत्तावद्द्युतिमयः वपुः क्षीयते सा मृगाक्षी।
मन्ये धाता घटयति विधुं सारमादाय तस्या-
स्तस्माधावन्न भवति सखे! पूर्णिमा तावदेहि॥

आशंका होती है कि कहीं राधा अपनी ही साँसों के वातुल वेग से उड़ न जाय। इसी से—

सखी जन आँचरे धइलि झाँपए, अपनहि साँसे जाइति उड़िआए ॥

अब राधा की उपान्त अवस्था आ गई। कवि ने कितना सुन्दर कारुणिक चित्र इस पद में चित्रित किया है—

माधव कत परबोधव राधा।
हा हरि हा हरि कहतहिं बेरि बेरि अब जिउ करब समाधा ॥
धरणि धरिय धनि जतनहि बैसति पुनहिं उठइ नहि पारा।
सहजहिं विरहिणि जग माहा तापिनी बैरि मदन शर धारा ॥
अरुण नयन नोरे तीतल कलेवर विलुलित दीघल केशा।
मन्दिर बाहिर करइते संशय सहचरि गणतहि शेषा ॥
आनि नलिनि केओ रमनि सुताओलि केओ दइ मुख पर नीरे।
निसवद पेखि केओ सास निहारए केओ दइ मन्द समीरे ॥
की कहब खेद भेद जनि अन्तर घनघन उतपत श्वासा।
भन विद्यापति से हो कलावति जीवन बन्धन आशा ॥

राधा की यह नितान्त शोचनीय अवस्था है! वह बिल्कुल मरणासन्न हो गई है। किन्तु आशा ही एक ऐसी उलझन है जिससे उसके प्राण अपने को छुड़ा नहीं सकते।

विरहिणी 'वाला मखसाला'-सी बनकर अब प्रेम-यज्ञ का अन्तिम अनुष्ठान कर रही है। इस यज्ञानुष्ठान का दृश्य भी देखिये—

लोचन नीर तटनि निरमाने, करए कमल मुखि तथिहि सनाने ॥
वृन्दावन कान्हु धनि तप करई, हृदय वेदि मदनानल बरई ॥

सरस मृणाल कइए जपमाली, अहनिसि जप हरि नाम तोहारी ॥
जिव कर समधि समर करे आगी, करति होम बध होएबह भागी ॥

अश्रु की नदी निर्माण कर राधा उसमें स्नान करती है। वृन्दावन-सा पुण्य क्षेत्र में उसने इस यज्ञानुष्ठान का श्रीगणेश किया है। सरस मृणाल की जपमाला बनाकर अहर्निश वह हरि नाम का जप किया करती है। हृदय की वेदी पर मदनानल प्रज्वलित हो रहा है। जीवन को इन्धन, स्मृति को अरणी बनाकर उस विरह यज्ञ में वह अपने को प्रेमाहुति चढ़ा रही है अब उसके बधके भागी कृष्ण को ही होना होगा।

ऐसी अवस्था में राधा को कृष्ण नाम का जप 'जीवन मूरि' जिलानेवाला रसायन हो गया है। इसी बल पर वह किसी प्रकार जीवन धारण कर रही है। कृष्ण नाम को संजीवनी बूटी से कम महत्त्व कब दिया गया है? देखिये—

केओ सखि ताकए निशासे, केओ नलिनी दल करए बतासे।
केओ बोल आएल हरी, सुमरि उठलि- चिर नाम सुमरी।

प्रेम की कैसी प्रगाढ़ता है! प्राणाधार का नाम सुनते हीं प्राण किस प्रकार पुलकित हो उठते हैं! अहा! 'हरि' नाम में कैसी संजीवनी शक्ति है!!

राधा के प्रेमोन्माद वर्णन का वह बहुमूल्य पद जो प्रायः किसी भी साहित्य की सम्पत्ति कहा जा सकता है यथा—"अनुखन माधव माधव सुमिरइत सुन्दरि भेलि मधाई" उसे पृ० ११२ में देखिये। विद्यापति के और भी विरह के अनेक उत्कृष्ट पद पूर्व में तुलनात्मक-आलोचना के अध्याय में हम उद्धृत

कर चुके हैं। उन्हें यहा उद्धृत करना हम व्यर्थ समझते हैं।

विरह-विधुरा राधा को यदि कोई सखी कृष्ण की भर्त्सना करती हुई कहती है कि वे कठोर हो गये, उनका विवेक जाता रहा, जब उन्होंने तुम्हें भुला ही दिया तब तुम्हीं क्यों उनका बारम्बार स्मरण करती हो? अब उनका नाम रटने से क्या लाभ? अच्छा यही है कि उनके नाम को भूल जाओ। इसपर राधा की सूक्ति सुनिये—

पासरइते बदन होएत अवसान, कहि न जात बूझत व्यवधान॥

राधा कहती है कि उन्हें भूलते ही इस शरीर का अवसान हो जायगा। राधा के लिये हरि नाम मानो 'हारिल की लकड़ी' हो रहा है। इस गीत के अन्तिम पद में राधा पूछती है कि "एतेक विपदे जीये कस देह"। इसका उत्तर हमारे विद्यापति—'भन विद्यापति विषम सिनेह' से देते हैं। ठीक ही है, स्नेह बड़ा ही टेढ़ा है। इसकी महिमा कौन जान सकता है?

जब राधा मृत्यु के निश्चय तक पहुँच जाती है तब भी कृष्ण को छोड़कर मरने में उसकी जो व्याकुलता है उसका इस प्रसिद्ध पद में चित्र बन गया है। पद की दो पंक्तियाँ मात्र उद्धृत हैं—

मरिब मरिब सखि निश्चय मरिब, कानु हेन गुण निधि कारे दिय जाब।

हे सखी, मैं मरूँगी अब मैं निश्चय मरूँगी—किन्तु कृष्ण के समान गुणनिधि को किसपर छोड़ जाऊँगी? इस पद में आगे चलकर राधा आदेश देती है कि हे सखी, मरने के

समय कृष्ण-नाम मेरे अंग प्रत्यंग में लिखना। हे ललिता सखी, हमारे कानों में कृष्ण नाम का मन्त्र कहना। मरणोपरान्त हमारे शरीर को न जलाना और न पानी में बहाना। उसे काले तमाल की डाल में बाँधकर रखना; कारण यदि कभी प्राणाधार प्रियतम आयँगे तब उनके अमृतमय रूप के दर्शन कर पुनः प्राण धारण करूँगी। अनन्त प्रेम की अनन्त लालसा! अशेष आशा की अशेष अवधि!! बंगाल के वैष्णव समाज में इस पद का बड़ा आदर है। इस-पद-का भावोच्छ्वास भक्तों के नयनों से मन्दाकिनी की तरह फूट निकलता है।

अब राधा सब द्वन्द्वों से मुक्त है, कारण वणिक् यमराज ने उसके प्राणों को खरीद डाला है। सब प्रकार निराश हो अब वह अन्तिम जलाञ्जलि की ही एक मात्र अभिलाषिणी बन रही है—

हुनि अरजल अपयस अपकार, हमे जिवे अछिरल जम बनिजार॥
आवे सुखे कन्हाइ रहथु विदेश, सुमरि जलाञ्जलि दिहथि सन्देश।
वह मलयानिल भर मकरन्द, उगओ सहस दस दारुण चन्द॥
करओ कमल वन केलि भमरा, आवे की भल मन्द होएत हमरा॥

इस मरणासन्न अवस्था में भी राधा का त्याग लोकोत्तर है। 'आवे सुखे कन्हाइ रहथु विदेश''—में त्याग का उत्कर्ष चरम सीमा तक पहुँच गया है। 'सुखे' शब्द में कुलाङ्गना का हृदय चित्रित है। अब तो एक मात्र अभिलाषा यही है कि 'तिथेषु तोयाञ्जलिः''। पुनः पुनः वही प्रार्थना—

एतवा बोलि कहब मोरि सेवा, तिरथ जानि जल अंजुलि देबा।

प्रियतम के प्रत्यागमन की चिरविश्वस्ता राधा का नैराश्य अत्यन्त करुणापूर्ण एवं हृदयवेधी है ! कठोर से कठोर हृदय भी इस पर मोम नहीं बनेगा—यह असम्भव है। राधा की मृत्यु की अभिलाषा एवं उसका आदर्श भी कैसे भावोत्कर्ष से भरा है, निम्न पद में अवलोकन कीजिये—

आन करह हिय विहिं कैल आन, अबहु न निकसए कठिन परान ।
श्रवणहिं श्याम नाम करु गान, जपइते निकसओ कठिन परान ।

'श्रवणहि श्याम नाम करु गान, जपइते निकसओ कठिन परान' से बढ़कर प्रेम का प्रदर्शन, सुखद देहावसान की भावना क्या हो सकती है ? इस प्रकार की मृत्यु कौन नहीं चाहेगा ? ऐसी मृत्यु साधुओं के लिये भी दुर्लभ है। विद्यापति के इस प्रकार के पवित्र भाव-कमल पर किसका मत्त-मधुप मुग्ध नहीं होगा ? कौन नहीं "श्रवणहि श्याम नाम करु गान, जपइते निकसओ कठिन परान" का अभिलाषी होगा ? धन्य विद्यापति ! और धन्य यह स्पृहणीय मृत्यु का आदर्श !!

पाठक वर्ग ! आपने राधा का विरहोत्कर्ष के कुछ छन्द सुने परन्तु उसके विरह से कृष्ण कितने विकल हैं उसकी खोज आपने अभी तक न ली । कुछ उनकी भी तो खोज खबर लेते चलिये । एक दो पदों का रसास्वदन कीजिये—

कीर कुटिल मुख न बुझ बेदन दुख बोल वचन परमाने ।
बिरह बेदन दह कोक करुण सह सरुप कहत के आने ॥
हरि हरि मोरि उरबसि की भेलि ।
जोहइते धावओ कतहु न पावओ मुरछि खसलो कत बेली ॥

गिरि नरि तरुअर कोकिल भ्रमर वर हरिन हाथि हिम धामा ।
सभक परओं पय सबे भेल निरदय केओ न कहय तसु नामा ॥
मधुर मधुर धुनि नेपुर रव सुनि भमओं तरंगिनि तीरे ।
मोरे करमे कल हंस नाद भेल नयन विमुञ्चो नीरे ॥
हरि हरि कोन परि मिलति से परसनि कवि विद्यापति भाने ।
लखिमा देवि पति सकल सुजन गति नृप शिवसिंह रस जाने ॥

राधा के वियोग में कृष्ण के हृदय मे हाहाकार मचा है। वह हृदयविहारणी राधा के विरहोन्माद में चारों ओर दौड़ लगा रहे हैं—गिरि, नदी, तरुवर, कोकिल, भ्रमर, हरिण हाथी, चन्द्रमा आदि सब के पैरों पड़कर अपनी प्रियतमा का पता पूछते हैं। किन्तु कोई कुछ पता नहीं बतलाता। मधुर कलरव सुनकर उसे प्रियतमा की नूपुर की ध्वनि अनुमान कर वे यमुना के किनारे भटक रहे हैं; परन्तु जब उन्हें वह कलरव नूपुर की ध्वनि के बदले कल हंस-नाद प्रमाणित होता है तब वे अत्यन्त निराश होकर आँसुओं की धारा बहाने लगते हैं। पद के अक्षर-अक्षर से उनकी वेदना टपक रही है।

कृष्ण को पूर्व के रंग-रभस का सहसा स्मरण हो आता है। वे कह उठते हैं—

तिल एक शयन ओत जिउ न सह न रहु दुहु तनु भीन ।
माँझे पुलक गिरि अन्तर मानिये ऐसन रहु निशि दीन ।

एक वह समय था, जब शय्या पर प्रियतमा से एक तिल का अन्तर भी असह्य था, इतना ही क्यों पुलकावली होने से जो अन्तर पड़ता था वह ऐसा प्रतीत होता था

मानों बीच में पहाड़ ही आ खड़ा हुआ है। लेकिन आज? आज उसका संकेत भी मिलना कठिन है। आज तो एक ऐसा समय आ उपस्थित हुआ है कि 'हम कहाँ और वह कहाँ'?

विलास की सभी सामग्रियाँ उपलब्ध रहती हुई भी कृष्ण को वे सभी दुःखद ही प्रतीत हो रही हैं—

ऐसन नगर ऐसन नव नागरि ऐसन सम्पद मोर।
राधा बिनु सब बाधा मानिये नयन न तेजय नोर॥

जब हम कृष्ण के मुँह से "राधा बिनु सब बाधा मानिये" सुनते हैं तो उनके हृदय को धूधू करके जलती हुई चिन्ताग्नि की लपट साफ दिखाई पड़ती है। सचमुच राधा एवं कृष्ण का प्रेम—'सागरः सागरोपमः' है। यदि आत्मा परमात्मा के विरह से व्याकुल है तो परमात्मा भी आत्मा के विछोह से विलक हैं। दोनों का पारस्परिक आकर्षण पराकाष्ठा का है। गीति-साहित्य में इस प्रकार के आदर्श प्रेम का प्रथम प्रवर्तक विद्यापति ही हैं।

पुनर्मिलन

यह प्रकृति का नियम है कि दिन के बाद रात और रात के बाद दिन, सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख होता ही है। महाकवि भास ने ठीक ही कहा है कि "चक्रार-पंक्ति-रिव गच्छति भाग्य-पङ्क्ति"। महाकवि कालिदास भी कहते हैं— 'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण'। विद्यापतिने इसी चिरन्तन सिद्धान्त को अपने काव्य में चरितार्थ किया है। उनका आदर्श ही यह है कि 'जेहन विरह हो तेहन सिनेह'।

राधा एवं कृष्ण जिस वियोग की असह्य वेदना सहते रहे, वह सर्वदा के लिये नहीं रही। अन्त में राधा और कृष्ण का, आत्मा और परमात्मा, का पुनर्म्मिलन होता है। विकट विरहोपरान्त सुखद सम्मिलन की उल्लासोक्ति में जो उल्लास है वह सर्वथा निरुपम है। उसकी भी कुछ वानगी लेते चलिये।

कृष्ण के आने की खबर है। राधा आनन्दोल्लास से पगली हो रही है। जब कृष्ण गोकुल वापस आयँगे तब वह किस प्रकार उनका स्वागत करेगी, क्या साज सजेगी, क्या क्या उत्सव-आनन्द मनायेगी, इनका विवरण इस पद में पढ़िये—

जब हरि आओव गोकुल पुर, घरे घरे नगरे बजाव जय तूर॥
अरिपन देयब मोतिम हार, मङ्गल कलस करब कुच भार॥
सहकार पल्लब चुम्बन देवि, माधव सेवि मनोरथ लेवि॥
धूप दीप नैवेद्य करब पिया आगे, लोचन लोरे करब अभिशेके॥
आलिङ्गन आहुति पिया कर आगे, भनइ विद्यापति इह रस भागे॥

परमोल्लास में राधा गोकुल नगर के घरघर में मांगलिक जयगान का उद्घोष करेगी। अपने देह रूपी गेह में मोती की माला का 'अरिपन' देगी। कुच को 'कलस' बनायेगी। धूप, दीप, नैवेद्य, से अपने प्रियतम की पूजा करेगी। झर-झर प्रवाहित आनन्दाश्रु से ही प्रियतम का 'पूर्णाभिषेक' करेगी आलिङ्गन की ही 'आरती' उतारेगी।

प्रेमी पाठक! प्रियतम की पवित्र पूजा के लिये पूजोपकरण पर ध्यान दीजिये। निज निवेदित शरीर ही पूजोपकरण है। धूप, दीप, नैवेद्य से हमलोग भी आराध्य देव की

आराधना करते हैं। आज राधा उन्हीं उपकरणों से हृदयाराध्य की आराधना करने चली है। इस प्रेमोपासना में अङ्ग सौरभ ही धूप, अङ्ग कान्ति ही दीप एवं सम्भोग सुख ही नैवेद्य बनेगा।

बहुत ही थोड़े–प्रायः किसी शृङ्गारी कवि ने–इस प्रकार सात्विक भाव का प्रदर्शन नहीं किया है। किस कवि की नायिका ने इस प्रकार धूप, दीप, नैवेद्य से अपने इष्ट देव की पूजा करने की योजना की है?

कृष्ण अब गोकुल आ गये हैं। राधा के हृदय में आनन्द की नदियाँ बह चली हैं—प्रियतम के दर्शन से सब द्वन्द्व दूर हो गया। आनन्दोद्रेक में राधा पगली हो रही है, अब वह कहती है—

सोइ कोकिल अब लाख डाकओ, लाख उदय करु चन्दा।
पाँच बान अब लाख बान होउ, मलय पवन बहु मन्द॥

एक दूसरा भी पद अवलोकन कीजिये—

की कहब हे सखी आनन्द ओर, चिर दिने मन्दिर माधव मोर॥
पाप सुधाकर जत दुःख देल, हरि मुख हेरइत तत सुख भेल॥
आँचर भरि यदि महानिधि पैब, तबहुँ न दुर देश पहु के पठैब॥
शीतक ओढ़ना ग्रीषमक वायु, बरषाक छत्र पिय दुर जनि जाउ॥
रभस आलिङ्गने पुलकित भेल, अधरक पाने विरह दुर गेल॥
भनइ विद्यापति आर नहि आधि, समुचित औखधे न रह बेयाधि॥

आत्मा के कल्याण के लिये परमात्मा की प्राप्ति ही एक मात्र समुचित औषध है। उसकी प्राप्ति होने से संसार की

कोई बाधा एवं आधि-व्याधि पास भटकने भी नहीं आती। सभी वाह्य और अन्तर्द्वन्द्व का अन्त हो जाता है।

वंगीय वैष्णव साहित्य में इस पद का एक महत्त्व पूर्ण इतिहास है। चैतन्य देव को पाकर इसी गीत को गाते गाते अद्वैताचार्य प्रेम में तल्लीन हो बेसुध हो गये थे। इसलिए इसमें स्तोत्र की पवित्रता है। हमारी अपनी धारणा है कि विरहान्त मिलन के जो अत्यन्त भावमय पद विद्यापति ने लिखे हैं वे विश्व साहित्य में दुर्लभ हैं।

प्रेम-वर्णन

विद्यापति प्रेमी थे। उनकी नस-नस में प्रेम का प्रवाह प्रवाहित हो रहा था। इसीलिए उनकी कविता में प्रेम का अनन्त भाव समुद्भासित है। प्रेम-पयोधि में स्वयं डुबकी लगाकर वे अमूल्य भाव-रत्न को प्रकाश में लाये हैं। सर्व प्रथम वे नितान्त पार्थिव-प्रेम के पुजारी थे। उनका पार्थिव-प्रेम का प्रकाश ही परमार्थ-प्रेम का प्रदर्शक हुआ। जो स्वयं प्रेमी नहीं है, वह प्रेम का रहस्य एवं उसके उत्कर्ष का वर्णन किस प्रकार कर सकता है? कविता अनुभव एवं अनुभूति की अभिव्यक्ति है। जिन कवियों को रस का अनुभव नहीं है, वे रससिद्ध नहीं हो सकते और न उनका वर्णन रसावतार करने में कृतकार्य हो सकता है। वैसे तो विद्यापति का समस्त काव्य प्रेम से शराबोर है, परन्तु देखना यह है कि प्रेम के प्रसंग में उनकी भावना क्या है। उन्होंने

प्रेम का क्या आदर्श अपने सामने रक्खा है। नव अनुराग के वर्णन में विद्यापति कहते हैं—

नयमे निवेदिय नव अनुराग।

नेत्रों से ही अनुराग अभिव्यञ्जित होता है। इसलिए प्रथम प्रेम का निवेदन नेत्रों से ही कर्त्तव्य है। कालिदास की भी यही रूलिङ्ग है यथा—स्त्रीणामाद्यं प्रणय वचनं विभ्रमो हि प्रियेषु। फिर आप कहते हैं—

हठ न करिय पहु न पुरत कामे, प्रथम रभस विचारक ठामे॥

'प्रथम रभस' जीवन का एक ऐसा सुकुमार मुहूर्त्त है जो उसे सुधामय अथवा विषमय बना सकता है। उसी समय 'किं कर्म किं कर्मेति' इस विचार का अधिक प्रयोजन है। दाम्पत्य जीवन की सफलता की कुंजी 'प्रथम रभस' को ही कहा गया है। प्रथम सम्मिलन में प्रेम-पिपासा की परितृप्ति कभी सम्भव नहीं, इसलिए कवि ने नायिका के मुख से कहा है कि "हठ न करिय पहु न पुरत कामे" फिर आप कहते हैं—

"पहिलुक प्रेमक परिभव दुसह सकल जन जान।
धैरज धनि धरि मने गुनि कवि विद्यापति भान॥

यह सब कोई जानते हैं कि प्रथम प्रेम का पराभव अत्यन्त असह्य होता है। इसलिए विद्यापति कहते हैं कि हे सुन्दरी, प्रथम प्रेम के दुःखों से घबराओ नहीं, इसको मन में विचार कर प्रेम में धैर्य धारण करो; क्योंकि प्रथम प्रेम में दुःख का होना अनिवार्य ही है।

विद्यापति के प्रेम में दृढ़ता एवं स्थिरता है। वे संसार

का सार इसीमें समझते थे कि यदि किसीसे क्षणमात्र के लिये एक बार भी संगम हुआ तो उससे जीवन पर्यन्त प्रेम का प्रतिपालन करना परम कर्त्तव्य है। इसलिये आप कहते हैं—

एहि संसार सार बथु ऐह, तिला एक संगम जाव जिव नेह।

संसार में प्रेम के समान अमूल्य दूसरी कोई वस्तु नहीं, जिसकी प्रेम से तुलना की जाय। इसलिये प्रेम की तुलना आप प्राण से ही देते हैं—

एक दिस मनिमय नवनिधि हेम, अओका दिस नव सुपुरुष प्रेम॥
निकुती तौलि कएल अनुमान, प्रीति अधिक थिक के नहि जान॥
प्रीतिक सम हे दोसर नहिं आन, जाहिं तुलना दिअ अपन परान॥
भनइ विद्यापति अनुपम रीति, दम्पति काँ हो अचल पिरीति॥

इस प्रकार निकुती पर तौलकर प्रीति का मूल्य कौन लगा सकता है? आपकी निकुती में प्रेम के पल्ले के आगे संसार की सारी निधियों वाला पल्ला भी हल्का ही जँचता है। हाँ, यदि प्राणों को दूसरे पल्ले पर रक्खा जाय तो प्रायः वह प्रेम के पल्ले की बराबरी कर सकता है। इसलिए आप दम्पति में इसी प्रेम की स्थिरता चाहते हैं।

जो सुजन हैं, उनकी प्रीति कभी विचलित नहीं होती। प्रकृति में विपर्यय हो जाय, असम्भव सम्भव हो, परन्तु 'सुजन पिरीत' कभी विपरीत नहीं हो सकती। अतएव उसे अतुलनीय ही कहना चाहिये।

क्षिति रेणु गन यदि गगनक तारा, दुइ कर सिचि जदि सिन्धुक धारा॥
पुरुब भानु जदि पछिम उदीत, तइअओ न विपरित सुजन पिरीत॥

माधव कि कहब आन; ककर उपमा दिअ पिरिति समान ॥
अचल चलय जदि चिअ कह बात, कमल फुटय जदि गिरिवर माथ ॥
दावानल शीतल हिमि-गिरि ताप, चान्द जदि विषधर सुधा धर साप ॥

फिर सुजन का प्रेम किस कोटि का होना चाहिये उस सम्बन्ध में विद्यापति की एक सूक्ति सुनिये—

सुजनक प्रेम हेम समतूल, दहइते कनक दुगुन होए मूल ॥
टुटइते नहि टूट प्रेम अद्भूत, यैसन बढ़य मृणालक सूत ॥*

कमल-तन्तु के साथ सज्जनों के प्रेम की उपमा देकर उसे अटूट दिखलाने की छटा, इनकी अपनी है। प्रेम को हेम बनाना भो कम विदग्धतापूर्ण नहीं।

विद्यापति का प्रेमानुभव का निष्कर्ष कितना सत्यम्, शिवम् और सुन्दर है अवलोकन कीजिये—

सखी की पुछसि अनुभव मोय।
सेहो पिरीति अनुराग बखानइत तिले तिले नूतन होय ॥ ×
जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल।
सेहो मधुर बोल श्रवणहि सूनल श्रुति-पथे परश न गेल ॥

---

* मान्य मित्र-वर श्रीयुत कृष्णानन्दन सिंह द्वारा प्रेषित—

Love of good is like the gold,
The more'tis heated lends charm twofold,
Wonder though tried, love doth not cease
Like the lotus stem-thread increase.

सदानुभूतमपि यः कुर्य्यान्नवनवं प्रियम्।
रागो भवन्नवनवः सोऽनुराग इतीर्य्यते ॥

कत मधु यामिनि रभसे गमाओल न बुझल कैसन केलि।
लाख लाख जुग हिय हिय राखल तइओ हिया जुड़न न गेलि॥
कत विदगध जन रस अनुभावन अनुभव काहु न पेख।
विद्यापति कह प्राण जुड़ाइत लाखे न मीलल एक॥

विद्यापति के प्रेम का आदर्श इतनी पवित्र भावना से अनुप्राणित है कि उनके प्रेम में परितृप्ति का सर्वथा अभाव है। पार्थिव-प्रेम की पग-डंडी से अपार्थिव-प्रेम के राज-मार्ग पर चलनेवाले प्रेमी-पथिक की अनुभूति अक्षर-अक्षर से प्रस्फुटित हो रही है। विश्वसाहित्य में स्थान अधिकृत करने वाला यह पद किस प्रेमी के कंठ का कण्ठहार नहीं बना?

अनुराग के अनुभव की गम्भीरता यहाँ तक है कि उसकी थाह लेने में राधा अपने को असमर्थ पाती है—

पियाक पिरीति हम कहइ न पार, लाख वदन विहि न देल हमार॥

भला क्या कहकर किसी के प्रति प्रेम का कोई वर्णन कर सकता है। वाक्य ठीक-ठीक भाव व्यक्त करने में सर्वथा असमर्थ है। प्रियतम के प्रेमानुराग की उपमा के अन्वेषण में राधा व्याकुल है। अपने हृदय-धन कृष्ण का वह क्या समझती है नीचे के पद में पढ़िये—

हाथक दरपन माथक फूल, नयनक अञ्जन मुखक ताम्बूल॥
हृदयक मृगमद गीमक हार, देहक सरवस गेहक सार॥
पाखिक पाँखि मीनक पानि, जीवक जीवन हम तुहु जानि॥
तुहुँ कइसे माधव कह तुहुँ मोय, विद्यापति कह दुहु दोहाँ होय॥

प्रेम की क्रमिक अनुभूति का अनुभव करती हुई राधिका उसकी व्यापकता की ओर बढ़ती है और कृष्ण को 'जीवक जीवन' समझती हुई प्रेमावेश में अत्यन्त व्याकुल हो उठती है। हृदय की शान्ति के लिये अपने जीवन-धन कृष्ण से वह पूछ बैठती है—'तुहुँ कइसे माधव कह तुहुँ मोय' अर्थात् हे माधव, बताओ कि तुम मुझे क्या समझते हो?

प्रेमी पाठक! इस प्रश्न में व्याकुलता की कितनी मात्रा है, इसे अवलोकन करें। प्रेमावेश में व्याकुल राधा के इस प्रश्न पर कृष्ण मूक हैं। किन्तु प्रेमी विद्यापति इस प्रश्न का कैसा सुन्दर उत्तर देते हैं। "विद्यापति कह दुहुँ दोहाँ होय" अर्थात् दोनों का प्रेम एक दूसरे के लिये अनन्योपमेय है।

विद्यापति ने प्रेमी और प्रेमिका के लिये क्या आदर्श उपस्थित किया है, कवि-कोकिल के प्रेम का आदर्श कितना ऊँचा है, उनकी प्रेम की फिलासफी कितनी सुन्दर एवं व्यापक है, अवलोकन कीजिये! विश्व-साहित्य में प्रेम का जो आदर्श उन्होंने रक्खा है, वह सर्वथा अजर, अमर रहेगा।

विद्यापति के काव्य-सौष्ठव का दिग्दर्शन अब हम यहाँ समाप्त करते हैं। पदावली को छोड़ अन्य रचनाओं के चमत्कार की चर्चा हमने नहीं की है। उनकी अन्यान्य रचनाओं में भी काव्य-सौष्ठव का प्रचुर प्रमाण प्राप्त होता है। परन्तु इस अध्याय के आदि भाग में ही हम निवेदन कर चुके हैं कि पदावली का पादानुसरण करते ही हम काव्य-सौष्ठव की चर्चा करेंगे। दूसरे स्थानाभाव से हम अन्यान्य रचनाओं

की चर्चा नहीं कर सके। जो कुछ हमने दिग्दर्शन कराया है उसमें पाठक देखेंगे कि विद्यापति ने उसी प्रेम-वर्णन का आश्रय लिया है जो आदि में लौकिक रहता है, पर विकसित होते-होते अन्त में दिव्य और अलौकिक हो जाता है। वह प्रेम जब तक लौकिक रहता है, तब तक उसे अपावन, घृणित या व्यभिचार जो कह लीजिये, पर जब ही विकास को प्राप्त हो पराकाष्ठा पर पहुँच कर अनन्त का आश्रय लेता है तब वह दिव्य और अलौकिक हो जाता है। उस समय उसमें व्यभिचार की गंध भी नहीं रहती। श्रीमद्भागवतकार का भी यही आशय जान पड़ता है। जब गोपियाँ प्रेम का पाठ पढ़ने लगी थीं तब उन्होंने गोपियों के लिये 'क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचार दुष्टाः' का व्यवहार किया। फिर जब वह प्रेम क्रमिक विकास से लौकिकता की सीमा लाँघ कर परम पद को पहुँच गया तब उन्हीं 'वन चरी र्व्यभिचार दुष्टा' ओं के चरण-रज की कामना उद्धव जैसे ब्रह्मज्ञानी करने लगे हैं। देखिये—

आसामहो चरणरेणु जुषा महं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्य पथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्द पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

महाकवि विद्यापति का भी यही आदर्श है। उन्होंने भी इसी पवित्र उद्देश्य से अपना प्रेम-काव्य लिखा है। कुछ समाज में अश्लीलता और व्यभिचार फैलाने के उद्देश्य से उन्होंने लेखनी नहीं उठाई है।

लोकप्रियता

विद्यापति के ऐसे महान् कवि की कविता के विषय में विस्तृत रूप से कुछ कहना असम्भव है। आप की सार्वभौम दृष्टि में, त्रिभुवन-व्यापिनी कल्पना की सुन्दर उड़ान में; अभिनव चमत्कार उत्पन्न करनेवाले रसराज की भावुकता में, मानव-जीवन के प्रेम-भाव के नैसर्गिक विकास के निगूढ़ निदर्शन में, नारी-हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव-भंगी के सुन्दर एवं चमत्कारिक विश्लेषण में और भक्ति-प्रसविनि कविता के नये नये भावोछ्वास में मानव समाज को 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' का कुछ ऐसा स्पष्ट दर्शन होता है जिससे मुग्ध हो संसार आज आपकी कविता की भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहा है।

कहा जाता है कि संस्कृत कवियों के शिरमौर कालिदास ग्रीक भाषा के कवि-सम्राट् होमर, इटालियन भाषा के कवियों में अग्रणी दान्ते और अंग्रेजी भाषा के मुकुट-मणि शेक्सपियर आदि महान् कवि एक मात्र तत्तत्य भाषा अथवा उन देशों की संकुचित सीमा में ही आबद्ध नहीं हैं वरन् उन्हें पार कर आज वे विश्व के वैभव माने जाते हैं। हम समझते हैं, यही बात विद्यापति के साथ भी अक्षरशः लागू है।

कवि-कोकिल की कमनीय कोमल काकली एक मात्र मैथिली भाषा तथा मिथिला की क्षुद्र परिधि ही में मुखरित नहीं हो रही है। उस काकली की नैसर्गिक माधुरी का रसा-

स्वादन कर भारतवर्ष आनन्दमग्न हो रहा है। इसमें कवि के प्रति हमारा अन्ध-प्रेम नहीं है। रवीन्द्रबाबू की जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित *The Golden Book of Tagore* नाम की पुस्तक में श्रीयुत *K. M. Panikkar* एक जगह लिखते हैं—

"*After all Vidyapati, Kabir, Mirabai, Tulsidas and Nanak have become the poets not merely of Maithili, Hindi or Panjabi but of India*" [पृ० १९४]*

इतना ही नहीं विद्यापति के सुमधुर भावों के चारु-चित्रण जिसमें समस्त मानव-समाज का प्रतिबिम्ब है उसे देखकर हम तो यह कहने का साहस करेंगे कि आप एकमात्र भारतवर्ष के ही महाकवि नहीं वरन् आपका स्थान विश्वकवियों के साथ है। हमारी धारणा तो यह है कि उमर खैय्याम की रूबाइयात की तरह यदि विद्यापति की चुनी-चुनाई कविता का अनुवाद प्रमुख पश्चात्य भाषाओं में हो जाय तो संसार आप-से-आप उन्हें विश्व-कवियों की श्रेणी में स्थान देगा।

विद्यापति की लोक-प्रियता के विषय में बहुत कहना व्यर्थ है। होमर, शेक्सपियर, गेटे आदि यद्यपि महान् कवि हो गये हैं फिर भी उनलोगों की पहुँच शिष्ट समाज तक ही सीमित है; परन्तु विद्यापति इतने लोकप्रिय हैं कि बङ्गाल और मिथिला के राजा से लेकर रङ्क तक, योगी से

---

* It was the part of the very source of Energy-the Divine Shakti of whom Vidyapati, the old poet of Mithila and Rama Prasad of Bengal sang. —Romain Rolland *(Life of Ramkrishna)*

भोगी तक, विद्वान् से मूर्ख तक, पुरुष से स्त्री तक सभी समाजों में आप समान रूप से आदृत हैं। यहाँ मिथिला की ही बात लीजिये। मिथिला में और अवसरों पर गाये जाने वाले विद्यापति के गीतों को छोड़ दीजिये। एक विवाह का ही अवसर लीजिये। यूथ की यूथ प्रोद्भिन्ननव-यौवनाओं की अनिर्वचनीय मद-सञ्जात उत्तरोत्तर वर्द्धमान स्फूर्ति से परस्पर गलबैंयाँ डाली हुई, अङ्ग-प्रत्यङ्ग परिलसित सुन्दर अलङ्कारों की छटा से दिशाओं को उद्भासित करती हुई, दोलायमान कर्णफुलों के ताल में किञ्चित् क्कणित कटि की किङ्किणी से ताल मिलाती हुई, अनवरत निनादि नूपुर के सुमधुर कलरव से पञ्चम राग का आलाप निकालती हुई, बीच बीच में अकथनीय मधुर गुदगुदी उत्पन्न करने वाले हास-परिहास से परिहास के लक्ष को लजाती हुई, हँसती, हँसाती, झूमती और 'सुन्दरि चललि सयन गृह ना, चहुँ दिशि सखि सब कर धय ना" आदि गीतों को स्वर्गीय सुन्दर अप्सराओं की तरह वीणा-विनिन्दक स्वरों में गाती, वातावरण को संगीतमय बनाती हुई, जब मैथिलानी गाने लगती हैं तो उन कोकिल-कंठी दिव्याङ्गनाओं का जो नयनाभिराम दृश्य विवाहोत्सव के समय मिथिला के घर-घर में दीख पड़ता है, उसको देखकर सहसा फिरदौसी का निम्नोद्धृत पद स्मरण हो आता है—

गर फिरदौस बररुए जमीनस्त।
हमीनस्तो हमीनस्तो हमीनस्त॥

यह तो हुई मिथिला के महिला-मण्डल में विद्यापति के विशाल प्रभाव की एक झाँकी। पुरुष समाज में भी विद्यापति कम लोकप्रिय नहीं हैं। पूजास्थल पर पद्मासन लगाकर सम्पूर्ण शरीर में भस्म लगाये एवं रुद्राक्ष की माला लटकाये डमरू के निनाद से दिशाओं को गुञ्जारते जब भाव विभोर हो भावुक भक्तजन "कखन हरब दुख मोर हे भोलानाथ" गाते हैं तो किसका हृदय भक्ति-भाव से गद्गद् नहीं हो उठता। मिथिला से झुण्ड-के-झुण्ड यात्री, श्री वैद्यनाथ धाम जाने के समय अपने कंधे पर 'कामरु' चढ़ाये, कत्तार बान्धे विद्यापति विरचित अनेकानेक 'महेशवानी' 'नचारी' आदि गीत गाते रास्ते का कष्ट भूलाते चलते में जो दृश्य उपस्थित करते हैं उसको देख कर सहसा मुग्ध रह जाना पड़ता है।

इतना ही क्यों गोधुली के समय यदा-कदा मिथिला के गावों में अभी तक आपको चरवाहे और घसवाहे भी विद्यापति विरचित गीतों का राग अलापते घर आते दीख पड़ेंगे। संक्षेपतः विद्यापति अपने देश और अपने समाज के रग-रेशे में प्रवेश कर चुके हैं। अंग्रेजी के एक समालोचक लोर्ड जेफ्रे (*Lord Jeffrey*) का कथन है कि "*As the object of poetry is to give pleasure, it would seem to be a pretty safe conclusion, that that poetry must be the best which gives the greatest pleasure to the greatest number of readers*" यदि इस दृष्टि-कोण से भी परीक्षा करें तो प्रमाणित है कि विद्यापति की कविता उत्कृष्ट है।

टीकाकारों के भ्रम

कविता लाजुक बधुर मत एक भाषार अन्तःपुर थेके अन्य भाषार
अन्तःपुरे असते गेले आड़ष्ट हये याय

—रवीन्द्र

I mean such errors, as you'll all confess,
By laughing at them, they deserve no less:

—**Ben Jonson.**

अभ्यर्थये वितथवाङ्मयपांशुवर्षै
र्मामावलीकरुत कीर्तिनदीः परेषाम्

—वाचस्पति मिश्र

अब तक विद्यापति की पदावली के जितने संस्करण प्रकाशित हुए हैं, उनके टीका-टिप्पणीकारों ने कवि के पदों के अर्थों का अनर्थ तो किया ही है साथ ही उनको बहुत जगहों में विकृत भी कर दिया है। वास्तव में विद्यापति के बहुत पदों के पाठ तो बङ्गाल के कीर्तनियों द्वारा विकृत किया गया है। हिन्दी टीका-टिप्पणीकारों ने भी उनकी पदावली में कहीं तो भोजपुरी का पुट मिलाया है और कहीं हिन्दी के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया है।

साहित्य-संसार में जो गौरवास्पद पद कवि कोकिल को प्राप्त है, उसका कम श्रेय बङ्गाली साहित्यिकों को नहीं है। एक समय था, जब मिथिला और बङ्गाल में पूरा सांस्कृतिक संश्रव था। इसलिए बङ्गाली लोग विद्यापति को बङ्गाली कवि मानते थे किन्तु अब संसार जानता है कि विद्यापति बिहारी थे।

विद्यापति की कविता के विषय में जो परिश्रम बंगालियों ने किया है वह सर्वथा प्रशंसनीय है। परन्तु महाकवि विद्यापति के काव्यान्तगर्त शब्द एवं अर्थ का यथार्थ मर्म प्रकाशित होना नितान्त आवश्यक जान कर, उनकी टीका-टिप्पणी के दोषों

का यत्किञ्चित् दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है। स्थाना-भाव से इस विषय की पूरी गवेषणा न की जा सकी।

बङ्गाल में अनेक महानुभावों ने विद्यापति के पदों का संग्रह किया है। बङ्गाल के अन्य प्रमुख वैष्णव कवियों के साथ उनके गीत 'पदकल्पतरु', 'पदामृत समुद्र', 'प्राचीन काव्य संग्रह', 'पद कल्प लतिका', 'गीत चिन्तामणि', 'रसमञ्जरी' आदि प्राचीन संग्रह ग्रन्थों में प्राप्त हैं। वर्तमान समय में सर्व प्रथम जगद्बन्धु भद्र ने 'गौर-पद-तरंगिणी' में तथा स्वर्गीय अक्षय कुमार सरकार एवं पंचानन तर्करत्न ने विद्यापति के पदों का संग्रह किया। तत्पश्चात् शारदाचरण मित्र, काली-प्रसन्न काव्य-विशारद आदि ने पृथक् रूप से विद्यापति के पदों का संग्रह कर टीका टिप्पणी के साथ प्रकाशित किया।

श्रीयुत नगेन्द्रनाथ गुप्त

अभी तक श्रीयुत नगेन्द्रनाथ गुप्त महाशय ने जितना घोर परिश्रम विद्यापति की पदावली का अन्वेषण, संग्रह एवं सम्पादन में किया है, उतना और किसी से नहीं हो सका। बङ्गीय साहित्य परिषद् द्वारा प्रकाशित 'विद्यापतिर पदावली' ग्रन्थ के पृष्ठ-पृष्ठ पर उनके परिश्रम की अमिट छाप लगी है। उनको यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि मैथिली के अनन्य सेवक स्वर्गीय चन्दा झा से केवल अनेकानेक पद ही नहीं प्राप्त हुए थे, अपितु अर्थ करने में भी उनकी सहायता अपेक्षित हुई थी। यह सौभाग्य अन्य किसी टीकाकारों को नहीं हो सका।

इतना होने पर भी श्रीयुत नगेन्द्र नाथ गुप्त के संस्करण में ऐसे बहुत से स्थान हैं जहाँ अर्थ का अनर्थ हो गया है। बंगीय साहित्य परिषद् वाला संस्करण इन दिनों अप्राप्य है। 'वसुमती साहित्य मन्दिर' कलकत्ता से 'वैष्णव महाजन पदावली' के द्वितीय खंड में 'विद्यापति-पदावली' प्रकाशित हुई है, जिसका सम्पादन श्रीयुत गुप्त महाशय ने ही किया है। दोनों संस्करणों में पदों के अर्थ करने में बहुत सी अशुद्धियाँ की गई है जिनका थोड़ा बहुत दिग्दर्शन यहाँ करा दिया जाता है। विस्तार भय से हम पदावली के अन्यान्य बंगाली टीका-टिप्पणीकारों की भूलें नहीं दिखा सके।

यहाँ पदों के आदि में परिषद् संस्करण की पृष्ठ संख्या दी गई है और अन्त में बसुमती संस्करण की।

(प० सं०—पृ० ६७) सपनेहु तोर सङ्गम पाए।

कखने की नहि की बिसुनाए॥ [व० सं०—पृ० ३२]

'विसुनाय' शब्द का अर्थ 'विस्मृत हय' करके भावार्थ इस प्रकार उन्होंने लिखा है—"स्वप्नेओ तोर सङ्ग (मिलन) पाय, कखन कि ना विस्मृत हय!" परन्तु 'बिसुनाय' शब्द का यथार्थ अर्थ स्वप्नावस्था में अनाप-सनाप बकना है। भावार्थ यह है कि स्वप्नावस्था में भी तेरे साथ संयोग पाकर वह कभी कुछ और कभी कुछ बोल उठता है।

(पृ० ११०)—भनइ विद्यापति न करह लाथ, भूखल नखा दुहू हाथ॥

इस पद में 'न खा' को एक शब्द मान एवं उसका अर्थ 'नख समूह' कर भावार्थ यह लिखा है–"विद्यापति कहितेछे, छलना

करिओ ना, (नागरेर) दुइ हस्तेर नख समूह क्षुधित (छिन्न)। (क्षुधित नख पयोधर भोजन करिया ताहार आकृति क्षुद्र करियाछे)" परन्तु 'भूखल न खा दुहू हाथ' मैथिली की प्रसिद्ध लोकोक्ति है। जिसका अर्थ यह होता है कि क्षुधार्त्त होने पर भी लोग दोनों हाथों से कभी नहीं खाते। इस भाव को विद्यापति ने किसी दूसरे पद में इस रूप से व्यक्त किया है, यथा—'भूखल नहि दुहु कओरे खाय।' संस्कृत के एक कवि की भी इसी भाव की रचना है—जागर्ति लोके ज्वलति प्रदिपः सखी जनो पश्यति कौतुकेन।

धैर्यं धृतस्व क्षण मात्र नाथ! विभुक्षितः किं द्विकरेण भुंक्ते॥

(पृ० १२१)—मोजे नहि जाएब सखि तन्हि पिआ ठामे।

बरु जिव मारि नेड़ावथु कामे। [पृ० ४९]

इसका भावार्थ उन्होंने यह लिखा है—"सखि, सेइ प्रियतमेर निकटे आमि आर जाइब ना; बरं कामके प्राणे मारिया फेलिया दिब।" किन्तु यथार्थ अर्थ यह है कि हे सखी, मैं उस प्रियतम के निकट नहीं जाऊँगी, भले ही मुझे कामदेव मार कर रख दें।

(पृ० १३०)—बास न पावए माग उपाति। [पृ० ६७]

'उपाति' शब्द का अर्थ 'अत्यन्त सम्मान' लिख कर भावार्थ यों किया गया है कि—"बासस्थान पाय ना, अत्यन्त सम्मान चाय।" इसका भावार्थ ठीक है परन्तु मैथिली में सम्मान पुरस्सर दी गई भोजन सामग्री या रसद को "उपाति" कहते हैं।

(पृ० १५९)— दीप मन्द रुचि अम्बर रात। [पृ० ७२]

'रात' शब्द का अर्थ रात्रि किया है यथा—"दीपेर रुचि ओ आकाशेर रात्रि मलिन हइल" पर कवि ने 'रात' शब्द को रक्त या

लाल रंग के अर्थ में व्यवहार किया है। इसका अर्थ यह है कि दीपक की ज्योति मलिन हो गई एवं आकाश लाल हो उठा। 'रात' शब्द को लाल रंग के अर्थ में विद्यापति ने दूसरी जगह भी व्यवहार किया है यथा –'रात परीहन पल्लव देल'

इसी गीत के "आवहु तेजह पहु मोहो न सोहाय" चरण में 'सोहाए' शब्द का अर्थ 'शोभा पाय' किया गया है; परन्तु इसका अर्थ 'अच्छा लगता है' चाहिये। भावार्थ यह है कि सुबह हो गया प्रिये छोड़िये यह विलास हमें अच्छा नहीं लगता।

(पृ० १६३)—पीन पयोधर नख रेख सुन्दर
करे राखहुं काँ गोरि। [पृ० ७४]

यहाँ 'गोरि' शब्द को हिन्दी भाषा का गोरी समझ कर 'सुन्दरी' अर्थ किया गया है; परन्तु 'गोरि' शब्द का अर्थ मैथिली में छिपाना भी होता है। सम्पूर्ण पद लक्षिता नायिका के विषय में सखी की उक्ति है। यहाँ 'गोरि' शब्द का छिपाना ही अर्थ युक्ति संगत है।

(पृ० १६४)—वेकत पयोधरे नखरेख भूखल,
ताहे परल कच भारा। [पृ० ७४]

'भूखल' शब्द का अर्थ 'क्षुधित' करके उन्होंने पद का यह अर्थ लिखा है—"क्षुधित नखेर रेखा पयोधरे व्यक्त ताहाते केश भार पड़ियाछे।" किन्तु यहाँ पर 'भूखल' शब्द का अर्थ भूषित या अलंकृत है। 'ष खः टुम्नृते' महाभाष्य के इस प्रमाण के अनुसार अभी तक मिथिला में 'ष' का उच्चारण 'ख' किया जाता है।

(पृ० १६५)—जतए जे किछु बोलिअ चालिअ
तथि गुरुजन रोस। [पृ० ७५]

'बोलिअ चालिअ' का अर्थ "बल कह किम्बा वर" किया है एवं भावार्थ यों लिखा है—"येखाने चाहा किछु बल कर तहातेइ गुरुजन राग करेन।" पर "बोलिअ—चालिअ" का अर्थ मैथिली में "बातचीत" होता है।

(पृ० १९१)—नहि बरिसए अवसर-नहि होए। [पृ० ८५]

इस का अर्थ- "वृष्टि पड़े ना सुतरां अवसर (दिवाभिसारेर अवसर) हय ना" किया गया है। परन्तु इस पद का यथार्थ अर्थ यह है कि ऐसा अवसर कभी होता ही नहीं जब वृष्टि-पात न हो।

(पृ० २१७)—भनइ विद्यापति शुन वर-जौवति विभव दया थिक सारा।
माह छाह ककरो नहि भावय ग्रीषम प्राण पियारा। [पृ० १००]

इस पद में 'माह' शब्द का अर्थ 'माझ' करके पुरे पद का यों अर्थ किया गया है—"विद्यापति कहे, सुन युवतीश्रेष्ठ, दया सम्पत्ति (मध्ये) श्रेष्ठ, ग्रीष्मकाले प्राणप्रिय छायार मध्य (छाया तल) काहार ना भाल लागे?" पर इस पद का अर्थ यह है कि दया की शोभा वैभवशाली प्रतापी व्यक्ति ही में सुन्दर होती है। ग्रीष्म ही में छाया प्राणों को अत्यन्त प्रिय लगती है जो माघ महीने में कभी सुखकर नहीं प्रतीत होती। "छाह" शब्द से अनुप्रास मिलाने के लिये कवि ने 'माह' का प्रयोग किया है।

(पृ० २२६)—सरोवर सोसे कमल असिलाएल
नगर उजलि भेल पाँतर रे। [पृ० १०३]

इसका अर्थ उन्होंने "सरोवर शुष्क हइया कमल म्रियमान हइल, उज्वल नगर प्रान्तर हइल" लिखा है। पर 'उजलि' शब्द उजड़ि का पूर्व रूप है। जिसका अर्थ उजाड़ होता है। भावार्थ

यह हुआ कि सरोवर सूख जाने से कमल कुम्हला गया एवं नगर उजाड़ हो कर प्रान्तर (चौर) बन गया।

(पृ० २५१)—दीप दीपक देखि थिर न रहय मन
दृढ़ करु अपन गेयान। [पृ० ११३]

इसका अर्थ यों लिखा गया है—"उत्तेजक देखिया अप्रज्वलित दीप मने स्थिर थाके ना; अपनार ज्ञान दृढ़ कर (एइ विश्वास स्थिर कर)" परन्तु इसका अर्थ यह होना चाहिये कि दीपक की दीप्ति देख कर अब हमारा मन स्थिर नहीं रहता जरा अपने ज्ञान से इस बात का दृढ़ तो कर अर्थात् स्वयं भी सोच।

(पृ० २७४)—कउलति कए हरि आनल गेह। [पृ० १२२]

'कउलति' का अर्थ 'कुलवती' 'अंगीकार' किया गया है। पर 'कउलति' एक ठेठ मैथिली शब्द है जिसका अर्थ 'आर्त्तिपूर्वक', अथवा 'अनुनय-विनय' पूर्वक होता है।

(पृ० ३१२)—प्रथम तोहर पेम गउरवे गरबे बाउरि भेलि। [पृ० १२६]

यहाँ 'बाउरि' का अर्थ 'वातुल' किया गया है; परन्तु मैथिली में 'बाउरि' शब्द का अर्थ पगली होता है।

(पृ० ३७३)—हमे पूजल ये सेहे पय भुञ्जब
राखथु पर उपहासे। [पृ० १७०]

इसका अर्थ, "ये आमा के आरति करिल से परेर प्रेमानुरागी हइबे (ताहा हइले शुधु) उपहास रहिबे" लिखा है। पर इस पद में मैथिली की एक लोकोक्ति का व्यवहार किया गया है जिसका अर्थ यह होता है कि मैंने जैसा कर्म किया होगा वैसा ही फल पाऊँगी अर्थात् कर्मानुसार ही फल प्राप्त करूंगी; परन्तु अभी पर उपहास से तो हमारी रक्षा करें।

(पृ० ३८९)—सपनेहु तिला एक तन्हि सत्रो रंगे ।
निन्द विदेसल तन्हि पिया संगे । [पृ० १७६]

इसका अर्थ यों किया गया है, "स्वप्ने एक तिलेर (जन्य) सेइ प्रियतमेर संगे रंगे निद्रावस्थाय विदेशे गमन करिलाम (निद्रावस्थाय स्वप्न देखिलाम प्रियतमेर संगे विदेशे साक्षात् हइयाछे)" परन्तु इस प्रकार अर्थ करने से पद का भाव और चमत्कृत हो उठता कि स्वप्न में भी क्षण भर के लिये उनके साथ संयोग का सुख होता है, वह भी सम्भव नहीं। कारण यह है कि हमारी नींद भी उनके साथ ही विदेश को विदा हो गई।

विस्तार भय से और उदाहरण हम नहीं दे रहे हैं। श्रीयुत गुप्त जी के संस्करण में इस प्रकार के दोष अवश्य हैं परन्तु इतना स्वीकार करना ही पड़ता है कि उन्होंने विद्यापति के अनेक पदों के अर्थ पर सुन्दर प्रकाश भी डाला है।

श्रीयुत व्रजनन्दन सहाय

विद्यापति की पदावली की टीका-टिप्पणी करने में हिन्दी साहित्यज्ञ भी प्रवृत्त हुए हैं; परन्तु सखेद लिखना पड़ता है कि उनसब ने वंगाली टीकाकारों का ही अन्ध अनुशरण किया है। जिन जगहों पर अपनी विद्वत्ता से काम लेने का यत्न किया है उन जगहों पर अपने गुरु वंगाली टीकाकारों की भी नाक उनलोगोंने काट ली है। सर्व प्रथम विद्यापति का हिन्दी संस्करण 'आरा नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा श्रीयुत व्रजनन्दन सहाय जी, वकील ने 'मैथिल कोकिल विद्यापति'

नाम से प्रकाशित करवाया। उनके ग्रन्थ की भूमिका बहुत परिश्रम से लिखी गई है अवश्य; परन्तु कवि की कविता की भाषा में भोजपुरी का पुट प्रदान करने का उन्होंने बहुत प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने किसी-किसी स्थान में बङ्गाली टीकाकारों के शुद्ध अर्थ को भी अशुद्ध अर्थ लिख दिया है। इस स्थान पर उनके 'मैथिल कोकिल विद्यापति' से दस पाँच उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा।

[पृ० २३] में बाबू व्रजनन्दन सहाय जी ने एक चरण का पाठ यों दिया है—

शैशव छोड़ल शशिमुखि देह, खत देइ तेजल त्रिवलि ति रेह॥

परन्तु शुद्ध पाठ में 'ति रेह' के स्थान में 'तिनि रेह' है। द्वितीय चरण का अर्थ वे इस प्रकार लिखते हैं—"त्रिवली को नुकसानी पहुँची उसी राह से शैशव ने देह को छोड़ा" परन्तु यथार्थ में इस पद्य का यह अर्थ है कि त्रिवली रूपी तीन रेखाएँ खींच कर (अर्थात् शपथ खा कर) शैशव ने सुन्दरी के शरीर को त्याग किया। मैथिली में यह लोकोक्ति प्रचलित है कि हम तीन रेखाएँ खींच कर कहते हैं, अर्थात् प्रतिज्ञा पूर्वक कहते हैं। शैशवावस्था के अन्त में ही त्रिवली की उत्पत्ति होती है। यहाँ कवि ने उसीका सहज उपयोग किया है।

इसी गीत में 'दलपति प्राभव सैनक भङ्ग' में 'सैनक' शब्द का अर्थ 'शैशव का लक्षण' उन्होंने लिखा है परन्तु उसका अर्थ 'सेना का' होना चाहिये। भावार्थ यह हुआ कि सेनानायक की हार खाकर भागने पर सेना तितर-बितर हो जाती है।

[पृ० ३७]—दुलभ लोभ फल पाउल, आवे प्रान सँदेहा

बाबू साहब इस पद के 'आवे' को हिन्दी शब्द समझ कर अर्थ करते हैं कि 'आता है, होता है'; परन्तु मैथिली में 'आवे' का अर्थ लोग 'अब' करते हैं।

[पृ० ४१]—अउँध कमल कान्ति नहि पूरय हेरइत जुग बहि जाइ।

'जुग' शब्द का अर्थ 'नयन द्वय' एवं 'बहि जाई' का अर्थ 'नीर बह गया' किया गया है। परन्तु 'जुग' संस्कृत के 'युग' शब्द का तद्भव है। इस पद का अर्थ यह होना चाहिये कि उलटे हुए कमल के सौन्दर्य को देखते-देखते एक युग भी क्यों न बीत जाय, परन्तु उसकी सुन्दरता का पूरा पता नहीं चल सकता।

[पृ० ५१]—न जानो कवन जन कमल नाल सन कमल ममोरल काम।

"कवन जन" का अर्थ 'किस यत्न से' 'कैसे' किया है, परन्तु यथार्थ अर्थ कौन व्यक्ति होना चाहिये।

[पृ० ६४]—राइ राइ कर तुव तनु मन खोइ।

'राइ' को हिन्दी भाषा का शब्द समझ कर 'राय' 'स्वामी' अर्थात् 'श्रीकृष्ण' अर्थ उन्होंने लिखा है, परन्तु संस्कृत 'राधा' शब्द प्राकृत में 'राहा' 'राही' हो जाता है, और उसीका मैथिली रूप राई है। 'राइ राइ कर' का अर्थ है 'राधा राधा करके'।

[पृ० १०८]—आरत अधिक करहु नहिं लोभ।

यहाँ 'आरत' का अर्थ 'अनुराग' किया है, परन्तु 'आर्त' होना चाहिये। भावार्थ यह है कि आर्त होने पर भी अधिक लोभ नहीं करना चाहिये।

[पृ० ११७]—प्रेमहि नारि पराभव सहइ।

इसमें 'पराभव' का अर्थ 'पराजय' किया है, परन्तु यहाँ दुःख से तात्पर्य है।

[पृ० ११६]-अबुध सखीजन न बुझय आधि, आन उपध करय आन बेआधि॥

'आधि' शब्द को हिन्दी का आधा समझ कर इसका अर्थ किया है "ज़रा भी", परन्तु यह अर्थ सर्वथा अशुद्ध है। 'आधि' संस्कृत शब्द है, जिसका अर्थ 'मानसिक दुःख' होता है।

[पृ० १२०]—नीचल नयन चकोर, ढरिए ढरिए पल नोर॥

'पल' शब्द को पलक मान कर 'पलक से' अर्थ लिखा है; परन्तु 'पल' शब्द 'पड़' का प्राचीन रूप है। सूत्र है–'डलयोर-ऽभेदः। इसका अर्थ 'पड़ता है' 'गिरता है' होना चाहिये।

[पृ० १२४]—इ नव योवन विरह गँवायब कि करब से पिया लेहे॥

'लेहे' का 'लह कर', 'पा कर'; अर्थ उन्होंने लिखा है परन्तु 'स्नेह' का 'नेह' एवं 'नेह' का प्राकृत मैथिली रूप 'लेहे' है। बहुत से नकारादि शब्दों के उच्चारण मिथिला के असभ्य लोगों में लकारादि रूप में प्रचलित है, यथा नदी का लदी, नह (नख) का लह, नाह (नौका) का लाह आदि।

[पृ० १५५]—धन जोवन रस रंग, दिन दस देखिअ तुलित तरंग॥

'तुलित तरंग' का अर्थ 'समान उमङ्ग, बराबर मौज'; किया है। परन्तु इसका शुद्ध अर्थ यह है कि धन, यौवन तथा रस-रंग क्षण-स्थायी हैं एवं उनकी तुलना तरंग से दी जा सकती है।

इस प्रकार अनेक स्थानों में श्रीयुत ब्रजनन्दन सहाय जी ने भी अर्थों का अनर्थ किया है। यदि ऐसी सभी अशुद्धियों पर

प्रकाश डाला जाय तो अनावश्यक ही किताब की काया बहुत बढ़ जायगी। निदर्शन के लिये हम इतना ही अलम् समझते हैं। हाँ, इतना कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार करना पड़ता है कि इन्होंने ही पुस्तक लिखकर सर्व प्रथम विद्यापति का परिचय हिन्दी संसार को कराया था।

श्रीयुत रामवृक्ष शर्म्मा 'बेनीपुरी'

श्रीयुत व्रजनन्दन सहाय जी के पश्चात् मुजफ्फरपुर जिला निवासी, लब्ध-प्रथिष्ठ लेखक श्रीयुत रामवृक्ष शर्म्मा जी 'बेनीपुरी' हिन्दी में 'विद्यापति पदावली' का सटीक संस्करण प्रकाशित करने में प्रवृत्त हुए। यद्यपि मिथिला के केन्द्र लहेरियासराय-दरभंगा में रह कर ही उन्होंने विद्यापति का सम्पादन किया और वह ग्रन्थ 'विद्यापति प्रेस' से ही प्रकाशित हुआ परन्तु वह संस्करण भी इस प्रकार के दोषों से अछूता नहीं रहा। श्रीयुत 'बेनीपुरी' जी का संस्करण श्रीयुत नगेन्द्रनाथ गुप्त द्वारा सम्पादित पदावली का संक्षिप्त परन्तु त्रुटियाँ संस्करण मात्र है। यहाँ श्रीयुत 'बेनीपुरी जी' की 'विद्यापति की पदावली' से दस पाँच उदाहरण उद्धृत किये जाते हैं। इस प्रकार के सब दोषों का उल्लेख यहाँ असम्भव है। स्थाली पुलाक न्याय के आधार पर कुछ दिग्दर्शन मात्र हम कराना चाहते हैं—

(पृ० ४)—कतश्रोक दैत्य मारि मुख मेलल कतो उगलि कैल कूड़ा।

यहाँ 'कूड़ा' को हिन्दी का कूड़ा करकट समझ कर 'चूर चूर कर दिया' अर्थ लिखा है; परन्तु मैथिली में 'कूरा' 'कुड़ा',

हिन्दी के कुल्ला अर्थात् मुँह से वाहर करने के अर्थ का द्योतक है।

(पृ० ७७)—जे फुल भ्रमर निन्दहु सुमर बासि न बिसरए पार।

'वासि' शब्द का 'गंध' अर्थ उन्होने लिखा है; परन्तु मैथिली में 'वासि' शब्द का अर्थ होता है 'कल्ह का', 'पुराना'।

(पृ० ९७)—के नहि जान महत नव हाथि।

'नव' शब्द का अर्थ 'नया फँसाया हुआ' किया है; परन्तु यह नितान्त अशुद्ध अर्थ है। इस पद का यह अर्थ होना चाहिये कि कौन नहीं जानता है कि हाथी महावत के द्वारा नवता है अर्थात् वस में आता है।

(पृ० ११३)—विहर से रहसि हेरले कोन काम।

'विहर से रहसि' का अर्थ 'खुश होकर विहार करो'; किया है परन्तु समीचीन अर्थ यह है कि चुपचाप गुप्त रूप से विहार करो। 'रहस्य' शब्द का 'रहसि' अपभ्रंस रूप हो गया है।

(पृ० १२८)—जनि गज-कुँभ बिदारल हरी।

'गज कुँभ' का अर्थ 'हाथी का पेट' किया है; परन्तु 'गज-कुँभ' से सभी जगह हाथी का मस्तक ही अभिप्रेत होता है।

(पृ० १४१)—हाथि महत नव के नहि जान।

यहाँ 'महत' का 'पागल, मत्त' अर्थ लिखा है परन्तु इसका अर्थ 'महावत' है। यह चरण ऊपर के 'के नहि जान महत नव हाथी' का ही रूपान्तर है।

(पृ० १५८)—नविन जौवनि धनि चरण कमल जिनि
तइओ कएल अभिसार।

यहाँ 'जिनि' का अर्थ 'समान' किया है, परन्तु 'जीत कर'

अर्थ होना चाहिये। तात्पर्य यह हुआ कि उसका चरण कमल से भी बढ़ कर कोमल है।

(पृ० १५९)—उठए चाह जल धारक थेघ।

इस पद का "जलधारा बाँधकर-मूसलाधार-बरसना चाहता है"; अर्थ उन्होंने लिखा है परन्तु यह अर्थ अशुद्ध है। इसका अर्थ यह होना चाहिये कि जलधार का अवलम्बन पकड़ कर वह उठना चाहती है। इसी भाव को गोविन्ददास ने इस रूप में व्यक्त किया है—

हेरि दामिनि फटिक तरु जानि चमकि धरु नीरधार रे।

गुसाँई तुलसीदासजी ने भी लिखा है—

बरसत बारिद बुंद गहि तुलसी चढ़न अकाश।

(पृ० २०५)—साँए साँए कहह कहह कान्हु कपट करह जनु
कि मोरा भेल अपराधे।

'साँए साँए' का अर्थ 'सखी' किया गया है; परन्तु यथार्थ अर्थ 'सत्य सत्य' है।

(पृ० २२१)—पास मोरि हम लुकाओल हास।

इसका अर्थ 'मुँह फेर कर मैंने अपनी हँसी छिपायी' किया है। यह अर्थ का अनर्थ है। पास 'पार्श्व' शब्द का मैथिली अपभ्रंश है। पद का अर्थ यह है कि मैंने अपना पार्श्व परिवर्तन कर हँसी छिपाई।

(पृ० २२७)—अम्बर खसल धराधर उनटल धरनी डग मग डोले।

'धराधर' शब्द का अर्थ '(i) बादल (ii) कुच' किया गया है। धराधर शब्द का अर्थ 'बादल' कहीं भी दृष्टिगत नहीं हुआ,

परन्तु उसका पर्वत अर्थ प्रसिद्ध है। इस सुन्दर श्लेष से सुसज्जित पद में एक पक्ष में पर्वत और दूसरे पक्ष में स्तन अर्थ ही अभिप्रेत है।

(पृ० २३९)–अभिनव पल्लव बइसक देल, धवल कमल फुल पुरहर भेल॥
केसू कुसुम सिंदुर सम भास, केतिक-धुलि बिथरहु पटवास॥

'पुरहर' का अर्थ 'विवाह की डाली' और 'पटवास' का अर्थ 'रेशमी वस्त्र' किये गये हैं, जो नितान्त अशुद्ध हैं, इसे कोई भी मिथिला निवासी कह सकता है। 'पुरहर' रंगा हुआ मट्टी के घड़े को कहते हैं जिसमें आम का पल्लव देकर विवाह-शादी आदि शुभकार्य के अवसर पर, मण्डप के अन्तर्गत मिथिला में स्त्रियाँ रखती हैं। "पटवास" का शुद्ध पाठ 'परवास' है (दे० नगेन्द्रनाथ)। अक्षत, हल्दी तथा बिल्वपत्र आदि के चूर्ण को मैथिलानी 'परवास' कहती है जिसको लेकर नव विवाहिता वधू अपने प्रियतम की मंगल-कामना के लिये आंगने में वर्ष दिनों तक नित्य-प्रति सन्ध्या पूजन किया करती है।

(पृ० २७५)—करे रे कमल लए कुच सिरिफल दए सिव पूजए निज देहा।

'सिरिफल' शब्द का अर्थ 'नारियल' लिखा गया है; परन्तु 'सिरिफल' संस्कृत के 'श्रीफल' शब्द का अपभ्रंश है जिसका अर्थ 'बेल' होता है। श्रीफल से कुच की उपमा प्रसिद्ध ही है।

(पृ० २८७)—कए बेरि काटि बनाओल नव कय।

'कए' को हिन्दी संज्ञा शब्द समझ कर 'काया, शरीर' अर्थ किया है परन्तु यह मैथिली का क्रियापद है। इसका अर्थ है "करके"। इस चरण का संगत अर्थ यह है कि कई बार

काट छाँट कर नया करके बनाया गया।

इस तरह श्रीयुत 'बेनीपुरी' जी के संस्करण में भी अनेक शब्दों के अर्थों के अनर्थ किये गये हैं जिन सबका सम्पूर्णतया उल्लेख इस स्थान पर सम्भव नहीं। हमें दुःख इस बात का है कि मिथिला के प्रधान केन्द्र और 'विद्यापति प्रेस' से प्रकाशित इस पुस्तक में भी अर्थ करने में ऐसी भूलें की गईं। आश्चर्य्य तो यह है कि मैथिली के प्रवीण जानकार, और हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक श्रीयुत कुमार गङ्गानन्द सिंह जी द्वारा सम्पादित होने पर भी वे अशुद्धियाँ जैसे की तैसी बनी रहीं। मालूम होता है उनकी दृष्टि उन अशुद्धियों की ओर प्रायः नहीं गई।

प्रोफेसर कृपानाथ मिश्र

'कविता कौमुदी' के सातवां भाग—वंगला का सम्पादन श्रीयुत प्रोफेसर कृपानाथ मिश्र जी एम० ए० ने किया है। उस भाग में उन्होंने विद्यापति को भी स्थान दिया है। उन्होंने उस ग्रन्थ में विद्यापति के विषय में बहुत-कुछ ऐसी बातें लिखी हैं जिनकी गवेषणा करने पर कोई उन्हें ठीक नहीं मान सकता। उनका कथन कि "चण्डीदास के गाना से आकर्षित होकर विद्यापति उनसे मिलने गये" तथा "विद्यापति चण्डीदास की काव्य-प्रतिभा से बड़े प्रभावित हुए थे" आदि विषयों पर यथेष्ठ प्रकाश "विद्यापति और चण्डीदास" शीर्षक अध्याय में हमने दिया है। इसलिए उनके मतों का खंडन यहाँ व्यर्थ प्रतीत होता है।

कुल मिलाकर विद्यापति के बत्तीस गीतों का हिन्दी अनुवाद उन्होंने उस ग्रन्थ में किया है। उनमें केवल पांच छः को छोड़ सभी पदों के अर्थ में उन्होंने यत्र-तत्र अनर्थ किया है। उदाहरण स्वरूप कुछ स्पष्ट अशुद्धियों का उल्लेख किया जाता है—

(पृ० २१६)—अङ्गहि अङ्ग अनङ्ग मुरछायत हेरए पड़इ अथीर।
मनमथ कोटि मथन करु ये जेन से हेरि महिमह गीर।

इसका अर्थ उन्होंने यों लिखा है–"उनकी सुन्दरता देखकर (कृष्ण) मोहित हो जाते हैं और उनका अंग-अंग काम से पीड़ित होकर उन्हें मूर्छित कर देता है। राधा की ओर दृष्टि जाते ही मानों करोड़ों कामदेव (कृष्ण के) चित्त को व्याकुल करने लगते हैं और वे उनकी ओर दृष्टि डालते ही विह्वल-भाव से धरणी पर गिर पड़ते हैं।" परन्तु हमारे जानते इसका उचित अर्थ यह होना चाहिये—राधा जी के अंग प्रत्यंग की शोभा देख कर सुन्दरों के सिरताज अनंग विह्वल हो मूर्छित हो जाते हैं। राधा की सुन्दरता से केवल कामदेव ही मूर्छित नहीं होते परन्तु जो व्यक्ति (कृष्ण) एक को कौन कहे कोटि कामदेव को अपनी सुन्दरता से मथ डालते हैं वे (कृष्ण) भी राधा की सुन्दरता देख कर अचेत हो पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं।

(पृ० २२०)—वचनक चातुरि लहु लहु हास।

इसका अर्थ "उसकी वचन-चातुरी अब मन्द-मन्द मुसकान से मालूम पड़ती है" ऐसा उन्होंने लिखा है। परन्तु वयः सन्धि के प्रसंग के कारण इसका अर्थ यह होना चाहिये कि उस सुन्दरी के वचनों में अब चातुरी आने लगी और ठठा कर हँसने के स्थान में उसकी हँसी मुसकान में परिणित हो चली।

(पृ० २२६)—खने खन अधर आगे गहु वास ।

इसका "और फिर क्षण ही मे घूँघट खींच लेती है" अर्थ किया है। किन्तु इसका अर्थ यों करना चाहिये—और फिर क्षण ही में अधरों के आगे कपड़ा रखकर हँसी को छिपाती है।

(पृ० २२७) केलिक रभस यव शुने आने, अनतए हेरि ततहि दए काने ॥

इसका अर्थ—"जब काम-कला की बातें होती हैं तब हर जगह से कान हटा कर उसे खूब ध्यान से सुनती है" अशुद्ध है। स्पष्ट अर्थ तो यह है कि दूसरी स्त्रियाँ जव केलि-कला की कथा करती हैं तव वह दूसरी ओर अन्यमनस्क-सा देखती हुई उसी कथा में अपने कान अर्पण करती है।

(पृ० २३२) सजल चीर रह पयोधर सीमा,
कनक वेल जनि पड़ि गेल हीमा।

"भिगी हुई साड़ी पयोधरों पर पड़कर इस तरह जान पड़ती थी मानो सुवर्ण की लता पर तुषार पड़ा हो"। इस असङ्गत अर्थ की संगति इस तरह होगी कि उसके पयोधरों पर भीगी हुई साड़ी पड़ी हुई है। वह ऐसी जान पड़ती है मानो सोने के श्री-फल पर पाला पड़ा हो। वेल का अर्थ यहाँ 'लता' करना ठीक नहीं।

उसी गीत के 'ओ नुकि करतहि चाहे किय देहा' का अर्थ भी उन्होंने ठीक नहीं लिखा है। उन्होंने इसका यह अर्थ किया है— वह भीगा हुआ वस्त्र सुन्दरी के शरीर को अच्छी तरह ढ़क रखने का प्रयत्न करता है। परन्तु इसका अर्थ यह है कि वह वस्त्र उस सुन्दरी के अंग प्रत्यंग में चिपक कर छिपना चाहता है।

(पृ० २३६)—भनहि विद्यापति दुहु मन जागु।
विसम कुसुम शर काहु जनु लागु॥

इसका अर्थ 'विद्यापति कहते हैं कि मानो प्रेमी-प्रेमीका दोनों ही कुसुम-शर से घायल हैं' नहीं हो सकता। होना यह चाहिये कि विद्यापति कहते हैं कि दोनो प्रेमी-प्रेमिका के मन में यही भावनायें उठ रही हैं कि संसार में कोई भी व्यक्ति कामदेव के विषम-शर के शिकार न वने।

इस प्रकार की अनेक अशुद्धियाँ उनके लिखे अर्थों में है। विशेषकर विद्यापति के एक अत्यन्त प्रसिद्ध पद (पृ० २४५) का अर्थ तो उन्होंने विल्कुल नहीं समझा है। वह पद इसी ग्रन्थ के पृ० ११२ में उद्धृत हो चुका है। इस पद के आठवें चरण में एक जगह 'दाव दहन' पाठ दिया है परन्तु 'दारु-दहन' शुद्ध पाठ है। इस पद का आदि से अन्त तक अशुद्ध अर्थ लिखा गया है यथा—"निरन्तर कृष्ण का स्मरण करते-करते यह सुन्दरी पागल सी हो गई है। उनके गुणों पर मुग्ध होकर वह अपने तन-वदन तक की सुधि भूल गई है। कृष्ण की भी अद्भुत लीला है। उन्ही के विरह में सुन्दरी (राधा) ने अपना शरीर जला डाला। जीवन में भी सन्देह होने लगा। प्रातः काल जिस समय वह सहचरी की ओर कातर दृष्टि से देखती है तव उसके नेत्रों में आँसू भरे रहते हैं। इधर कृष्ण भी आधी-आधी वाणी से निरन्तर राधा-राधा रटते रहते हैं। इस विरह के वाद जब कभी राधा और माधव का संयोग होता तब अपूर्व प्रेम वढ़ जाता और फिर कभी विरह होने की आशङ्का न रहती। दोनों दिशाओं में दावाग्नि लगी रहने से जैसे कीट-रूपी प्राण व्याकुल रहता है विद्यापति कहते हैं कि अपने वल्लभ को न पाकर उसी तरह चन्द्रमुखी भी दुखी है।"

इस पद को भावार्थ के साथ इसी ग्रन्थ के पृ० ११२ में देखने की कृपा करें। अशुद्धियाँ आप से आप स्पष्ट हो जाँयगी।

डाक्टर ग्रियर्सन

विद्यापति-प्रेमी सज्जन डाक्टर जी० ए० ग्रियर्सन का चिरकाल तक कृतज्ञ रहेगा जिन्होंने सर्व-प्रथम उनके पदों का अंग्रेजी अनुवाद कर प्रकाशित करवाया। वे मिथिला के केन्द्र मधुबनी सब-डिविजन के सब-डिविजनल ऑफिसर रह कर मैथिली-साहित्य की बड़ी सेवा कर गये हैं। उन्होंने मैथिली की अनेक अमूल्य साहित्यिक-सम्पत्ति को अंग्रेजी अनुवाद से विभूषित कर प्रकाश में लाया है। विद्यापति से तो इन्हें अटूट प्रेम है। अपनी अत्यन्त वृद्धावस्था में भी इन्ही दिनों उन्होंने विद्यापति रचित "पुरुष परीक्षा" का अंग्रेजी अनुवाद लन्दन में प्रकाशित करवाया है। उन्होंने मैथिली व्याकरण, शब्दकोष की रचना के साथ-साथ *Maithil Christomathy* नामक अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ एशियाटिक रिसर्च सोसाइटी के जरनल में प्रकाशित करवाया था जिसमें मिथिला के अन्य ग्राम्य गीतों के साथ विद्यापति के चिरासी गीत अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित हैं।

यद्यपि ग्रियर्सन साहब ने विद्यापति के गीतों का पाठ बहुत शुद्ध रूप से संगृहित किया; परन्तु अंग्रेजी भाषा में जो अर्थ उन्होंने दिये हैं, उनमें यत्र-तत्र अर्थ का अनर्थ घटित हो गया है। इसमें ग्रियर्सन साहब का कुछ विशेष दोष नहीं;

क्योंकि विदेशी होकर उन्होंने मैथिली सीखने में जो परिश्रम किया एवं उसकी जितनी सेवाएँ कीं वे सर्वथा स्तुत्य हैं। इस स्थान पर डाक्टर ग्रियर्सन के संस्करण से कुछ उदाहरण उद्धृत करते हैं जहाँ हमारे जानते ठीक अर्थ नहीं किया गया है–

गीत (न० १)–कामिनि करु असनाने, हेरइत हिर्दय हनल पचमाने॥

इसका–"*O pretty one, (haste and) bathe thyself. Lo, love searched for me and smote me on the heart*" [पृ० ७९] यह अर्थ अशुद्ध है। शुद्ध अर्थ यह है कि कामिनी स्नान कर रही है। जो कोई उसको इस अवस्था में देख लेता है उसके हृदय पर कामदेव अपना प्रहार कर बैठते हैं।

गीत (न० २३)–"कौतुक चललि भवन"–आदि को नव विवाहिता नायिका की उक्ति सखी प्रति समझ कर डाक्टर साहब ने अनुवाद किया है; परन्तु यह सखी की उक्ति सखी के प्रति है।

(न० २४)–आब अनुखन देअ आँचर हाथ, काज सखी सँ नत कय माथ॥

दूसरे चरण में 'काज' के स्थान में 'वाज' पाठ शुद्ध एवं समुचित ज्ञात होता है जो श्रीयुत नगेन्द्रनाथ गुप्त के संस्करण में स्पष्ट है। इस चरण का अनुवाद जो इस रूप से दिया गया है...."*and at the action, and in the presence of her bride's maids, she hangeth her head in shame*" [पृ० ८९] शुद्ध नहीं। यह वयः सन्धि का पद है। इसका अर्थ यह होना चाहिये कि वह सुन्दरी अब आँचल पर ही सतत हाथ रखती है (उठती-जवानी को छिपाती है) और (लाज के मारे) शिर नीचा करके अपनी सखी सहेली से बातें करती है।

(न० ३१)—कोमल हृदय उखड़ि गेल हार।

इसका अनुवाद–"*He strained the ribs over her tender heart*" [पृ० ९२] किया है। इस पद के 'हार' शब्द को ग्रियर्सन साहब 'हाड़' मान कर अनुवाद में प्रवृत्त हुए हैं जो सर्वथा अशुद्ध है। इस स्थान पर 'हार' शब्द से 'माला' अर्थ अभिप्रेत है जो गाढ़ प्रेमालिङ्गन के कारण नायिका के कोमल हृदय पर चिन्हित हो उठी है।

(न० ४०)—अमरख ताहि धैरज नहिं रहलै तें गद गद सुर भेला।

अनुवाद–"*I am very foolish, and could not keep patience with them, and hence my words are broken.*" [पृ० ९५]

इस पद में 'अमरख' शब्द का अर्थ मूर्ख (*foolish*) लिखा गया है; परन्तु 'अमरख' संस्कृत के 'आमर्ष' शब्द का अपभ्रंश है। यह पद सुरति-संगोपना नायिका की उक्ति है, इसलिए इसका अनुवाद अशुद्ध है।

(न० ४४)—कुच कुंकुम माखल हिअ तोर।

इस पद का—"*A bosom full and round as a* Kumkum *hath left its impress over thy heart.*" [पृ० ९७] यह अनुवाद शुद्ध नहीं। इसका अर्थ यह है कि सुन्दरी के कुचों पर लगे कुंकुम तुम्हारे (नायक के) हृदय के ऊपर फैल गया है।

(न० ४५)–मानिनि तोरित करिअ अभिसार, अवसर थोड़हु बहुत उपकार॥

ऊपर के द्वितीय चरण का यह अनुवाद—"*Opportunity is short, and the benefit is great.*" [पृ० ९७] अशुद्ध है। इसका यथार्थ अर्थ यह है कि अवसर पर थोड़े दानसे भी बहुत

उपकार होता है। उसी गीत के अंतिम चरण 'निज क्षति बिनु परहित नहिं होए' का यह अनुवाद—'*One can not gain one's own without another's loss*' [पृ० ९७] एक दम विपरीत है। इसका अर्थ यह होना चाहिये कि बिना अपनी क्षति उठाये दूसरों का उपकार नहीं हो सकता।

(न० ५१)—प्राणहुँ ताहि अधिक कय मानव हृदयक हार समाने।

अनुवाद–"*I love him more than even my life*" [पृ० ९९] में अर्थ का अनर्थ हो गया है। शुद्ध अर्थ यह है–सखी कृष्ण से कहती है कि राधा को प्राण से भी अधिक प्रिय तुम्हें मानना चाहिये। उसे गले का हार बनाकर रखना चाहिये।

(न० ६४)—एकसर ठाढ़ि कदम तर रे पथ हेरथि मुरारी।

अनुवाद-- "Murari *standeth alone beneath the* Kadamb *tree, and seeketh for the path (to me)*" [पृ० १०४] अशुद्ध है। यहाँ मुरारी कदम्ब के नीचे नहीं खड़े हैं; परन्तु राधा कदम्ब के नीचे खड़ी होकर मुरारी का पथ देख रही है।

इस प्रकार डाक्टर ग्रियर्सन साहब ने भी अर्थ करने में अशुद्धियाँ की हैं यह ऊपर के अवतरणों से स्पष्ट है।

अतः यह स्पष्ट है कि, सभी टीका-टिप्पणीकारों ने अर्थ के अनर्थ किये हैं। हम समझते हैं, इतने ही उदाहरण पर्य्याप्त हैं जिनसे पाठक अनुमान कर सकते हैं कि विद्यापति के पदों के अर्थ करने में किस प्रकार की अशुद्धियाँ की गई हैं।

ऐसे अर्थों के अनर्थ एवं कवि के प्रति अन्याय तब तक होते रहेंगे जब तक विद्यापति के पदों का एक शुद्ध संस्करण

मैथिली साहित्य के मर्मज्ञ विज्ञों की एक समिति अथवा मैथिली भाषा के प्रवीण जानकार द्वारा नहीं प्रकाशित होगा। विद्यापति के समान महान् कवि के प्रति इस प्रकार की अक्षम्य अवज्ञा के दोष के भागी समस्त मैथिली भाषा-भाषी समाज है। यह मैथिली भाषा-भाषी जनता की अकर्मण्यता, मर्मानभिज्ञता एवं ग्लानि का ज्वलन्त उदाहरण है।

मैथिल समाज की गायिकी ही कुछ भिन्न है। मैथिलों के लिये आज यदि 'कनही गाय के भिन्ने बथान' † वाली बात नहीं रहती तो महाकवि विद्यापति की ऐसी अवहेलना मैथिलों के द्वारा कभी नहीं होती। विद्यापति की पदावली का जो भी संस्करण मैथिलेतरों ने प्रकाशित किया है उसमें उन्होंने पद को भ्रष्ट करते हुए अर्थ का अनर्थ कर कवि की मार्मिकता में भारी बट्टा लगाया है। विद्यापति की कविता की इस प्रकार छीछालेदर देखकर मैथिली भाषा-भाषी का मौनावलम्बन कभी भी क्षम्य नहीं हो सकता। उनकी इस जघन्य अकर्मण्यता एवं अवज्ञा पर भावी सन्तान जी भर कर कोसेगी। साहित्य-संसार हँसता है, अब मखौल उड़ायगा। क्या विद्यापति प्रेमी कोई धनी-मानी सज्जन अथवा मिथिला भाषा-भाषी समाज या मिथिला के राजा, महाराज, संत, महंत इस कलङ्क को धोने का प्रयत्न करेंगे?

---

† इससे मिलता-जुलता हिन्दी में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है "मथुरा तीन लोक ते न्यारी" और संस्कृत में "मुरारेस्तृतीयः पन्था।"

नीति और सन्देश

Art grows out of life; it is fed by life; it re-acts upon life. This being so, it cannot disregard its responsibilities to life. It is, therefore, to the last degree absurd to talk of the artist, whatever his line of work, as if he stood without the field of ethics.

—Mahatma Gandhi.

यथा दयितं गुरुमित्राद्यधीनमपि इतरजन-वैलक्षण्येन कटाक्षभुजक्षेपादिना सरसतामापाद्य स्वाभिमुखीकृत्य स्वस्मिन् प्रवर्तयति एवं काव्यमपि सुकुमारमतीन् सुखिस्वभावान् नीतिशास्त्रपराङ्मुखान् राजकुमारादीन् ललितपदकदम्बकोपदर्शित श्रृङ्गारादि-रसेन मधुरपानादिना कटुकषायौषध-पान पराङ्मुखान् बालकानिव सदुपदेश-स्वरूपस्वार्थे प्रवर्तयति ।

—भट्टवामनाचार्य्य

We are not to confuse the functions of the poet with those of the preacher or homilist; their business is to instruct and guide, his to stir and vivify, to inspire, energise and delight.

—Hudson.

कतिपय समालोचक विद्यापति में यह दोष लगाते हैं कि उन्होंने समाज में नीति-प्रचार के बदले भारी अनीति का प्रचार किया है। उनलोगों का कथन है कि विद्यापति की कविता में अश्लीलता प्रचुर परिमाण में पाई जाती है जिससे समाज में अनीति फैलने का भय है। किन्तु हमारे कविवर को भी अपने समाज की नैतिकता की उन्नति की उतनी ही अभिलाषा थी जितनी उनके कोई भी समालोचक रखते हैं। उन्होंने अपनी कविता में नीति का एक विस्तृत जाल बिछा रक्खा है। हाँ, यदि कोई यह कहे तो कह सकता है कि साधारण आँखों के लिये वह अप्रत्यक्ष है। पर, अप्रत्यक्ष जाल में ही चिड़िया अधिक फँसती है। प्रत्यक्ष जाल को देखकर तो वह कन्नी काटकर निकल जाती है। अतः चतुर बहेलिया अपने जाल को अप्रत्यक्ष ही रखता है। उसी तरह कोई भी सहृदय रसिक-कवि के उस नीति-जाल से बच नहीं सकता। इस हेतु नीति की जो अप्रत्यक्षता दोष मानी जाती है वह विद्यापति का उत्कर्ष है और उनका मनोविज्ञान पर अधिक अधिकार रखने का प्रमाण है।

विद्यापति कविता द्वारा नैतिक शिक्षा प्रदान करने का ठीक वही उपाय काम में लाये हैं जो विश्वकवि शेक्सपियर और कालिदास ने किया है। इन तीनों महान् कवियों ने अपनी कविता में स्थान-स्थान पर नीति-सम्बन्धी मनोहर उक्तियों का समावेश इस चित्ताकर्षक ढंग से कर रखा है कि हृदय पर उनका गम्भीर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। इन तीनों कविराजों ने मीठी कुनाइन (*Sugar-coated quinine*) देकर समाज के अनीति-ज्वर को उतारने की चेष्टा की है।

पाश्चात्य साहित्य के प्रमुख समालोचक इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि नीति की सीधी (*Direct*) शिक्षा देने की अपेक्षा अवसर आने पर प्रच्छन्न रूप से उसकी ओर इङ्गित करना कहीं अधिक प्रभावोत्पादक है। इस विचार से हमारे संस्कृत साहित्य के आचार्य्य मम्मट भी कुछ-कुछ सहमत हैं। आप कहते हैं।

> काव्यं यशसेऽर्थ कृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
> सद्यः परिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेश युजे॥

इससे यह स्पष्ट है कि आचार्य्य मम्मट कान्ता द्वारा दिये गये उपदेशों का मूल्य और सभी प्रकार के उपदेशों के मूल्य से बढ़कर आँकते हैं। कामिनी मर्मस्थल पर आघात करने में सिद्धहस्त होती है। यदि कोई कान्ता कोमल मीठी वाणी में कुछ कहती है तो उसका अमिट प्रभाव कान्त के हृदय-पटल पर पड़े बिना नहीं रहता। नीति के सूक्तियाँ भी यदि कविता की सुमधुर चाशनी में शराबोर हों तथा रमणी द्वारा कहीं

जाँय तो फिर उनके प्रभाव के विषय में कहना ही क्या ? रसिकशिरोमणि विद्यापति इस राम-वाण की करामात जानते थे और यही कारण है कि उन्होंने अपनी नैतिक सूक्तियाँ कामिनी के मुख से ही कहलाई है।

विद्यापति की कविता में सरस नैतिक-सूक्तियों का सुन्दर प्रदर्शन है। पाठकों को उन सब का रसास्वादन कराना असम्भव है। अतः हम उनकी थोड़ी वानगी मात्र रखेंगे।

विद्यापति संसार में मनुष्य जन्म को सर्वोत्कृष्ट और अपूर्व मानते हैं। वे कहते हैं—

भनहि विद्यापति रूप, हे सखि मानुष जनम अनूप ॥

यही बात संस्कृत के 'नरत्वं दुर्लभं लोके' में कही गई है।

मनुष्य जन्म मिल जाने से ही मनुष्य का जीवन सफल नहीं हो जाता। इसे विद्यापति अच्छी तरह जानते थे। यथा—

वड़ि वड़ाई सवे नहिं पावइ विधि निहारए जाहि।
अपन वचन जे प्रतिपालय से वड़ सवहुँ चाहि ॥

यश सभी को नहीं मिलता ! यशस्वी तो वही हो सकता है जिस पर 'विधि' की कृपा-दृष्टि हो और सव से श्रेष्ठ मनुष्य वह है जो अपने वचन का प्रतिपालन करता है।

विद्यापति यह जानते थे कि वचन पालन में, जो मनुष्य-जीवन की सफलता की वास्तविक कुञ्जी है, लोग प्रायः शिथिलता दिखलाते हैं। इसलिये वे वचन-पालन पर जोर देते हुए फिर कहते है—

सुपुरुष वचन कवहुँ नहि विचलय जओ विधि वामओ होई।

सज्जन, जिन्हें मनुष्यता की परवा है, परिस्थिति के प्रतिकूल हो जाने पर, 'विधि' के वाम हो जाने पर भी अपने वचन पालन से कभी विचलित नहीं होते। वचन पालन में यदि सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का भी सामना करना पड़े तो कुछ परवा नहीं। कवि हरिश्चन्द्र ने भी—

चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत ब्यौहार।
पै दृढ़ श्री हरिचन्द्र को, टरै न सत्य विचार॥

कहकर इसी नीति का प्रतिपादन किया है; पर हरिश्चन्द्र अपनी नीति में वह दृढ़ता नहीं ला सके जो हमलोग विद्यापति की इसी नीति के प्रतिपादन में पाते हैं। कारण यह है कि सूर्य्य, चन्द्रमा और संसार, विधाता की सृष्टि के एक क्षुद्र अंश मात्र है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि हरिश्चन्द्र सत्य पालन के लिये एक बड़ी विकट परिस्थिति का सामना करने के लिये कहते हैं। परन्तु इसी सत्य पालन के लिये विद्यापति जिस परिस्थिति का सामना करने के लिये कहते हैं वह विकटतम है; उस परिस्थिति का सामना करना असम्भव होगा जब सूर्य्य-चन्द्र के अस्तित्व में विपर्यय उपस्थित हो जायगा, पर उसकी क्या हालत होगी जिसको स्वयं इनके निर्माता सर्व-शक्तिमान् 'विधि' का मुकाबला करना पड़ेगा।

वचन से विचलित न होने की उपमा में कवि ने कहा है—

बड़ाक वचन कबहुँ नहि विचलय निशिपति हरिन उपामे।

जैसे ग्रहण लगने पर भी चन्द्रमा हरिण के चिह्न को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार सुख-दुःख सब अवस्थाओं में प्रतिष्ठित

व्यक्ति अपनी बात रखते हैं। विद्यापति वचन-पालन क मनुष्य-जीवन में उच्चतम स्थान देते हैं। तभी तो वे कहते हैं—"जाव जीव प्रतिपालब बोल"

जीवन को महान् और सफल बनाने के लिये किन नीतियों का अवलम्बन आवश्यक होता है, उन्हें बताते हुए वे कहते हैं—"नागर से जे हिताहित जान।"

भले-बुरे का ज्ञान रखना जीवन की सफलता के लिये आवश्यक है। बहुत-से आदमी ऐसे होते हैं जो आवेश में आकर हित को अहित और अहित को हित समझ बैठते हैं जिसके कारण कभी-कभी महान् क्षति उठानी पड़ती है।

सज्जन पुरुषों में और गुणों का भी होना आवश्यक है। सुनिये—

सुपुरुष भए नहिं करिए रोपे

क्रोध मनुष्य का भीषण शत्रु है। अतः सुपुरुष वह है जो रोष पर विजय प्राप्त कर लेता है। गीता में श्री भगवान् भी यही नीति बतलाते हैं—'काम क्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः'

विद्यापति ने मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन सुन्दर बनाने के लिये इन नीतियों के अतिरिक्त और भी बहुत-सी नीतियों की चर्चा की है, किन्तु मनुष्य सामाजिक जीव है। संसार में रहने के कारण उसे संसार की ठोस वस्तु-स्थितियों का भी सामना करना पड़ता है। विद्यापति जानते थे कि मनुष्य यदि एकमात्र अपने आध्यात्मिक जीवन को ही सुधारने में लगे रहेंगे तो उनकी हालत उस ज्योतिषी की नाईं होगी जो आँखों को नक्षत्रों की गति-विधि के निरीक्षण करने में लगाये आगे

बढ़ते गये और रास्ते के किसी कुएँ में धड़ाम से गिर पड़े। इसलिये आप सामाजिक जीवन को भी सफल बनाने की शिक्षा देते हैं। ये कहते हैं—

आगे गुनि जे काज न करए पाछे हो पछताओ।

जो काम करने के पहले आगा पीछा नहीं सोच लेता उसे नुकसानी उठानी पड़ती है और पीछे पछताना पड़ता है। पुनः-

साजनि की कहब कान्ह परोख, बोलि न करिय बड़ाकाँ दोष॥

बड़ों में यदि कोई दोष भी हो तो प्रत्यक्ष की तो बात ही छोड़ दीजिये, परोक्ष में भी उसका उल्लेख नहीं करना चाहिये। महाकवि कालिदास भी तपस्विनी गौरी के मुँह से कहलाते हैं—"न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्।"

'जैसो संगति वैसा फल' लोकोक्ति प्रसिद्ध है। बुरों की संगति महा अनर्थकारी होती है, इस हेतु कवि की उक्ति है—

ए सखि की कहब अपनुक द्वन्द, सपनहुँ जनु हो कुपुरुष संग॥
दूधे पटाइए सीचीअ नीत, सहज न तेज करइला तीत॥
कते जतने उपजाइए गून, कहल न बूझए हृदयक सून॥*
मन्दा रतन भेद नहिं जान, बानर मुँह नहि सोभए पान॥

पाठक 'सपनहुँ' शब्द पर ध्यान दें। विद्यापति का एक 'स्वप्न' शब्द प्रमाणित करता है कि कुसंगति से बचने का कितना ऊँचा आदर्श उन्होंने समाज में रखा है।

---

* फूलय फलय न बेंत, जदपि सुधा बरखहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जौं गुरु मिलहिं बिरंचि सम॥—तुलसी

कुपुरुष का संग इतना बुरा होता है कि शतशः प्रयत्न करने पर भी उसका सुधरना असम्भव होता है। करैले का पौधा भले ही दूध से सींचा जाय, फिर भी करैला अपना कड़वापन नहीं छोड़ता। जो हृदय का शून्य है, उसपर शिक्षा कारगर नहीं होती। ठीक है, बन्दर के मुँह में पान को शोभा नहीं होती।

विद्यापति मानव स्वभाव से पूर्ण परिचित थे। वे जानते थे कि प्रायः सभी आदमियों के भीतर अहं-भाव (*Ego*) है; जिससे प्रेरित होकर मनुष्य स्पष्ट शब्दों में अथवा शब्दों के इन्द्रजाल में छिपाकर अपनी प्रशंसा करता है और यह मानी हुई बात है कि इन मौलिक आवेशों के वश में तो वही रहते हैं जो साधारण कोटि के आदमी हैं। विशिष्टता का स्थान तो वही अधिकृत कर सकता है जो इन मौलिक आवेशों से ऊपर उठ जाता है। इस लिये उनका उपदेश है कि—

अपन अपन गुन सबे सब तहँ सुन निज काचहु कह हेम रे।
से पुन सबहुँ चाहि गरुवि गनिय महि, जे कर परक गुन प्रेम रे ॥*

विद्यापति पुरुषों को ही—जो समाज का आधा अङ्ग है—नैतिकता का पाठ प्रदान कर निश्चिन्त नहीं हो गये हैं। आप समाज के बचे हुए अर्द्धाङ्ग अर्थात् स्त्रियों के सामने भी नैतिकता का आदर्श रखते हैं और ऐसा उच्च आदर्श रखते हैं कि

---

* निज कवित्त केहि लागु न नीका, सरस होउ अथवा अति फीका ॥
जे पर भनिति सुनत हरषाहीं, ते वर पुरुष बहुत जग नाहीं ॥—तुलसी

यदि कुल-कामिनियाँ उन्हें हृदय से अपनावें तो हमारा जीवन अत्यन्त सुखद और शान्तिमय हो जाय।

विद्यापति के विचार से प्राच्य आदर्शानुसार कुल-कामिनी वह है जो पुरुष के साथ किये गये अपने प्रथम प्रेम का निर्वाह अपने जीवन की अन्तिम घड़ी तक करती है।

प्रथम प्रेम ओर धरि राखए सैह कलामति नारि।

उनका कहना है कि कुलटा होकर प्रेम बढ़ाने से जीवन का कुछ मूल्य नहीं रहता। क्षण मात्र सुख तो अवश्य प्राप्त होता है, परन्तु जीवन भर कलंक का टीका लगा रहता है। कुल-कामिनियों को पातिव्रत धर्म का व्रती होना चाहिये। जैसे मालती या तो मधुकर को ही अपना सर्वस्व समर्पण करती है, नहीं तो लतिका में ही सूख जाती है—

कुलटा भए यदि प्रेम बढ़ाबिअ तेँ जीवने की काज।
तिला एक रंग रभस सुख पाओब रहत जनम भरि लाज॥
कुल कामिनि भए निअ पिअ विलसए अपथे कतहु नहिं जाई।
की मालति मधुकर उपभोगय किंवा लताहिं सुखाई॥

पति ही स्त्री का एकमात्र सर्वस्व है। उसके जीवन का सार है। उसकी जीवन-नौका का कर्णधार है। इसीलिये कुल-कामिनियों के अपने जीवन को सुख और शान्तिमय बनाने की कुञ्जी प्रदान करते हुए वे कहते हैं—"नागरि सैह जगत गुन आगरि जे चेम पति अपराध।"

जो स्त्री स्वामी के अपराध को क्षमा नहीं करती, प्रत्युत उस पर रंग जाती है, उसे धिक्कार है! सभ्य-समाज में

उसकी निन्दा होती है और साथ-ही-साथ स्वामी उसको अपने हृदयासन पर से हटा देता है; जिससे स्त्री का जीवन सूना, संकट-संकुल और विषमय हो जाता है, क्योंकि स्वामी को छोड़कर स्त्री की इस संसार में दूसरी गति नहीं है। पदपढ़िये-

धिक त्रिय जे कर प्रिय पर कोप, कुल कामिनी जन प्रेमक लोप ॥
भल जन महँ हो अपयश ख्यात, प्रियतम मन सँ होएब कात ॥

स्त्री के जीवन में पुरुष का कैसा महान् मंगलमय स्थान है इसको बतलाते हुए कवि कहता है कि जब तक पति जीवित रहता है तभी तक स्त्री मङ्गलमयी रहती है। विधवा हो जाने पर वही स्त्री, स्वामी को छोड़कर और सब कुछ रहते हुए भी, अमङ्गलजनक समझी जाती है।

एकसरि तारा केओ न देख, चढ़लि अकाश अमङ्गल लेख ॥

स्त्रियों को अपने स्वामी के दोषों के भूल कर भी प्रकट नहीं करना चाहिये। यदि उसमें कोई दोष आ गया हो तो उसे अपने गुण अथवा सौन्दर्य के बल से नहीं, प्रत्युत अनुनय विनय पर भरोसा रखकर ही हटाने का यत्न करना चाहिये।

परगट करब न सुपहुक दोस, राखब अनुनय अपन भरोस।

हमारा दाम्पत्य सम्बन्ध कैसा अनन्योन्याश्रय और एकान्त होना चाहिये, इसको बतलाते हुए वे कहते हैं—

जइओ सरोवर हिमकर निग्र करे परसए सबहुँ समाने।
कुमुदिनि काँ ससि ससि काँ कुमुदिनी जीवन के नहि जाने॥

पाठक! गम्भीरता पूर्वक विचार कर देखें कि विद्यापति दाम्पत्य-सम्बन्ध को कितना पवित्र, सम्पूर्ण और मङ्गलमय

समझते हैं और किस खूबी के साथ हमलोगों को उस परम पुनीत पथ का अनुसरण करने के लिये कहते हैं।

विद्यापति ने समाज के दोनों अङ्ग-स्त्री और पुरुष-के सामने तथा उनसे बने समाज समष्टि के आगे नैतिकता का जो आदर्श रखा है उसके अनुशीलन और विश्लेषण के पश्चात् भी यदि हमलोग नीति-निपुण विद्यापति को अनीति-प्रचारक कह कर लाञ्छित करें तो कहना होगा कि हमलोग उस सुकवि के साथ अन्याय कर रहे हैं।

विद्यापति के काव्य में अनुभूति-मूलक नीतियों का जहाँ तहाँ इतना सुन्दर उदाहरण प्राप्त होता है कि सहसा चित्त आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता। हम अपने पाठकों के मनोरञ्जनार्थ विद्यापति की कुछ नीतियों का उल्लेख करते हैं। उन्होंने कितने ऐसे पद लिखे हैं जो आदि से अन्त तक नीति-वाक्यों से ही रचे गये हैं। बानगी के रूप में कुछ पद उद्धृत हैं—

अपना काज कओन नहिं बन्ध, के न करए निअ पति अनुबन्ध ॥
अपन अपन हित सब केओ चाह, से सुपुरुष जे कर निरबाह ॥
साजनि ताक जिवन थिक सार, जे मन दए कर पर उपकार ॥
आरति अरतल आबए पास, अछइते बथु नहिं करिअ उदास ॥
से पुनु अनतहुँ गेले पाव, अपना मन पए रह पछताव ॥
भनहि विद्यापति दैन न भाख, वड़ अनुरोध बड़े पए राख ॥

कुछ पद और देखिये जिनमें भी आदि से अन्त तक नीति की ही शिक्षा कवि ने दी है—

कमल भमर जग अछए अनेक, सब तहँ से वड़ जाहि विवेक ॥
मानिनि तोरित करह अभिसार, अवसर थोड़हु बहुत उपकार ॥

मधु नहिं देलह रहल की खागि, से सम्पति जे पर हित लागि ॥
अपुजित लए तुलना तुअ देल, जाब जीव अनुतापक भेल ॥
तोञे नहिं मन्द मन्द तुअ काज, भलओो मन्द हो मन्द समाज ॥
भनइ विद्यापति दुति कह गोए, निअ चति विनु पर हित नहि होए ॥

अव उनकी पदावली से यत्र-तत्र से नैतिक सूक्तियों की कुछ और पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

थिर नहिं जउवन थिर नहि देह, थिर नहि रहए बालमु सञो नेह ।
थिर जनु जानह ई संसार, एक पए थिर रह पर उपकार ।
एहन अवस्था ई व्यवहार, पर पीड़ाए जिवन थिक भार ।
भनहि विद्यापति सखि कह सार, से जीवन जे पर उपकार ॥
हठ न करिअ कान्ह कर मोहि पार, सब तहँ बड़ थिक पर उपकार ॥
अधिपक अनुचित किछु न गोहारि, बड़ाक कहिनी बड़ दुर जाय ॥
साहसे साहिअ असाधे, तिल एक कठिन पहिल अपराधे ॥
एते मने गुनि नाहिं तरास, मधु ने आवे मधुकर पास ॥
पाइअ ठाम बइसले नहि नीधि, जे कर साहस ता हो सीधि ॥
प्रथम वयस लेस न पुरब आस, न पुरे अलप धने दरिद पियास ॥
माधव मुकुलित मालति फूल, ताहे नहिं भुखल भमर अनुकूल ॥
अनुचित काज भल नह परिणाम, साहस न करिय संशय ठाम ॥
भनइ विद्यापति नागर कान, मातल करि नहिं अंकुश मान ॥
गेल दीन पुनि पलटि न आव, अवसर बहला रह पछताव ॥
कएल उचित भेल अनुचित मने मने पछतावे ।
आवे कि करब सिर पए धूनव, गेला दिन नहिं आवे ॥
चल चल सुन्दरि सुभ कर आज, ततमत करइत नहि हो काज ॥
गुरुजन परिजन डर कर दूर, बिनु साहस सिधि आस न पूर ॥

बिनु जपले सिधि केओ नहिं पाब, बिनु गेले घर निधि नहिं आब ॥
दुती दम्पति दुअओ अबोध, काज आलस दुहु परम बिरोध ॥
तोहें जलधर सहजहिं जलराज, हमें चातकि जल बिन्दुक काज ॥
जल दए जलद जीव मोर राख, अवसर देले सहस हो लाख ॥
तनु देअ चाँद राहु कर पान, कबहुँ कला नहिं होअ मलाना ॥
वैभव गेले रहए विवेक, तइसन पुरुप लाख थिक एक ॥
जदि तोहें बरिसब समय उपेखि, की फल पाओब दिवस दिप लेखि ॥
भनहि विद्यापति असमय बानी, मुरुछल जीवए चुरु एक पानी ॥
मधुर वचन हे सब तहँ सार, विद्यापति भन कवि कंठहार ॥
तेखन सिनेह जे थिर उतपात, के नहिं बस हो मधुर अलाप ॥
जे छल से नहिं रहले भाव, बोललि बोल पलटि नहिं आब ॥
वचनक दोपे प्रेम टुटि गेल, वचनक कौसअले की नहि होए ॥
भन विद्यापति निअ अवसाद, वचनक कौअसले जितिअ बाद ॥
पुछिओ न पुछलक केओ बैसलाह जहाँ, निरधन आदर के कर कहाँ ॥
धनिकक आदर सब तहँ होए, निरधन बापुरे पुछइ न कोए ॥
वैभव गेले भलाहु मन्द भास, अपन पराभव पर उपहास ॥
केओ सुखे सुतैये केओ दुखे जाग, अपन अपन थिक भिन भिन भाग ॥
भनइ विद्यापति चाहथि जे विधि करथि से से लीला ।
अपन करम अपने पए भुजिए जओ जन्मान्तर होई ।
काहुक विपद काहुक सम्पद नाना गति संसार लो ।

इन उदाहरणों को जितना बढ़ाइये बढ़ सकता है। यहाँ पर कवि की एक-एक नैतिक सूक्तियों का उल्लेख हम स्थानाभाव से नहीं कर रहे हैं। विद्यापति ने अपनी पदावली में

ही नीति का समावेश नहीं किया है। उनका 'पुरुष-परीक्षा' ग्रन्थ, आदि से अन्त तक, नैतिक कथानकों से ही भरा है। अन्यान्य ग्रन्थों में भी नैतिक शिक्षा प्रदान करने से वे बाज नहीं आये हैं।

इन नीति-सूक्तियों से समलंकृत पदों के अतिरिक्त विद्यापति की कविता में कुछ ऐसे पद अवश्य हैं जिन्हे पिता एवं पुत्र एक साथ बैठ कर लौकिक काव्य पढ़ने की रीति से मनन नहीं कर सकते। इस विषय में इतना ही कहना है कि विद्यापति की वे कविताएँ जिनमें शृङ्गार का अत्यधिक पुट है, प्रौढ़ व्यक्तियों के अध्ययन की सामग्री है, बालकों की नहीं। वे प्रभु-सम्मत उपदेश वा मित्र-सम्मत राय न होकर कान्ता-सम्मत आलाप हैं।

अब, यदि केतकी के काँटे के डर से भ्रमर उसके पास नहीं जाय, गुलाब के काँटे के डर से यदि माली उसे चुनने के लिये पैर न बढ़ाय, तो, न तो इससे केतकी तथा गुलाब के सौन्दर्य में ही बट्टा लगता है और न इससे उनकी सुगन्धि ही कम पड़ जाती है। पर यह स्मरण रखना चाहिये कि जो इनके काँटे से नहीं डरेंगे और इनका चयन करेंगे उनकी आत्मा इनकी नैसर्गिक सुरभि से ओत-प्रोत हो जायगी। जो कोई रत्नाकर में डुबकियाँ लगता है, मोती तो उसे ही मिलता है। किसी रसिकशिरोमणि ने ठीक ही कहा है—

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
हौं बौरी ढूँढ़न डरी, रही किनारे बैठ॥

सन्देश

विद्यापति का जन्म एक ऐतिहासिक युग-संधि के समय में हुआ था। एक ओर बौद्धधर्म भारतवर्ष से प्रयाण के अन्तिम दिन गिन रहा था और दूसरी ओर इस्लाम दृढ़ता के साथ अपनी डेग बढ़ाये भारत में प्रवेश कर रहा था। एक ओर बौद्ध विहार हिन्दू-मन्दिरों में परिणत हो रहे थे, तो दूसरी ओर हिन्दुओं के देव-मन्दिर विध्वस्त किये जा रहे थे, उनमें प्रतिष्ठित मूर्तियाँ तोड़ी जा रही थीं; उनका संचित वैभव लुट रहा था और 'देउर भाँगि मसीद' बाँधे जा रहे थे। विधर्मियों के इस वार-बार के आक्रमण से हिन्दू-समाज तिलमिला उठा था। जिस नवीन विदेशी संस्कृति को मुसलमान विजेता भारतवर्ष में फैलाना चाहते थे उससे अपनी प्राचीन संस्कृति का मौलिक विरोध देख हिन्दू-समाज में एक कोलाहल मच गया था।

हिन्दुओं के इस निस्सहाय अवस्था का आभास विद्यापति के ग्रन्थों में हमें मिलता है। आपके ग्रन्थों को पढ़ जाने के बाद कोई भी इस निर्णय पर आसानी से पहुँच सकता है कि आप अपने युग के प्रतिनिधि कवि हैं। आपने एक ओर स्मृति ग्रन्थों की रचना कर हिन्दू-समाज को आस्तिकता का उपदेश दिया है तो दूसरी ओर आपने समाज को पुरुषार्थ का पाठ पढ़ाया है। मुसलमानी आक्रमणों से जर्जर हिन्दू-समाज में पुनर्जीवन संचार करने में शिव-भक्ति और कृष्ण-भक्ति की धाराओं ने बहुत सहायता की। स्वर्गीय महामहोपाध्याय

हरप्रसाद शास्त्री इस विषय में क्या कहते हैं, पढ़िये—

"प्रथम मुसलमान आक्रमणेर प्रबल श्रोते हिन्दू दिगेर धर्म-कर्म एक प्रकार लोप पाइया आसे। मैथिल पण्डितेरा नाना ग्रन्थ रचना करिया आबार हिन्दू समाजके पुनर्गठित करिवार चेष्टा करेन। विद्यापति एइ सकल मैथिल पण्डित दिगेर मध्ये एक जन प्रधान।......ये समय मुसलमानेरा करुक्षेत्र, वृन्दावन, प्रयाग, एमन कि, काशी पर्य्यन्त लोप करिया तुलियाछिल, सेइ समये विद्यापति प्रादुर्भूत हइया नाना ग्रन्थ लिखिया अनेक तीर्थेर पुनः संस्थापन ओ अनेक हिन्दू सत्कर्म्मेर पुनः प्रचलन करेन। तिनि ओ ताँहार सहयोगी मैथिल पण्डित दिगेर निकट हिन्दू-समाज ए विषयेर जन्य चिरदिन ऋणी थाकिवे।" [कीर्तिलता-भूमिका]

विद्यापति-विरचित 'कीर्तिलता' तथा 'कीर्तिपताका' के कथानकों का आधार इतिहास है। 'पुरुष-परीक्षा' की भी अनेक कथाएँ इतिहासमूलक ही हैं। 'पुरुष-परीक्षा' में महमूद गजनी तथा 'कीर्तिलता' में इब्राहिम शाह एवं असलान नाम के मुसलमान राजाओं के चरित्र का यत्किञ्चित् चित्रण मिलता है। मुसलमानों के चरित्र का वर्णन करते हुए हमारे कवि 'कीर्तिलता' में एक जगह लिखते हैं—

हिन्दू तुरके मिलल वास, एकक धम्मे अओका उपहास॥
कतहु बाँग कतहु वेद, कतहु मिसमिल कतहु छेद॥
कतहु ओझा कतहु खोजा, कतहु नकत कतहु रोजा॥
कतहु तम्वारु कतहु कूजा, कतहु नीमाज कतहु पूजा॥
कतहु तुरुक वर कर, वाट जाइते वेगार धर॥
धरि आनए बाँभन बडुआ, मथाँ चड़ावए गाइक चुडुआ॥
फोट चाट जनउ तोर, उपर चढ़ावए चाह घोर॥
धोआउरि धाने मदिरा साँध, देउर भाँगि मसीद बाँध॥

गोरि गोमठ पूरलि मही, पएरहु देमा एकठाम नहीं ॥
हिन्दू बोलि दूरहि निकार, छोटेओ तुरुका भभकी मार ॥

विद्यापति के ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि उन्होंने एकमात्र श्रृङ्गार रस को ही अपनी कविता का लक्ष्य नहीं बना रक्खा था। यदि आपने एक ओर अपनी श्रृंगार की स्रोतस्विनी, पदावली की रचना की है तो दूसरी ओर 'कीर्ति-लता' और 'कीर्ति-पताका' की शक्तिशाली धाराएँ बहाई हैं; जिनमें अवगाहन करने से नस-नस में उमङ्ग भर जाती है, बाँहें फड़कने लगती हैं। आपकी ऐतिहासिक कविता में जातीय-जीवन की उमङ्ग भरी लहरें लहरा रही हैं। आप वास्तव में समस्त हिन्दू-समाज के जातीय कवि हैं। देखिये, कीर्तिसिंह के मुख से क्या सुन्दर सूक्ति कहलाते हैं—

मान बिहूना भोअना सत्तुक देले राज।
शरण पइट्ठे जीअना तीनू काअर काज ॥

मानव जीवन को विद्यापति किस दृष्टि-कोण से देखते थे उसकी यत्किंचित् चर्चा आवश्यक है। आप यद्यपि 'मानुष जनम अनूप' के प्रतिपादक थे, फिर भी आप सब मनुष्यों को मनुष्य और सब पुरुषों को पुरुष नहीं मानते थे। आपका अनुभव था कि इस संसार में दो तरह के पुरुष हैं। पुरुष तो विरले ही हैं, हाँ अधिकांश पुरुषाभास ही हैं। इस वर्गीकरण की सत्यता पर आपको अटल विश्वास था। 'पुरुष-परीक्षा' लिखकर आपने पुरुषों की परीक्षा के लिये मानो एक कसौटी निर्माण कर दी है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में एक सुन्दर कथा है।

चन्द्रातपा राजा के पद्मावती नाम की एक कन्या थी। इसकी विवाह-वयस सम्प्राप्त होते देख राजा बहुत चिन्तित हुए। कन्यादान जैसी महत्वपूर्ण बात का निर्णय आप-ही-आप कर लेना राजा ने उचित नहीं समझा। अतएव आपने सुबुद्धि नाम के ऋषि को बुला भेजा। उनके आने पर आपने उन से अपनी चिन्ता का कारण निवेदन किया। ऋषि ने उत्तर दिया कि हे राजन्! पुरुष वर कीजिये। राजा ने कहा भला अपुरुष भी कन्या के लिये वर हो सकता है? इसपर मुनि ने कहा— लभ्यते पुरुषाकाराः पुरुषः खलु दुर्लभः।

वक्ष्यमाणेन चिह्नेन निखिलेनोपलक्षितः॥ *

तद्यथा—वीरः सुधीस्सविद्यश्च पुरुषः पुरुषार्थवान्।

तदन्ये पुरुषाकारः पशवः पुच्छवर्जितः॥

विद्यापति इस भेद-भाव को इतनी तीव्रता के साथ अनुभव करते थे कि 'कीर्ति-लता' में भी उन्होंने उसे दुहराया है। यथा—

पुरिसत्तणेन पुरिसओ नहि पुरिसओ जम्म मत्तेन।

जलदानेन हु जलओ नहु जलओ पुञ्जिओ धूमो॥

सो पुरिसओ जसु मानो सो पुरिसओ जस्स अज्जने सत्ति।

इअरो पुरिसा आरो पुच्छ विहूना पसु होई॥

इससे स्पष्ट है कि विद्यापति पुरुषार्थ के उपासक थे। इसलिये पुरुष बनो, पुरुषार्थ दिखाओ यह आपका स्पष्ट उपदेश है।

संसार में जितने महान् कवि हो गये हैं, सब ने अपने

---

* बस कि दुश्वार है हर काम का आसाँ होना।
आदमी को भी मुयस्सर नहीं इन्साँ होना॥ —ग़ालिब

जीवन के यथेष्ट अनुभव के आधार पर अपनी कविता के अञ्चल में समाज के लिये अपना सन्देह निहित कर दिया है। पाश्चात्य साहित्यकारों ने होमर, दान्ते, शेक्सपियर आदि महाकवियों के काव्य-समुद्र का मन्थन कर उनसे उनके सन्देशामृत निकाल समाज का परम कल्याण किया है। परन्तु किसी समालोचक ने आज तक इस दृष्टि-कोण से विद्यापति के काव्य का विश्लेषण प्रायः नहीं किया है।

विद्यापति ने बहुत वृद्ध होकर अपना नश्वर शरीर परित्याग किया। अतः आप को जीवन-द्वन्द्व से पूर्ण परिचय था और इसीलिये आपका सन्देश अनुभूति-मूलक विशिष्टता से विभूषित है। जिस हेतु आपने शतावधि वयस प्राप्तकर प्राण विसर्जन किया इस हेतु आपको जीवन के सुख-दुःख दोनों का अधिकाधिक अनुभव अवश्य प्राप्त था। यदि आप के जीवन का एक पृष्ठ दुःखद भावनाओं से भरा था तो दूसरा पृष्ठ सुखद भावनाओं से भी अंकित था।

इसलिये जीवन के इस द्वन्द्व की ओषधि आपको धैर्य और आशा में मिली। विद्यापति अत्यन्त आशावादी कवि हैं। वे हमलोगों को यह बतलाते हैं कि सुख-दुःख के झंझावात से प्रताड़ित जीवन का आश्रय-स्थल एकमात्र आशा ही है। इसलिये आप राधा से बराबर कहते हैं कि आशा रक्खो धैर्य्य धरो। यही आपका स्पष्ट सन्देश है।

आप किस कोटि के आशावादी थे इसका आभास आप के विरचित विरह गान से प्राप्त होता है। दुःखाभिभूता

विरह-विदग्धा राधा के व्याकुल और सन्तप्त हृदय को आप ने आशामृत पिलाकर—धैर्य्य दिलाकर, शान्त किया है; और हमलोगों के लिये उसमें आशा और धैर्य का सन्देश छोड़े गये हैं। धैर्य्य और आशा के ये कण कितने सुन्दर हैं—

सबे धाधि आधि वेआधि जाइति करिय धैरज कामिनी।
सुपहु मन्दिरे तोरिते आओत, सुफले जाइति जामिनी॥
जामिनि सुफले जाइति अवसान, धैरज धरु विद्यापति भान॥

*　　*　　*　　*

कवि विद्यापति गाओल रे, धनि धरु पिय आस।
आओत तोरे मनभावन रे, एहि कातिक मास॥

*　　*　　*　　*

भनहि विद्यापति गओल रे धैरज धर नारी।
गोकुल होएत सोहाओन रे फेरि मिलत मुरारी॥

*　　*　　*　　*

भनइ विद्यापति सुनु वर जौवति मन चिन्ता करु त्याग।
अचिर मिलत हरि रहु धैरज धरि सुदिने पलटत भाग॥*

*　　*　　*　　*

सुपहु वाचा सुपहु सिनेह, कवहु न विचल पखानक रेह॥
भनहि विद्यापति सुनु वर नारी, धरु मन धैरज मिलत मुरारी॥

*　　*　　*　　*

विद्यापति कवि गाओल रे धनि मन धरु धीर॥
समय पाए तरुवर फड़ रे कतबो सिंचु नीर॥

*　　*　　*　　*

अधिक आपद धैरज करब कवि विद्यापति भान।

जिस तरह महान् असफलता की चट्टान पर टकराकर भी महात्मा गान्धी आशा नहीं छोड़ते, *Incorrigible optimist*

---

* ....O, Wind,
If Winter comes, can Spring be far behind?—Shelley.

(कट्टर आशावादी) बने रहते हैं, उसी तरह विद्यापति भी कट्टर आशावादी थे। आप विरह-विधुरा राधा को यही उपदेश देते हैं कि प्रिय दर्शन से, प्रिय मिलन से हजार बार निराश होने पर भी जीवन की आखिरी साँस तक फिर-फिर उसी प्राणधार 'पहु' की आशा रक्खो। आप कहते हैं—

भनहि विद्यापति पुनु पहु आस, जावत रहत देह तिल सास॥

आप आशा के अनन्य उपासक हैं; प्राण रहते हुए आशा का अवसान देखना ही नहीं चाहते हैं। आप तो यह चाहते हैं कि मानव-जीवन का प्रत्येक पल आशामय हो। यथा—

भनहि विद्यापति सुनहु जुवति आशा नहि अवसान।

यदि अन्ध सूरदास 'प्रभु दरस' के लिये पागल थे, कबीर दास इस सृष्टि की पहेलियों के रहस्योद्घाटन के लिये चिन्तित थे तो विद्यापति मानव-जीवन के संकट-संकुल अन्धकारमय पथ को आशा की चारु चन्द्र-कला से उद्भासित कर उसके सन्तप्त हृदय को शीतलता प्रदान करने के लिये व्याकुल थे।

"रसरी आवत जात में सिल पर परत निशान" वाली नीति की सत्यता को कवि जानता है। मानव समाज के लिये जिस सन्देश को कोई कवि छोड़ जाना चाहता है, उसकी आवृत्ति वह अपनी कविता में बराबर करता है। विद्यापति ने भी यही किया है। विरह के प्रायः ऐसे ही विरले दस-पाँच गीत हों जिनमें उन्होंने अपने सन्देश की पुनः-पुनः आवृत्ति न की हो। इस प्रकार की आशा का सन्देश; नैराश्य मय जीवनाकाश में विमल आशा-चन्द्र-कला का सञ्चार करता है

और भौतिक सभ्यता से जीर्ण-शीर्ण मानव-समाज को जीवन-पथ में सम्बल प्रदान करता है।

विद्यापति के कुछ ऐसे भी समालोचक हैं जिनका यह मत है कि जिस कारण वे शृङ्गार की दलदल में ही अपना सारा जीवन व्यतीत किया इस हेतु वृद्धावस्था में वे सर्वथा निराश हो गये थे। वे समालोचक हमारे मत की आलोचना में यह कहेंगे कि विद्यापति जिस आशा का सन्देश मानव समाज को दे रहे थे वह उनकी वृद्धावस्था में कहाँ चली गई थी जब कि उन्होंने नैराश्यमय शब्दों में यह कहा था—

माधव हम परिणाम निराशा।

हम मानते हैं कि जब मानव-समाज विद्यापति की आशात्मक मधुर तान सुनने में मस्त था तब अन्त में आकर यह निराशात्मक सुर का आलापना बेसुरा मालूम पड़ता है। परन्तु विद्यापति के उन आलोचकों से हम प्रार्थना करेंगे कि जिस गीत (दे० इसी ग्रन्थ के पृष्ठ २४) से यह पद उद्धृत किया गया है, उसके आगे के अंश पर ध्यान दें और इस नैराश्य भाव को आगे के भावों के साथ मिलाकर विश्लेषण करें। विश्लेषण करने पर उन्हें जान पड़ेगा कि यह पद जीवन के अवसान के समय लिखा गया था। जीवन का अवसान जीवन की ऐसी अवस्था है जब मनुष्य के दुर्बल हृदयाकाश के ऊपर नैराश्य के बादल बरबस छा जाते हैं; परन्तु विद्यापति ने जीवन के अवसान को सामने देखकर भी अपने सिद्धान्त के अनुसार निराशा के बादल को नहीं जमने दिया है। उनकी विश्वास-रूपी

झंझावात के प्रवल प्रतारण से निराशा की घटा फट जाती है और आशा रूपी मिहिर का फिर अरुणोदय होता है और आप दृढ़ता पूर्वक कह उठते हैं:—

तुहुँ जगतारण दीन दयामय अतय तोहर बिशोयासा।

हृदयाराध्य जगतारण है इस विश्वास की आशा उनमें अटल है। इस एक पद से ही वह स्पष्ट है। जीवन के अवसान पर्यन्त विद्यापति किस दृढ़ता के साथ आशा से कैसे चिपके रहे, यह उनके उक्त पद के अन्तिम चरणों से और स्पष्ट हो जाता है। आपकी वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

भनये विद्यापति शेष शमन भय तुअ बिनु गति नहि आरा।
आदि अनादिक नाथ कहाओसि अब तारण भार तोहारा॥

अपनी अटल आशा के बल पर आप अपना तारण भार अपने आराध्य देव को सौंप निश्चिन्त हो जाते हैं; क्योंकि वही अगति की गति, निराश्रय का आश्रय, निरवलम्ब का अवलम्ब और शेष सभी भयों का शमन करनेवाले हैं।

इन विवेचनाओं पर ध्यान देने से यह कहना पड़ता है कि भव-ताप से सन्तप्त, दुःख-दैन्य से दुःखित, रोग-शोक से जर्जर और मायाविनी माया की मरीचिका से आकुल भौतिक संसार के विष से लवालव भरे हुए प्यालों में आशामृत घोल कर विद्यापति ने मानव-समाज को परम शान्ति प्रदान की है, एवं उसका वड़ा उपकार किया है जिसे वह कदापि भूल नहीं सकता। मानव-समाज के लिये विद्यापति का यही अमर सन्देश है।

उपसंहार

प्रस्तुत पुस्तक में हमने महाकवि विद्यापति की कविता का एक विहंगम दृष्टि से पर्य्यालोचन करने का प्रयत्न किया है; उनकी गुण-गुम्फित-काव्य-कला का कुछ आलोक सुधी साहित्यिकों के समक्ष समुपस्थित करने का दुस्साहस किया है। कवि-कोकिल की पीयूष-विनिन्दक कविता-काकली की विशिष्टताओं का यदि विशद विवेचन किया जाय तो पोथे लिखे जा सकते हैं। उनकी कविता की महत्ता को ध्यान में रख कर जब अपनी कृति पर हम विचार करते हैं तब हमें वैज्ञानिक न्यूटन के सुर-में-सुर मिलाकर यह कहने में कुछ भी संकोच नहीं मालूम होता कि *'I am still picking pebbles on the sea-shore.'*

विद्यापति महान् सौन्दर्य्य-प्रिय कवि थे। सौन्दर्य्य की जरा भी झाँकी कहीं मिल जाने से उनकी हृत्तंत्री झंकृत हो उठती थी और उन्हें सारा संसार सौन्दर्य्य का ही साम्राज्य प्रतीत होने लगता था। उस सौन्दर्य्य के आकर्षण में, मूक आह्वान में कवि अपने को भूल बैठता था और संगीत की मन्दाकिनी आप-से-आप अन्तस्तल से फूट कर प्रवाहित होने लगती थी। कविवर कीट्स की तरह विद्यापति का भी यही सिद्धान्त प्रतीत होता है कि *"I have loved the principle of beauty in all things."* यही कारण है कि मानवता के प्रत्येक स्तर में, जन्म से मरण तक जीवन के प्रत्येक क्रिया-

कलाप में उन्हें सुन्दरता-ही-सुन्दरता दिखलाई पड़ती थी। और तो और, प्रलय में प्रणय के चिह्न तथा मरण में सुन्दरता को स्पष्ट देखने और विश्व को दिखानेवाले एक मात्र महान् कवि आप ही हैं।

कालिदास, विद्यापति और कीट्स तीनों एक ही श्रेणी के कवि हैं। तीनों के लिये *"A thing of beauty is a joy for ever."* इतना ही नहीं उन तीनों के लिये सौन्दर्य्य में ही चिरन्तन सत्य है। सौन्दर्य्य के वे तीनों अनन्य उपासक हैं; सौन्दर्य्य में ही वे प्रेम का निवास देखते हैं और प्रेम में ही वे मुक्ति का द्वार पाते हैं। इन कवियों की कविताओं में चित्ता-कर्षक-सरलता, मन-मोहक-माधुर्य्य एवं सौन्दर्य्य की चरम अभिव्यक्ति है। उक्त महाकवियों ने सौन्दर्य्य मन्दिर में प्रवेश कर प्रेम की पूजा की है और उस भावावेश के कारण उन तीनों की कविताओं में थोड़ी-बहुत कामुकता (*Sensuousness*) की मात्रा अवश्य मिलती है जिसे कोई भी समालोचक अस्वीकार नहीं कर सकता।

इन कवियों के सौन्दर्य्य का अनुसन्धान वाह्य जगत् तक ही सीमित नहीं था। इसमें सन्देह नहीं कि उसका श्री गणेश तो होता है वाह्य जगत् से ही, जैसा स्वाभाविक भी है, परन्तु अनुसन्धान के अनुक्रम में वे तीनों वहिर्जगत् की सीमा को पार कर अन्तर्जगत् में प्रवेश करते हैं; एवं वहाँ के अलौकिक सौन्दर्य्य के सुन्दर दृश्य की झाँकी दिखाते हैं। महामहोपा-ध्याय स्वर्गीय हरप्रसाद शास्त्री ने विद्यापति की सौन्दर्य्यो-

पासना के विषय में जो भाव व्यक्त किया है वह कालिदास और कीट्स के लिये भी उसी प्रकार चरितार्थ है। उन्होंने लिखा है–"विद्यापति वहिर्जगते हउक आर अन्तर्जगते हउक सुन्दर-सुन्दर जिनिस बाछिया लइया साजाइबार समय सेगुलिके सुन्दरतर सुन्दरतम करिया तुलियाछेन।" [कीर्तिलता-भूमिका]

यद्यपि कालिदास, कीट्स और विद्यापति की सौन्दर्योपासना का क्रम एक है परन्तु उनके आधार भिन्न हैं। यदि कालिदास की कविता का आधार धार्मिक ग्रन्थ पुराण है तो कीट्स की रचना की नीव ग्रीक साहित्य है। किन्तु विद्यापति की कविता की भित्ति अपना समाज ही है। उनके राधा-कृष्ण, पुराणादिक के राधा-कृष्ण नहीं वरन् एक अभिनव ही सृष्ट हैं। वे समाज के साधारण नर-नारी के प्रतीक ही प्रतीत होते हैं।

यद्यपि विद्यापति की कविता का आधार अपना देश तथा अपना सामाजिक जीवन है, परन्तु वह तो सार्वभौम एवं सार्वजनीन भावों को व्यक्त करने के निमित्तमात्र जँचते हैं। और विश्व-कवियों की तरह इनके भाव भी प्रारम्भ में एकदेशिक ही रहे। किसी महाकवि की आत्मा भाव-समुद्र में डूबकर जैसे-जैसे आगे बढ़ती है अन्तस्तल की अलौकिक स्फूर्ति से कवि को अपना अस्तित्व भूल जाता है और कवि की आत्मा विश्वात्मा में परिवर्तित हो जाती है। वह भाव केवल कवि की आत्मा की चीज न रहकर विश्वात्मा की चीज बन जाता है। यही बात विद्यापति के लिये भी लागू

है। परन्तु विद्यापति के भावों का यह (*Particular to general transition*) एकदेशिक से सार्वभौम परिवर्तन जितना सहज और अदृश्य है उतना प्रायः कम ही विश्व कवियों के भाव प्रतिपादन में मिलता है। विश्व कवियों के भावों के विकास के विषय में रौबर्ट लोवेल (*Robert Lowell*) का जो निम्न लिखित सिद्धान्त है वह विद्यापति की पदावली में अक्षरशः चरितार्थ दीखता है—

"All great poetry must smack of the soil, for it must be rooted in it, must suck life and substance from it, but it must do so with the aspiring instinct of the pine that climbs for ever toward diviner air, and not in the grovelling fashion of the potato."

विद्यापति मिथिला के जातीय कवि थे, केवल इतना कहना उनके गौरव को कम करना है। इसमें सन्देह नहीं कि मिथिला की मिट्टी और पानी ने उनके जीवन और उनके जीवन की अभिव्यक्ति रूप कविता को अनुप्राणित किया है। मिथिला वैदिक काल से ही कर्मभूमि रही है; मिथिला ही कर्मयोगकी उच्चतम शिक्षा का विद्यापीठ थी, आदर्श कर्मयोगी जीवन-मुक्त जनक की लीलाभूमि मिथिला ही रही है, इसलिये इस कर्मभूमि के अन्न-जल से प्रतिपालित विद्यापति ने अपनी जन्मभूमि की पावन विशेषता अपनी कविता में मढ़ रक्खी है अवश्य, परन्तु वास्तव में विद्यापति का अपना समाज, विश्व के मानव-समाज में प्रवेश करने का एक साधनमात्र है। वे 'युक्ताहार

'विहारस्य' के पक्के अनुयायी थे इसलिये उनके राधा-कृष्ण इसी आदर्श में ढले हुए प्रतीत होते हैं। यथार्थ में विद्यापति के राधा-कृष्ण एक अपने समाज के ही प्रतिरूप नहीं, प्रत्युत समस्त मानव-समाज उनमें मूर्त प्रतीत होता है।

विद्यापति की भावुकता, प्रखर प्रतिभा, प्रचुर पाण्डित्य तथा नव-नव भावोन्मेष की शक्ति को देखकर यह दुःख के साथ कहना पड़ता है कि जहाँ मिथिला-भाषा-भाषी-समाज अपने इस जातीय महाकवि की दण्डनीय अवज्ञा कर रहा है वहाँ विहारी भी उनका जो आदर करना चाहिये नहीं कर रहे हैं। हम विहार के साहित्यिकों से पूछना चाहते हैं कि क्या बङ्गाली साहित्यिकों के जैसे विद्यापति का नाममात्र हमें भावावेश में विह्वल वना देता है? क्या विद्यापति के प्रति बंगालियों के भावुक-भावोल्लास का एक कण भी हम विहारियों में अभी तक आ सका है? खास कर जब कि विद्यापति की कविता को हिन्दी कविता मानकर हिन्दी कवियों के साथ उनकी तुलनात्मक समालोचना की जाती है और अन्य प्रांत वाले इस विषय में गलतियाँ करते हैं तो हमारा केवल इतना ही कर्त्तव्य नहीं है कि हम उनकी गलतियों को साहित्य संसार के समक्ष रक्खें, विद्यापति के पदों का उचित मूल्य आँकें, वरन् यह भी कर्त्तव्य है कि हम उनके काव्यों को पाठ्यक्रम में यथास्थान सम्मिलित कर उनके अध्ययन को प्रोत्साहित करें और संसार को यह दिखला दें कि विश्वकवि के आसन पर आसीन होने वाला हमारे यहाँ भी एक कवि है और वे विद्यापति

ही हैं। किन्तु खेद है कि बिहार का तो पूछना ही नहीं, मिथिला स्वयं भी अपने इस जातीय महान् कवि के प्रति कुछ नहीं कर सकी है। जिस विद्यापति के अमर गान पाँच-छः सौ वर्ष बीतने पर भी मिथिला के घर-घर में प्रचलित हैं, जिनके सुमधुर गीत विदेश्वर, कपिलेश्वर, कुशेश्वर, वैद्यनाथ, काशी-विश्वनाथ, मथुरा, वृन्दावन आदि तीर्थस्थानों में आज तक सुन पड़ते हैं, जिनके विश्व-विमोहक गान मैथिलों के घर में 'अरिपन' देने से लेकर मुण्डन, उपनयन, विवाह, द्विरागमन-कहाँ तक गिनाया जाय-थोड़े में इतना ही कहना पर्य्याप्त होगा कि सभी माङ्गलिक अवसरों पर सर्वदा सुन पड़ते हैं, उस महाकवि के गौरव बढ़ाने की तो बात ही छोड़िये, उनकी पदावली का एक भी विशुद्ध संस्करण, मैथिल समाज आज तक नहीं प्रकाशित कर सका है। सचमुच यह महान् लज्जा एवं निष्क्रियता का ज्वलन्त उदाहरण है। इस ग्लानि से मैथिलों को नत-मस्तक होना चाहिये। इसकी लज्जा एवं ग्लानि प्रत्येक मैथिली भाषा-भाषी, धनी-मानी, से लेकर गरीब-से-गरीब तक को होनी चाहिये।

अँगरेजों के शेक्सपियर सोसाइटी (*Shakespeare Society*) शेली सोसाइटी (*Shelley Society*) की तरह क्या हमलोग विद्यापति सोसाइटी नहीं स्थापित कर सकते? इङ्गलैण्ड के सर्वश्रेष्ठ जातीय कवि शेक्सपियर के पवित्र जन्मस्थान स्ट्रेटफोर्ड (*Stratford*) के समान क्या महाकवि विद्यापति

के जन्मस्थान विस्फी को हमलोग दर्शनीय तीर्थ में नहीं परिणत कर सकते हैं ? परन्तु मैथिली-भाषा-भाषी समाज में वह साहित्यिक उत्साह कहाँ ! वह गुण-ग्राहकता कहाँ !!

संसार में बहुत से ऐसे समाज हैं जिनमें कई महान् कवि हो गये हैं अथवा अभी भी जीवित हैं। फिर भी, उनकी रचनाओं के गान के विना उन समाजों के शुभ कार्य्य सम्पादित होते रहते हैं; परन्तु यह सौभाग्य विश्व भर के महान् कवियों में प्रायः एकमात्र विद्यापति ही को प्राप्त है कि उनके रचित पदों के गाये विना, उनके समाज का कोई भी मंगल-कार्य्य शुद्धता पूर्वक सम्पादित नहीं समझा जाता है। धन्य हैं विद्यापति जिन्होंने अपने व्यक्तित्व को अपने समाज के अणु-अणु में विलीन कर दिया है। ठीक है, तभी तो आपकी आत्मा विशाल हो गई और आपकी आत्मा की अभिव्यक्ति (कविता) विश्व की सामग्री वन गई है। आपके लिये अँग्रेजी की—'*He alone is truely international who is most intensely national*' उक्ति सोलहो आने सही है।

महाकवि विद्यापति की कविता में आत्मा का अंश कम और अनाचार एवं अश्लीलता का आधिक्य देखनेवाले समालोचकों से हम यह अन्तिम निवेदन कर देना चाहते हैं कि उनकी कविता में जहाँ तक हम वाह्य सौन्दर्य्य का अंश पाते हैं वह तो केवल काया है, ऊपर का छिलका है। उसकी आत्मा तो नैसर्गिक सुन्दरता है जो प्रत्यक्ष रूप से अप्रत्यक्ष है स्थूल दृष्टि से सर्वथा ओझल है। ऊपर-ऊपर देखने से तो

महान्-से-महान् कलाकार की कृतियों में कुछ-न-कुछ विकृति, कुछ-न-कुछ भद्दापन, एवं अश्लीलता आदि दोष स्पष्ट देख पड़ते हैं—अजन्ता की मूर्ति को देखिये, श्री जगन्नाथजी के मन्दिर पर आलिखित चित्रों पर निगाह डालिये। परन्तु कौन ऐसा कलाकार होगा जो उन चित्रों की कला की सराहना किये बिना रह सकेगा? कलाकारों में महान् कलाकार ईश्वर की सृष्टि, संसार में भी, वाह्य अंश, शरीर-ही-शरीर, दिखलाई पड़ता है, सूक्ष्मरूप से निवास करनेवाली आत्मा की नैसर्गिक सुन्दरता नहीं दीख पड़ती है। जब हम वाह्याकर्षण से निवृत्त हो अन्तस्तल में प्रवेश करते हैं, सूक्ष्मरूप से किसी विषय की तह तक विवेचना में प्रवृत्त होते हैं तब हमलोगों की दृष्टि वाह्य सीमा को पार कर जाती है, अन्तर्जगत् के द्वार खुलते हैं और वहाँ सत्, चित्, आनन्द का या यों कहिये कि, सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् का दर्शन होता है।

इसी प्रकार जब हमलोग सूक्ष्म दृष्टि से विद्यापति की कविता का अध्ययन तथा अनुशीलन करेंगे तो हमें वाह्य-सौन्दर्य्य के गर्भ में छिपी हुई उस नैसर्गिक सुन्दरता की मन्दाकिनी का कल-कल शब्द सुनाई पड़ेगा जिस सुधा-स्रोत में अवगाहन कर हम सब पवित्र हो जायँगे। विद्यापति की कविता वाह्य और अन्तर्जगत्—ऐहिक और पारलौकिक जीवन में सुखद सामञ्जस्य स्थापित करने में अवश्य कृतकार्य्य हुई है इसे कोई भी सुधी समालोचक स्वीकार किये विना न रहेगा।

आदर्श के उच्च-शिखर से अवलोकन करनेवालों के लिये

इतना ही संकेत पर्य्याप्त है। साधारण श्रेणी के पाठकों के लिये भी कुछ अधिक कहना व्यर्थ प्रतीत होता है। कोयल की काकली में जो अनन्त भाव हैं क्या कोई उनका विश्लेषण कर सकता है? उसी प्रकार मैथिल-कोकिल की अलौकिक स्वर-लहरी जितनी समालोचना का विषय नहीं, उतनी भावना का विषय है। कोकिल के 'कुहु'-'कुहु' में जो नव-नव भावोन्मेष की शक्ति है, उन्मादक मादकता है, आनन्दातिरेक के संचार से लौकिक को अलौकिक बना देने की क्षमता है वे सभी गुण कवि-कोकिल में भी विद्यमान हैं। परन्तु कोकिल की काकली जहाँ ऋतुराज के राज्य-काल ही तक प्रतिध्वनित होती रहती है वहाँ कवि-कोकिल ने अपनी कविता-काकली से शाश्वत् वसन्त को बसा डाला है। उनकी आवेगमयी मधुर भावोद्भाविनी रागिणी के प्रसंग में अँग्रेजी के कवि वर्डस्वर्थ (Wordsworth) के सुर-में-सुर मिला कर कहना पड़ता है कि—

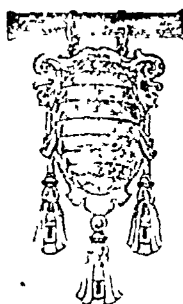
A Voice so thrilling never was heard,
In Spring time from the cuckoo bird.

विद्यापति की मर्मस्पर्शी भाव-प्रवणता, अनुभूति-व्यञ्जक एवं अनुराग मूलक भावोच्छ्वास की आन्तरिकता, मानवीय प्रेम की वह अलौकिक तल्लीनता, हृदय-तंत्री के मधुर झंकार की वह मर्म-स्पर्शिता, प्रमदा-प्रकृति के पर्य्यवेक्षण की वह विदग्धता तथा विशेष कर उनके उस महान् सन्देश की सर्वव्यापकता भारतवर्ष ही का कौन कहे, विश्व-साहित्य की अमर सामग्रियाँ हैं। उनकी ऐसी अलौकिक अनुपम पदावली उन्हें संसार के

एक महाकवि का आसन प्रदान करने के लिये पर्य्याप्त हैं। 'वैष्णव कविता' की प्रशंसा में, जिसमें विद्यापति की कविता शीर्षस्थान अधिकृत करती है, विश्वकवि श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जो गान गाया है अब केवल उसी का उल्लेख कर अपनी कृति को हम राधा-कृष्ण के पाद-पद्मों में अर्पण कर पाठकों से बिदा होते हैं—

शुधु वैकुण्ठेर तरे वैष्णवेर गान ?
पूर्व्वराग, अनुराग, मान? अभिमान,
अभिसार, प्रेमलीला, विरह, मिलन,
वृन्दाबन-गाथा, एइ प्रणय-स्वपन
श्रावणेर शर्व्वरीते कालिन्दीर कूले,
चारि चक्षे चेये देखा कदम्बेर मूले
सरमे सम्भ्रमे—ए कि शुधु देवतार ?
ए संगीत-रसधारा नहे मिटबार

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः



परिशिष्ट (क)

अंग्रेजी के उद्धरणों का हिन्दी भावानुवाद

पृष्ठ-९—इस रूपक को समझने के लिये नियमित रूप से यह मान लेना चाहिये कि राधा आत्मा का, दूती परमात्मा के पार्षद् या संयोजक का, और कृष्ण स्वयं ईश्वर का प्रतीक हैं।

पृष्ठ-१५—जब मैं सात वर्ष का बच्चा था तो स्वर्गीय जगद्बन्धु भद्र महाशय ने वैष्णव पदावली का प्रथम संग्रह प्रकाशित किया जिसमें विद्या-पति और चण्डीदास के पद सम्मिलित थे। उस समय में भी ये दोनों कवि मुझे ऐसे परिचित प्रतीत होते थे जैसे अपने सगे सम्बन्धी। इनकी स्वर्गीय कविताओं को पढ़ कर मैं आनन्द और प्रेम की आंसू सर्वदा बहाया करता था जिसकी गहराई अनुभव की चीज है, वर्णन करने की नहीं। संसार का कोई भी व्यक्ति, मेरे भाई, बहन या स्त्री भी मुझे उतना आनन्द नहीं दे सकी हैं जितना इन दोनों पद कर्त्ता कवियों ने दिया है।

पृष्ठ-१६—विद्यापति की सुन्दर पदावली भक्त हिन्दुओं के द्वारा उतनी ही कम कामुक भावना से पढ़ी जाती है जैसा कि सोलोमन की पदावली इसाई पुरोहितों के द्वारा।

पृष्ठ-२१—और, क्या पूर्वानुराग तथा स्त्री-पुरुष का विवाह-बंधन संसार से उठ गया है कि शृंगारिक कविताओं की इतिश्री हो जावे? और क्या मनुष्य सहसा इतना गंभीर जीव हो गया है कि उसके चेहरे पर से हँसी उठ जाय, बल पड़ना बन्द हो जाय? मनुष्यों का स्वभाव और जीवन जैसा पहले था वैसे ही अब भी है और आगे भी रहेगा।

पृष्ठ-३८—मिथिला में अपना अध्ययन समाप्त करके बंगाली विद्वान् सब केवल मस्तिष्क में संस्कृत की विद्या भर कर ही घर नहीं लौटते थे वरन् अपनी जिह्वा पर मैथिली गीतों को भी ले आते थे। वे गीत विद्यापति तथा उनके पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती कवियों के रचित होते थे।

पृष्ठ-६५—चण्डीदास को कविता की अनुभूति विद्यापति तथा

मिथिला के अन्यान्य कवियों से प्राप्त हुई थी।

पृष्ठ-५४—सर्वोत्तम कविता का यही कार्य है कि वह कल्पना को उत्तेजित करे न कि उसको सन्तुष्ट कर शिथिल बनादे।

पृष्ठ-८०—गाते हुए भी ऊपर उड़ते जाते हैं और उड़ने के साथ गाते भी जाते हैं।

पृष्ठ-८०—ऐहिक और पारलौकिक जीवन में सामञ्जस्य रखते हैं।

पृष्ठ-१५०—जब किसी एक व्यक्ति में भावुकता के साथ-साथ दर्शनिकता का मणि-काञ्चन संयोग होता है तभी कोई बड़ा कवि होता है।

पृष्ठ-२७८—अंततोगत्वा विद्यापति, कबीर, मीराबाइ, तुलसीदास और नानक केवल मैथिली, हिन्दी या पंजाबी के कवि नहीं हुए हैं—वरन् समस्त भारत के।

पृष्ठ-२८०—चूँकि कविता का उद्देश्य लोकोत्तर आनन्द प्रदान करना है इसलिये निर्विवाद रूप से यह सिद्धान्त किया जा सकता है कि जो कविता सबसे अधिक लोगों को सबसे अधिक आनन्द देने वाली होती है, वही सर्वश्रेष्ठ कविता है।

पृष्ठ-३३१—मैं अभी तक समुद्र के तट पर कंकड़ ही चुन रहा हूँ।

पृष्ठ-३३१—मुझे सब वस्तुओं में सौन्दर्य्य के सिद्धान्त से ही प्रेम रहा है।

पृष्ठ-३३२—सुन्दर वस्तु सदा ही आनन्द देने वाली है।

पृष्ठ-३३४—प्रत्येक महान् कविता में उस देश की विशेपता का रहना अनिवार्य्य है जिसमें वह उत्पन्न होती है क्योंकि उसमें वह जड़ पकड़ती है और उसीसे अपनी जीवनी-शक्ति भी प्राप्त करती है, किन्तु वह विशाल पाइन वृक्ष के समान स्वर्गीय वायु पाने के लिये जहाँ ऊँचीही उठती जाती है, वहाँ निकृष्ट कविता आलू की भाँति जमीन पर ही लतर कर रह जाती है।

पृष्ठ ३३७-जो कवि अत्यन्त जातीय हैं वे ही वास्तव में अन्तराष्ट्रीय हैं।

परिशिष्ट—(ख)

उन ग्रन्थकारों तथा ग्रन्थों के नाम जिनकी मदद इस ग्रन्थ के लिखने में ली गई है।

संस्कृत

वेदव्यास—श्रीमद्भागवत, ब्रह्मवैवर्तपुराण, पद्मपुराण, आदि-पुराण। नारद—भक्ति मीमांसा। कालिदास—रघुवंश, शाकुन्तल, मेघदूत। माघ—शिशुपालवधम्। श्रीहर्ष—नैषधीयचरितम्। भारवि–किरातार्जुनीयम्। अमरुक—अमरुशतक। गोवर्द्धनाचार्य्य-आर्य्यासप्तसती। जयदेव—गीतगोविन्द। जगन्नाथ—भामिनी विलास। मम्मट—काव्यप्रकाश। विश्वनाथ—साहित्यदर्पण।

बंगला

वैष्णवदास—पदकल्पतरु-(बंगीय परि० संस्करण)। राधामोहन ठाकुर—पदामृत समुद्र। कृष्णदास कविराज—चैतन्य चरितामृत। श्रीयुत नगेन्द्रनाथ गुप्त—विद्यापतिर पदावली (परि. और वसु. सं)। स्वर्गीय वसन्तरञ्जन राय, विद्वद्वल्लभ–चण्डीदासरे श्रीकृष्णकीर्त्तन। स्वर्गीय सतीशचन्द्रराय–अप्रकाशित पद-रत्नावली। स्वर्गीय नील रतन मुखोपाध्याय—चण्डीदासेर पदावली। श्रीयुत हरेकृष्ण मुखोपाध्याय, श्रीयुत सुनीति कुमार चटोपाध्याय—चण्डीदास पदावली। स्वर्गीय हरप्रसाद शास्त्री—कीर्तिलता। वसुमति संस्करण—ज्ञानदास। श्रीयुत सुशील कुमार चक्रवर्ती—वैष्णव साहित्य। राय बहादुर श्रीयुत दीनेशचन्द्र सेन—वंगभाषा ओ साहित्य। स्वर्गीय चित्तरञ्जन दास—लेख संग्रह (काव्येर कथा)। श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर—आधुनिक साहित्य, चयनिका आदि।

हिन्दी

श्रीयुत व्रज नन्दन सहाय—मैथिल कोकिल विद्यापति, प्रो० जनार्दन मिश्र—विद्यापति। श्रीयुत रामवृक्ष शर्मा 'बेनीपुरी'-विद्यापति की पदावली। म० सूरदास—सूरसागर। कबीरदास-साखी-संग्रह। गो० तुलसीदास—रामचरितमानस, बरवै रामायण। श्रीयुत मिश्रबन्धु—देव ग्रन्थावली, मिश्रबन्धु विनोद। स्वर्गीय जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'—बिहारी-रत्नाकर। स्वर्गीय पद्म सिंह शर्मा—बिहारीकी सतसई। श्रीयुत कृष्ण बिहारी मिश्र—देव और बिहारी, मतिराम ग्रन्थावली। स्वर्गीय लाला भगवानदीन—केशव कौमुदी, प्रिया-प्रकाश। प्रो० कृपानाथ मिश्र—कविता कौमुदी, सातवाँ भाग। श्रीयुत गुलाबराय—नव रस। विवेकानन्द—भक्तियोग (हि. पु. एजेन्सी)। कवि बोधा—इश्क नामा।

मैथिली

म० म० ज्योतिरीश्वर—वर्णन रत्नाकर। उमापति—पारिजात हरण नाटक। गोविन्ददास—पदावली। रामदास—आनन्द विजय नाटक। रमापति—रुक्मिणी परिणय नाटक। हर्षनाथ—ऊषा हरण नाटक।

अंग्रेजी

Shakespeare—*Poetical works.* **Wordsworth**-*Poetical works.* **Shelley**-*Poetical works.* **Keats**-*Poetical works.* **Byron**-*Poetical works.* **Mrs. Browning**—*Poetical works.* **Burns**-*Poetical works.* **Carlyle**—*Burns.* **A. C. Downer**-*The Odes of Keats.* **Hudson**—*An Introduction to the Study of Literature.* **Rickett**—*History of English Literature.* **R. C. Dutte**—*Bengali Literature.* **S. K. Chatterjee**—*Verna Ratnakar.* The golden book of Tagore.

श्री शिवाशिवार्पणमस्तु